सीढ़ियाँ

सामाजिक उपन्यास

सीढ़ियाँ

शशिप्रभा शास्त्री

महेन्द्र को

जो अब नहीं है।

पूरे चालीस दिन वुखार में तपते रहना मामूली वात तो नहीं है—मनीषी ने हल्के से सुकेत का हाथ अपने घुटने से हटा कर नीचे कर दिया, वड़े धीरे से चादर उढ़ा दी और पलंग से हट कर अपनी चारपाई पर आ गयी।

गज़व का ज़िद्दी लड़का है—आओ मेरे विस्तर पर आओ, मेरे पास आओ—जव तक अपने पास वुला नहीं लेता, चैन नहीं लेता—अव वच्चा तो नहीं है, सोलह-सत्रह वरस का इण्टरमीडियेट में पढ़ता हुआ लड़का वच्चा तो नहीं ही कहा जा सकता, लेकिन हरकतें-ज़िद्द सव कुछ अव भी वचकानी हैं, विल्कुल वैसी ही, जैसी आज से तीन साल पहले थीं। तीऽऽन साल—मनीषी के हृदय में कुछ ठक्क से वजा—तीन साल का अर्सा आज-कल करते यों ही वीत गया। कोई विश्वास करेगा, कि इतने लम्वे समय से वह इस घर से वरावर चले जाने की कशमकश में है—आज नहीं कल, कल नहीं परसों, वह चली ही जायेगी, यहां नहीं रहेगी। आख़िर क्यों रहे? यह घर कोई उसका तो नहीं है, सिर्फ़ किसी के कह देने भर से ही, कि तुम यहीं रहो, क्या उस घर में रहने लगा जा सकता है? या वह घर अपना हो जाता

है ? तीन साल के अर्से में वह आज तक न जाने क्या-क्या सोचती रही है, और आज तक वह नहीं जा सकी है। अब चली जायेगी; सुकेत का बुखार टूट ही गया है, सिर्फ़ कमज़ोरी रह गयी है—। पर टाइफ़ाइड बुख़ार की कमज़ोरी ! ! किसी ने भीतर से चेताया; इस बीमारी का आगे से पीछा भारी होता है।

तब, तब क्या वह फिर यहीं चिपकी रहे ? उसे चिपके रहना पड़ेगा : सुपर्णा दी के सामने ही चली जाती तो अच्छा रहता न ! पर उनके सामने जाना भी कितना मुश्किल था, कहाँ जाने देतीं थीं वे। मनीषी ने हाथ बढ़ा कर कोने वाली टेबिल पर रखे लैम्प का स्विच दबा दिया; कमरे में अन्धकार बिछ गया। आंखें मूंदने की कोशिश की तो सुपर्णा दी की आकृति उस अन्धकार में ही जैसे सम्पूर्ण कमरे में फैल गयी, आंखें मूंदे मूंदे ही वह सुपर्णा दी की उस उजलाती तस्वीर को देखने लगी—माथे पर चन्दन की छोटी-सी टिकुली, चारखाने वाली चौड़े पाड़ की साड़ी और मुस्कराती हुई मौन मुद्राएं—अस्पताल से लौटने के शायद तीसरे चौथे दिन ही उन्होंने उसे बुलाने के लिय सन्देश भेज दिया था।

सुपर्णा दी सिर्फ़ बारह दिन अस्पताल में रहीं और उसे अपने साथ बांध लायीं—दो व्यक्तियों के जुड़ने-टूटने के लिए कभी-कभी कितना छोटा-सा माध्यम कारण बन जाया करता है। सुपर्णा दी अस्पताल के दिवंगत सिविल सर्जन डाक्टर रामचरण द्विवेदी की पत्नी थीं, क्या उस समय यही ज़ान कर उसने उनका निरीक्षण-परीक्षण ठीक प्रकार किया था ? इसलिए नर्सों और दूसरी परिचारिकाओं से उनकी अच्छीं तरह देखभाल करने की ताकीद की थी ? यह ताकीद उसने अलबत्ता किसी अलक्षित सूत्र से बद्ध होकर की होगी, पर निरीक्षण तो हर मरीज़ की चिन्ता, उससे पूछताछ, उसके सुख-दुःख की जानकारी लेने का यत्न—यह प्रकृति तो उसकी अपनी है, पर सुपर्णा दी के साथ उसका विशेष लगाव तो आरम्भ से ही हो गया था। उसने स्वयं उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया था; खुद सुपर्णा दी ही मरीज़ होने और उससे उम्र में बड़ी होने के नाते शुरू से ही उससे न जाने क्या क्या कहती रही थीं।

पहले दिन वह उनके घर पहुंची थी तो उसे कितना संकोच हुआ था। गेट पर आकर भी वह थोड़ी देर यों ही खड़ी रही थी। गेट खोलकर भीतर

आयी थी, तो बरामदे के आगे आकर रुकी रही थी और तब कहीं उसने कॉल बैल के बटन पर उंगली रखी थी, सुकेत को उसने पहली बार उसी दिन देखा था—गेहुंए रंग के ऊंचे निकलते कद वाला बालक, गठी हुई देह, सफेद कमीज, सफ़ेद शार्ट, सफ़ेद फलीट और हाथ में हॉकी—स्मृति ने अंधेरे में अचानक एक उजास-सी बिखरा दी—उस क्षण एक ही दृष्टि में आँख में सब कुछ समा गया था, पूछा था, 'सुपर्णा दी हैं ?'

'मां।' सुकेत के ओंठ निमिष भर के लिए खुल कर बन्द हो गये थे, यों ही दौड़ता हुआ वह भीतर चला गया था। आइये! क्षण भर में ही आमन्त्रण के साथ ही सुपर्णा दी को पुकारती, मां-मां की आवाज गैलरी को गुंजाती हुई भीतर पहुंच गयी थी। आवाज सुनते ही सुपर्णा दी लपझप बाहर निकली थीं, बाहों में भर कर बोली थीं, 'चल, तू आयी तो सही, कितना इन्तज़ार करवाया तूने भी!' पीठ पर हाथ फेर कर अपने पास ही आंगन में पड़ी चारपाई पर बैठते हुए कहा था।

'सचमुच कितनी देर से तो मैं तेरी इतनी याद कर रही थी, कि बता नहीं सकती। चाहे तो सुकेत से पूछ ले।' और फिर पास खड़े सुकेत को सम्बोधित करते हुए कहा था, 'क्यों ठीक है न सुकेत।' सुकेत ने झेंपते हुए यों ही सिर हिला दिया था, जैसे सिर हिलाये बिना चलता न हो।

'किस कदर झेंपू है यह लड़का।' कहते हुए सुपर्णा दी ने परिचय कराया था 'देख, ये हैं तेरी मासी मां, जिनकी बात मैं हमेशा करती रहती हूं, यहां तेरे बाबूजी वाले कालीघाट के अस्पताल में बड़ी डाक्टर हैं, बहुत बड़ी। मेरा इलाज करके मुझे अच्छा किया था, नहीं तो अब तक तो मैं कभी की स्वर्ग पहुंच ली होती!' 'और सुन सर्नापी, यह है सुकेत!' सुकेत के सम्बन्ध में जैसे इससे कुछ अधिक कहना अपेक्षित ही न हो। सुपर्णा दी उठ कर चाय के लिए रसोई में कहने चली गयी थीं और वह पूरे घर को तकती चुपचाप बैठी रही थी—सुकेत उसके बाद कहां ठहरा था, हॉकीस्टिक लिए हुए तुरत बाहर निकल गया था, दरवाजे पर से उसने मां को पुकार कर बताया था, कि वह खेलने जा रहा है।

उसके बाद तो धीरे धीरे संकोच खुलने लगा था, सुपर्णा दी में यों भी इतने बड़े डाक्टर की पत्नी होने का दर्प-आडम्बर कुछ भी नहीं था।

अब तो डॉक्टर साहब थे ही नहीं, जब रहे होंगे सुपर्णा दी में उस समय भी कोई गुमान रहा होगा, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती थी। उनकी स्नेहिल विनम्र प्रकृति, नपी-तुली झुकी-झुकी, सधी-बंधी मुद्राएं, हाव-भाव—कुछ भी, ऊपरी तामझाम, आडम्बर और घमण्ड के अनुकूल था ही नहीं।

जब जब वह पहुंचती, वे उसे पकड़कर बैठ जातीं—आगे-पीछे की, घर-परिवार की, सम्बन्धियों, कुटम्ब-कबीले की ढेरों बातें सुनाने लगतीं—बातों में न कोई लाग-लपेट, न कोई छिपाव-दुराव, सिर्फ एक अपनत्व की भावना, सब कुछ उंडेल देने की एक अद्‌भुत ललक, जैसे एक लम्बे अर्से से विलग अपने किसी अन्तरंग मित्र के मिल जाने पर व्यक्ति अपना सब कुछ भूल जाये, बस खुलता चले, खुलता चले।

रात की ड्यूटी न होने पर किसी किसी दिन रात को भी इधर रह जाना पड़ता, फिर सुबह उठ कर बहुत जल्दी भागना होता—तो सुपर्णा दी फिर बुदबुदाती रहतीं, 'बोलो, मैं भी कैसी बुद्धिहीन हूं, रात को न रोकती तो इतने सवेरे रास्ता काहे को नापना पड़ता।'

'बस से जाऊंगी दी', कहने पर भी उन्हें सन्तोष कहां होता था, 'बस या गाड़ी किसी से जाओ, पर चैन तो नहीं मिला न!'

'तो फिर डॉक्टरों की ज़िंदगी तो ऐसी ही होती है दी।' सुपर्णा दी सुन कर भी कुछ न सुनतीं; उसकी नियमित यन्त्रवत् कठोर ड्यूटी पर वे कुढ़तीं, दुःखी होतीं और रात हो जाने पर, ड्यूटी न होने पर उसे फिर रोक लेतीं। सुपर्णा दी के सामने बहस करना बेकार था।

'मनीषी यह कमरा तेरा है, इसी में अपनी अटैची वग़ैरा चीज़ रख ले, यहीं अपने लेट-बैठ लिए, यहीं कपड़े बदल लिये।' एक नई निकोर छोटी-सी ड्रैसिंग टेबिल बाज़ार से मंगा कर सुपर्णा दी ने उसके कमरे में रखवा दी थी।

'मुझे कौन-सा यहां डेरा डालना है दी, बेकार एक कमरे का घिराव।' साड़ी की चुन्नटों को सहेजते हुए उसने एक दिन कहा था, तो उत्तर मिला था। 'इन्सान चार छह घंटे भी कहीं रहे, तो उसे एक अपनी अलग-सी जगह

चाहिये रहती है और फिर यहां तो जगह की कमी है भी नहीं। घर में आकर कोई रहने-वसने उठने-बैठने लगे तो घर में रौनक ही तो हो जायेगी।' शुरू-शुरू में सुपर्णा दी ने इस घर में रहने का प्रस्ताव खुल कर नहीं किया था। उन्हें डर था, एकदम प्रस्तावित किया गया तो शायद वह स्वीकार न करे। चिड़िया को धीरे-धीरे ही चुग्गा डाल कर फांसा जाता है।

तो सुपर्णा दी ने क्या उसे फांसा था? नहीं-नहीं, वह तो खुद इस घर की चीज़-वस्त और रहन-सहन की अभ्यस्त होती चली थी, कुछ देर के लिए ही सही, उसे यहां रहना अच्छा लगने लगा था; सुपर्णा दी उसे सचमुच प्यार करती थीं।

उन दिनों उसके दो घर थे—एक अस्पताल का क्वार्टर और एक सुपर्णा दी का घर। अस्पताल का क्वार्टर तो अव भी उसके पास है, पर वह घर कहां है? अधिक समय अस्पताल में रहने पर भी उसे उस क्वार्टर से ममत्व कहां हो पाया है। वैसे सुपर्णा दी ने भी उसे क्या कम उलझाया था—'सुन मनीषी, आज सुकेत ने अपने दो चार दोस्तों को वुला लिया है, अव यह छुटका तो तू समझती है, कुछ इतनी जानती-समझती नहीं। और मुझे, तू देख रही है, एकदम खाट पर धरी हूं। अव बच्चे आ गये हैं तो सोचती हूं, ठीक तरह से खा पीकर ही जायें। कव-कव आते हैं वेचारे।'

कभी कहतीं—'अव फ़र्नीचर पर पॉलिश करने के लिये यह आदमी आ ही गया है तो क्यों इसे वापिस भेजा जाये। तू रह जायेगी तो देखभाल लेगी।'

कभी दूसरी ओर संकेत करते हुए कहतीं—

'ये दो चार व्लाउज़ हैं, सव ढीले हो गये हैं, वस एक-एक खौंप भरने की ज़रूरत है।'

सुन-सुन कर वह मुस्कराती, फिर ठहाका लगाती, कहती, 'दी, मुझे छुट्टी है यह सव करने की? मेरे सिर पर हमेशा ड्यूटी सवार रहती है। पांच-छह वजे के वाद कभी आध एक घंटे के लिये आ सकी तो आऊंगी, हुं! पर वह भी निश्चित नहीं है, अगर कोई ऐसा वैसा केस आ गया तो···।' वाक्य पूरा करने की उसमें हिम्मत और इच्छा चुक-सी जाती। जानती थी, आना मुश्किल है, पर कभी भी समय देख कर घर का

एक चक्कर ज़रूर लगाती। बेहद थकी होने पर भी जो कुछ मोटे काम कर पाती, करती रहती, करके ही जाती थी।

'भाभी मां को इतना तंग करती रहती हो तुम मां। बेकार के काम।' सुकेत संकोच खुलने पर कह उठता था।

सुपर्णा दी झुंझलातीं, 'मेरे काम बेकार के हैं और तेरे? तू जो रात दिन कुछ न कुछ काम बताता रहता है!'

सुकेत उन दिनों उससे काफ़ी खुल गया था। पहले दिनों की हिचक, स्कूल से लौट कर भी घर में उसके होने तक अपने कमरे में बिना बताये चुपचाप बैठे रहने का क्रम धीरे-धीरे समाप्त हो गया था। सुकेत उन दिनों उसे अपने काम ही नहीं बताता था, सताने भी लगा था, 'यह कमीज़ पहनने लायक है? तुम समझती हो तो ठीक है। मेरी तरफ़ से तो इसे कबाड़ी के फटे कपड़ों में डाल दो।'

'ओफ़्फ़ो, यह नई कमीज़। ऐसी कमीज़ों को कबाड़ी को दिया जाने लगेगा, तब तो उन लोगों की बन आयेगी, बस दो चार और ऐसे जन मिल जायें तो सब कबाड़ी अपना-अपना धन्धा छोड़ कर रैडीमेड कपड़ों की दुकानें ही खोल लें।'

उसकी बात सुन कर सुकेत खीजता, पर करता हमेशा अपने मन की ही था।

सुपर्णा दी ने तब खाट पूरी तरह पकड़ ली थी; अपने आप उठ-बैठ कर अपना काम भी नहीं निपटा पाती थीं। बस लेटे-लेटे ही निर्देश-परामर्श देती रहती थीं और फिर धीरे-धीरे वह भी समाप्त। सुकेत का पूरा दायित्व उन दिनों उसके ऊपर ही आ गया था—अंधेरे में एक-एक घटना तस्वीर बन-बन कर खड़ी होने लगी।

'सुकेत, आज मैं अस्पताल से नहीं लौटूंगी, तुम समय से खाना खा लेना और खेलने चले जाना। ठीक समय से लौट कर कुछ खाकर पढ़ने बैठ जाना, हुं!'

'हुं, जैसे आपने कह दिया और मैंने मान लिया। बाइ द वे, अस्पताल

से आपकी छुट्टी कितने बजे होगी ?' सुकेत मेज़ की पुस्तकों को व्यवस्थित करते हुए पूछता ।

'तुम समझते हो, अस्पताल से छुट्टी तुम्हारे स्कूल की तरह बंधे टाइम पर होती है ? बंधा टाइम होने पर भी वहां से खाली होने का कोई ठिकाना नहीं है, कभी कोई बहुत बेढब केस हो गया, तो फिर देर लग सकती है न !'

'पर वैसे तो तुम एक डेढ़ बजे तक अपना काम खत्म कर ही लेती हो ।'

'बताया न, अस्पताल के समय का कोई ठिकाना नहीं है ।'

'मैं कुछ नहीं जानता, दो ढाई बजे तक तुम बखूबी आ सकती हो । मैं खाना तभी खाऊँगा, जब तुम आ जाओगी ।'

'मैं कह रही हूं, आज लौटना मुश्किल है ।'

'पर क्यों, आखिर कोई बात भी हो ।'

'बात क्या है, रोज़-रोज़ आकर थक नहीं जाती हूं ?'

'बस इतनी-सी बात । तुम इतनी बड़ी डॉक्टर हो, कार नहीं ख़रीद सकतीं, टैक्सी में नहीं आ सकतीं ?' सुकेत मुंह फुला कर कहता, हाथ किताबें संगवाने में बराबर व्यस्त रहते । सुकेत के चेहरे पर गंभीरता, प्रौढ़ता और नाटकीयता की मिली-जुली सलें उसको गुदगुदा देतीं और फिर उसके लिये अस्पताल से लौट कर वापिस आने का काम एक दिन के लिये और बढ़ जाता ।

सुपर्णा दी की गिरती हुई हालत के कारण उन दिनों उसे छुट्टी लेनी पड़ी थी, एक विचित्र प्रकार की लाचारी—सुपर्णा दी आंखें नहीं खोल रही हैं और वह उसके पास कुर्सी डाले घण्टों बैठी है । सुकेत कमरे में झांकता और वह इशारे से ही कह देती, 'मैं अभी आयी । तुम इधर मत आओ, मां को डिस्टर्ब होगा ।' सुकेत उसकी प्रतीक्षा में कभी दरवाज़े पर ही खड़ा रहता, कभी अपने कमरे में जाकर बैठ जाता, देर में पहुंचने पर मुंह फुला लेता ।

'तुम मां की इतनी चिन्ता करती हो; मेरी चिन्ता थोड़ी है तुम्हें !' मां से भी ईर्ष्यालु हो उठा था वह उन दिनों । सचमुच सुपर्णा दी की चिन्ता

एक चक्कर ज़रूर लगाती। बेहद थकी होने पर भी जो कुछ मोटे काम कर पाती, करती रहती, करके ही जाती थी।

'माशी मां को इतना तंग करती रहती हो तुम मां। बेकार के काम।' सुकेत संकोच खुलने पर कह उठता था।

सुपर्णा दी झुंझलातीं, 'मेरे काम बेकार के हैं और तेरे? तू जो रात दिन कुछ न कुछ काम बताता रहता है!'

सुकेत उन दिनों उससे काफ़ी खुल गया था। पहले दिनों की हिचक, स्कूल से लौट कर भी घर में उसके होने तक अपने कमरे में बिना बताये चुपचाप बैठे रहने का क्रम धीरे-धीरे समाप्त हो गया था। सुकेत उन दिनों उसे अपने काम ही नहीं बताता था, सताने भी लगा था, 'यह कमीज़ पहनने लायक है? तुम समझती हो तो ठीक है। मेरी तरफ़ से तो इसे कबाड़ी के फटे कपड़ों में डाल दो।'

'ओफ़्फ़ो, यह नई कमीज़। ऐसी कमीज़ों को कबाड़ी को दिया जाने लगेगा, तब तो उन लोगों की बन आयेगी; बस दो चार और ऐसे जन मिल जायें तो सब कबाड़ी अपना-अपना धन्धा छोड़ कर रैडीमेड कपड़ों की दुकानें ही खोल लें।'

उसकी बात सुन कर सुकेत खीजता, पर करता हमेशा अपने मन की ही था।

सुपर्णा दी ने तब खाट पूरी तरह पकड़ ली थी; अपने आप उठ-बैठ कर अपना काम भी नहीं निपटा पाती थीं। बस लेटे-लेटे ही निर्देश-परामर्श देती रहती थीं और फिर धीरे-धीरे वह भी समाप्त। सुकेत का पूरा दायित्व उन दिनों उसके ऊपर ही आ गया था—अंधेरे में एक-एक घटना तस्वीर बन-बन कर खड़ी होने लगी।

'सुकेत, आज मैं अस्पताल से नहीं लौटूंगी, तुम समय से खाना खा लेना और खेलने चले जाना। ठीक समय से लौट कर कुछ खाकर पढ़ने बैठ जाना, हुं!'

'हुं, जैसे आपने कह दिया और मैंने मान लिया। वाइ द वे, अस्पताल

से आपकी छुट्टी कितने बजे होगी ?' सुकेत मेज़ की पुस्तकों को व्यवस्थित करते हुए पूछता।

'तुम समझते हो, अस्पताल से छुट्टी तुम्हारे स्कूल की तरह बंधे टाइम पर होती है ? बंधा टाइम होने पर भी वहां से खाली होने का कोई ठिकाना नहीं है, कभी कोई बहुत बेढब केस हो गया, तो फिर देर लग सकती है न !'

'पर वैसे तो तुम एक डेढ़ बजे तक अपना काम खत्म कर ही लेती हो।'

'बताया न, अस्पताल के समय का कोई ठिकाना नहीं है।'

'मैं कुछ नहीं जानता, दो ढाई बजे तक तुम बखूबी आ सकती हो। मैं खाना तभी खाऊँगा, जब तुम आ जाओगी।'

'मैं कह रही हूं, आज लौटना मुश्किल है।'

'पर क्यों, आखिर कोई बात भी हो।'

'बात क्या है, रोज़-रोज़ आकर थक नहीं जाती हूं ?'

'बस इतनी-सी बात। तुम इतनी बड़ी डॉक्टर हो, कार नहीं खरीद सकतीं, टैक्सी में नहीं आ सकतीं ?' सुकेत मुंह फुला कर कहता, हाथ किताबें संगवाने में बराबर व्यस्त रहते। सुकेत के चेहरे पर गंभीरता, प्रौढ़ता और नाटकीयता की मिली-जुली सलें उसको गुदगुदा देतीं और फिर उसके लिये अस्पताल से लौट कर वापिस आने का काम एक दिन के लिये और बढ़ जाता।

सुपर्णा दी की गिरती हुई हालत के कारण उन दिनों उसे छुट्टी लेनी पड़ी थी, एक विचित्र प्रकार की लाचारी—सुपर्णा दी आंखें नहीं खोल रही हैं और वह उसके पास कुर्सी डाले घण्टों बैठी है। सुकेत कमरे में झांकता और वह इशारे से ही कह देती, 'मैं अभी आयी। तुम इधर मत आओ, मां को डिस्टर्ब होगा।' सुकेत उसकी प्रतीक्षा में कभी दरवाज़े पर ही खड़ा रहता, कभी अपने कमरे में जाकर बैठ जाता, देर में पहुंचने पर मुंह फुला लेता।

'तुम मां की इतनी चिन्ता करती हो, मेरी चिन्ता थोड़ी है तुम्हें !' मां से भी ईर्ष्यालु हो उठा था वह उन दिनों। सचमुच सुपर्णा दी की चिन्ता

उन दिनों उसे कितनी थी, आज याद करती है तो एक-एक चित्र आंखों के आगे उतरता चला आता है—समय पर टैम्प्रेचर लेना, पल-पल पर दूध, वार्लें वाटर, ग्लूकोज़ मुंह में डालना, दवा देना, पढ़ कर सुनाना—नर्स और डॉक्टर दोनों का काम। सुपर्णा दी अस्पताल में दाखिला ले लेतीं तो यह सब कुछ इतना कठिन न होता, पर वे अस्पताल में जाकर मरना नहीं चाहती थीं। सुकेत के पिता, बड़े डॉक्टर साहब का प्राणान्त घर में ही हुआ था तो वे दूर क्यों जाएं, ज़िन्दा। 'मैं उनके साथ पूरे समय नहीं रह सकी तो कम से कम उसी जगह प्राण तो छोड़ ही सकती हूं'—सुपर्णा दी ने आखिरी दिनों में अपनी खाट डॉक्टर साहब वाले कमरे में ही डलवा ली थी।

सुकेत का दायित्व उसके ऊपर सौंपने के लिये ही सुपर्णा दी ने आखिरी दिन आंखें खोली थीं...शान्त प्रकृतिस्थ दृष्टि, याचनामय ललकयुक्त मृदु स्वर—'मनीषी, सुकेत तेरे ही ऊपर है, मुझे और किसी पर विश्वास नहीं है। वचन दे, तू सुकेत को कभी-कभी नहीं छोड़ेगी !' सुपर्णा दी ने कहा था तो बवलते हुए आंसुओं को किसी प्रकार आंखों में ही नियन्त्रित करते हुए उसने सुपर्णा दी का हाथ अपने हाथ में ले लिया था, 'नहीं, ऐसे नहीं; मुंह से बोल !' सुपर्णा दी का अटकता भराया स्वर—शायद उतनी ही देर में भीतर ही भीतर वे भी भीग उठी थीं—

'तुम अच्छी हो जाओगी दी, इतना मन छोटा क्यों करती हो ? खुद संभल कर उसने समझाने का यत्न किया था।

'मैं अच्छी हो जाऊं, तब भी सुकेत की जिम्मेदारी तुम पर ही है। अच्छी हो जाऊंगी, तब भी शक्ति तो आने से रही।' सुपर्णा दी उसके बहलाने की बात को सचमुच बहलाना ही समझ रही थीं।

सुपर्णा दी को उस दिन वचन देकर ही वह उन्हें मृत्यु से पूर्व की व्यथा से मुक्त कर सकी थी।

सुपर्णा दी को गये अब छह महीने के लगभग हो गये हैं। उनके सामने डेढ़ साल वह इस घर में आती जाती रही है। उस डेढ़ साल के मध्यान्तर में कितना कुछ घटा था—ढेरों छोटी-मोटी घटनाएं, विविध प्रकार की मिली-

जुली संवेदनाएं—पर इन सब में उलझ कर भी वह स्वयं को असम्पृक्त ही मानती रही थी; उसे एक दिन इस घर से चले जाना है, अस्पताल वाले क्वार्टर में जाकर रहना-बसना है, क्यों वह अपने को वद्ध अनुभव करे? सुपर्णा दी को वचन दिया है; पर वचन का पालन तो वह दूर रह कर भी कर सकती है; सुकेत की पूरी ज़िम्मेदारी उस पर है, वह ऐसी कृतघ्न, भावशून्य नहीं, कि सुपर्णा दी के जाते ही अपने वचन से फिर जाये। पर इस घर में हमेशा रहने की बात; नहीं-नहीं, इतना तो उसने कभी नहीं सोचा। हां, पिछले छह महीनों से वह अपने को जितना वद्ध-विवश अनुभव करती रही है, ऐसा उसने सुपर्णा दी के सामने घर की पूरी ज़िम्मेदारी निभाते हुए भी कभी नहीं किया था। उनके होते वह जो कुछ भी काम करती, उसे केवल करने के नाते ही कर देती, यों ही। तब कहां मालूम था, कि सुकेत को संभालना, उसकी चिन्ता करना इतना मुश्किल है। अब तो सुकेत उसे छोटे बच्चे की तरह ता-थैया का नाच नचाये रहता है—दूध जरा ज्यादा गर्म हो गया तो चीखेगा, 'इस आग को कौन पी सकता है? दूध पिलाना चाहती हो और अभी तक यह भी नहीं मालूम, कि किस तरह का दूध पिया जा सकता है।' ठण्डा दूध हुआ तो वैसे चिल्लायेगा—

'इतना ठण्डा दूध है, सुबह-सुबह फ्रिज में रखा हुआ दूध मैं नहीं पी सकता।' मन में कभी कभी झुंझलाहट छूटती है। क्यों सहती है वह इतना कुछ? बालकों के इतने ठठकरमों से उसका पाला कभी पड़ा ही क्या था। स्कूल कॉलेज जाते हुए मां आगे आगे दौड़ कर खाना परसती, धरती रहीं, मां नहीं रहीं तो हॉस्टिल था—आया, नौकरानी, मैस के ढेरों नौकर चाकर—इस तरह पाबन्दी से किसी को खिलाने-पिलाने, देने लेने, धरने उठाने का मौक़ा ही कहां आया था, और अब तो टाइफ़ाइड के बुखार में चालीस दिन से जनाब खाट पर ही पड़े हैं—तुनक भरे स्वर में सोचते हुए भी कहीं भीतर से कुछ बेतरह कांप गयी, सुपर्णा दी की बीमार आकृति आंखों के सामने आकर टिक गयी, न-न-न! बड़ी कठिनाई से उसे सूंत कर वह उठ खड़ी हुई।

इतनी देर सोई कहां थी, मस्तिष्क बराबर ही मथता रहा था। सुकेत के पास आकर माथे पर हाथ रखा, तो ठण्डा हिवार। बुखार उतर गया है, पर

उन दिनों उसे कितनी थी, आज याद करती है तो एक-एक चित्र आंखों के आगे उतरता चला आता है—समय पर टैम्प्रेचर लेना, पल-पल पर दूध, बार्ले वाटर, ग्लूकोज़ मुंह में डालना, दवा देना, पढ़ कर सुनाना—नर्स और डॉक्टर दोनों का काम। सुपर्णा दी अस्पताल में दाखिला ले लेतीं तो यह सब कुछ इतना कठिन न होता, पर वे अस्पताल में जाकर मरना नहीं चाहती थीं। सुकेत के पिता, बड़े डॉक्टर साहब का प्राणान्त घर में ही हुआ था तो वे दूर क्यों जाएं, ज़िन्दा। 'मैं उनके साथ पूरे समय नहीं रह सकी तो कम से कम उसी जगह प्राण तो छोड़ ही सकती हूं'—सुपर्णा दी ने आखिरी दिनों में अपनी खाट डॉक्टर साहब वाले कमरे में ही डलवा ली थी।

सुकेत का दायित्व उसके ऊपर सौंपने के लिये ही सुपर्णा दी ने आखिरी दिन आंखें खोली थीं...शान्त प्रकृतिस्थ दृष्टि, याचनामय ललकयुक्त मृदु स्वर—'मनीषी, सुकेत तेरे ही ऊपर है, मुझे और किसी पर विश्वास नहीं है। वचन दे, तू सुकेत को कभी-कभी नहीं छोड़ेगी!' सुपर्णा दी ने कहा था तो बबलते हुए आंसुओं को किसी प्रकार आंखों में ही नियन्त्रित करते हुए उसने सुपर्णा दी का हाथ अपने हाथ में ले लिया था, 'नहीं, ऐसे नहीं; मुंह से बोल!' सुपर्णा दी का अटकता भर्राया स्वर—शायद उतनी ही देर में भीतर ही भीतर वे भी भीग उठी थीं—

'तुम अच्छी हो जाओगी दी, इतना मन छोटा क्यों करती हो? खुद संभल कर उसने समझाने का यत्न किया था।

'मैं अच्छी हो जाऊं, तब भी सुकेत की जिम्मेदारी तुम पर ही है। अच्छी हो जाऊंगी, तब भी शक्ति तो आने से रही।' सुपर्णा दी उसके बहलाने की बात को सचमुच बहलाना ही समझ रही थीं।

सुपर्णा दी को उस दिन वचन देकर ही वह उन्हें मृत्यु से पूर्व की व्यथा से मुक्त कर सकी थी।

सुपर्णा दी को गये अब छह महीने के लगभग हो गये हैं। उनके सामने डेढ़ साल वह इस घर में आती जाती रही है। उस डेढ़ साल के मध्यान्तर में कितना कुछ घटा था—ढेरों छोटी-मोटी घटनाएं, विविध प्रकार की मिली-

जुली संवेदनाएं—पर इन सब में उलझ कर भी वह स्वयं को असम्पृक्त ही मानती रही थी; उसे एक दिन इस घर से चले जाना है, अस्पताल वाले क्वार्टर में जाकर रहना-वसना है, क्यों वह अपने को बद्ध अनुभव करे? सुपर्णा दी को वचन दिया है; पर वचन का पालन तो वह दूर रह कर भी कर सकती है; सुकेत की पूरी ज़िम्मेदारी उस पर है, वह ऐसी कृतघ्न, भावशून्य नहीं, कि सुपर्णा दी के जाते ही अपने वचन से फिर जाये। पर इस घर में हमेशा रहने की वात; नहीं-नहीं, इतना तो उसने कभी नहीं सोचा। हां, पिछले छह महीनों से वह अपने को जितना वद्ध-विवश अनुभव करती रही है, ऐसा उसने सुपर्णा दी के सामने घर की पूरी ज़िम्मेदारी निभाते हुए भी कभी नहीं किया था। उनके होते वह जो कुछ भी काम करती, उसे केवल करने के नाते ही कर देती, योंही। तव कहां मालूम था, कि सुकेत को संभालना, उसकी चिन्ता करना इतना मुश्किल है। अव तो सुकेत उसे छोटे वच्चे की तरह ता-थैया का नाच नचाये रहता है—दूध जरा ज्यादा गर्म हो गया तो चीखेगा, 'इस आग को कौन पी सकता है? दूध पिलाना चाहती हो और अभी तक यह भी नहीं मालूम, कि किस तरह का दूध पिया जा सकता है।' ठण्डा दूध हुआ तो वैसे चिल्लायेगा—

'इतना ठण्डा दूध है, सुवह-सुवह फ्रिज में रखा हुआ दूध मैं नहीं पी सकता।' मन में कभी कभी झुंझलाहट छूटती है। क्यों सहती है वह इतना कुछ? वालकों के इतने ठठकरमों से उसका पाला कभी पड़ा ही क्या था। स्कूल कॉलेज जाते हुए मां आगे आगे दौड़ कर खाना परसती, धरती रहीं, मां नहीं रहीं तो हॉस्टिल था—आया, नौकरानी, मैस के ढेरों नौकर चाकर—इस तरह पावन्दी से किसी को खिलाने-पिलाने, देने लेने, धरने उठाने का मौक़ा ही कहां आया था, और अव तो टाइफ़ाइड के वुखार में चालीस दिन से जनाव खाट पर ही पड़े हैं—तुनक भरे स्वर में सोचते हुए भी कहीं भीतर से कुछ वेतरह कांप गयी, सुपर्णा दी की वीमार आकृति आंखों के सामने आकर टिक गयी, न-न-न! वड़ी कठिनाई से उसे सूंत कर वह उठ खड़ी हुई।

इतनी देर सोई कहां थी, मस्तिष्क वरावर ही मथता रहा था। सुकेत के पास आकर माथे पर हाथ रखा, तो ठण्डा हिवार। वुखार उतर गया है, पर

हालत हर पल तोला माशा होती रहती है। नहीं, ऐसी हालत में तो वह पूरी तरह घर छोड़ने की बात सोच ही नहीं सकती ! यही क्या कम है, कि वह किसी तरह जा जाकर अपनी ड्यूटी निभा रही है। रात की ड्यूटी पड़ने पर तन अस्पताल में होता है, तो मन यहां। कुछ देर पलंग के पास पड़े स्टूल पर ही बैठी रही। दूर कहीं घड़ी ने टन टन करके तीन बजाये—बारह से तीन, पूरे चार घंटे। वह क्या ऊटपटांग सोचती रही है। दिमाग़ को इस तरह पचाने से लाभ ! सुबह उठकर फिर ड्यूटी पर पहुंचना है, घर में मरीज़ के सत्तर काम, उसके बाद अस्पताल, दिनभर की भागदौड़—उसे अब कुछ देर सो लेना चाहिए। अपनी चारपाई पर जाकर फिर सोने का यत्न करने लगी तो मस्तिष्क में सब कुछ रिंगने लगा, रिंगता रहा कि सो कर उठने के बाद कामों को वह किस-किस क्रम से कब-कब करेगी ? सुकेत को क्या पथ्य देगी; कपड़े कौन से बदलवायेगी—

सुबह आंख खुली तो हड़बड़ाकर उठ बैठी। इतना प्रकाश ! क्या बज गया ? घड़ी पर दृष्टि डाली—साढ़े छह। आठ बजे उसे अस्पताल पहुंच जाना है, फिर वही अस्पताल! क्या करूं ? छोड़ दूं ? क्या भूत सवार रहता है अस्पताल का भी। बेचारे सुकेत को भी ढंग से नहीं देख पाती। सुकेत पर दृष्टि गई, वह अब भी बेख़बर पड़ा सो रहा था। लम्बी बीमारी भुगतने के बाद मरीज़ कितना कमज़ोर हो जाता है। इतनी गहरी नींद के जरिये शक्ति संजोने की व्यवस्था शायद प्रकृति खुद कर देती है। फिर भी कितनी देखभाल की ज़रूरत है ! कब सोचा था डॉक्टर बनकर भी उसे किसी मरीज़ की तीमारदारी नर्स से भी ज़्यादा लगन और श्रम से करनी होगी। मन में कहीं सन्तोष हुआ, सुपर्णा दी को दिये गये वचन को किसी अंश में वह निभा ही रही है। सुकेत को जगा दूं ? कार्निस पर रखी टाइमपीस पर नज़र डालते हुए उसने सोचा—

नहीं नहीं, अभी सोने ही दूं, मरीज़ को सोते से जगाना ठीक नहीं। पहले खुद तैयार हो लूं।

दबे पांव उठ कर वह बाहर आ गयी। कमरे की पिछली तरफ़ लॉन था—

किनारे किनारे रात की ओस पिये फूल—डेलिया, जिरेनियम, ट्यूलिप और अनेक प्रकार के कैक्टस। वरामदे में चलते चलते वीच में वने वैड-मिन्टन कोर्ट पर नज़र गयी: कितने दिन से उजाड़ पड़ा है, कोई खेलने वाला नहीं। पिछले दिनों जव कभी जाती थी, तो सुकेत के साथ ज़रूर खेलना पड़ता था—

'माशी, कम ऑन, योर गेम, लाइट एण्ड ब्रिस्क एज़ यू से!' आमन्त्रण के साथ ही सुकेत धीरे से जोड़ देता। उसके स्वर में आदेश और निवेदन दोनों गुंथे रहते थे। मां से माशी में उसे यही वात अच्छी लगती। माशी से जो चाहे, जव चाहे करवा लो; मां से अपनी वात मनवाने में हमेशा देर लगती है। एक दिन सुकेत ने कहा भी था। उस समय ये सव वातें इतनी मनोरंजक कहां लगती थीं।

वाथरूम से निकल कर मनीषी भीतर के आंगन में चली आयी, अरगनी पर साड़ी सुखाते हुए देखा, आंगन के कोने में वने तुलसी के थाले में छुटका मां जल चढ़ा रही थी। छुटका मां के जल से ही यह वड़ा हुआ है, लहलहाया है; छुटका मां की समस्त कामनाएं इस बिरवे के साथ गुंथी हुई हैं। क्या कामनाएं होंगी छुटका मां की? सुपर्णा दी वताती थीं, छुटका मां का अब अपना दूर-पास का कोई नहीं है। पर छुटका मां जव संध्या को तुलसी के चौरे पर दिया वालने के वाद चुपचाप सुकेत के कमरे में आकर उसके सिरहाने खड़ी हो जाती है, तो लगता है छुटका के लिये न जाने कितना कुछ है, जो वह तुलसी से मांग सकती है।

शुरू शुरू में छुटका को देखकर उसे अपनी वड़ी ताई याद आती रहती थीं, जिनके पास जितना कुछ देने-वांटने को था, उतना ही लेने-मांगने को।

साड़ी सुखा कर रसोई में आकर खड़ी हुई, तो 'छुटका मां प्रणाम' कह कर उसने चाहा, वह उनसे पानी गरम रखने के लिये [illegible] छुटक मां की सजगता शायद उससे भी अधिक थी।

'जीती रहो बिटिया, भइया के लिये गरम पानी तय[illegible]

छुटका मां ने उसके कहने से पहले ही प्रस्तावि[illegible]

छुटका मां भी मेरी व्यस्तता-विवशता समझती हैं उसने सोचा, और गरम पानी का जग उठा कर सुकेत के कमरे में चली आयी।

'छुटका मां को मैं शाहजहांपुर से अपने साथ लायी हूं। पहले डॉक्टर साहब उधर ही थे।' सुपर्णा दी के साथ संवाद के शब्द मस्तिष्क में फिर टकराने लगे। पानी एक ओर रख कर हाथ कमरे की व्यवस्था में व्यस्त हो गए, तो मन फिर पीछे दौड़ने लगा।

'दी, आप तो बिल्कुल नहीं लगतीं कि कलकत्ते से बाहर से आयी हैं। कम से कम आपका पहरावा-उढ़ावा, बोली-बानी देख-सुन कर कोई नहीं कह सकता!'

डॉक्टर साहब को देख कर भी कोई नहीं समझ सकता था। नई जगह पर आकर उस जैसा बनना ही पड़ता है।'

'पर छुटका मां।'

'हां छुटका में कोई अन्तर नहीं आया है, इतने सालों बाद भी ज्यों की त्यों है, एकदम शाहजहांपुरी। इसे कहीं बाहर आने जाने का मौका भी तो नहीं मिलता। पहले छुटका की सास हमारे घर थी। परमात्मा ने इसकी कोख खाली रखी, तो सुनते हैं बुढ़िया बेटे को लेकर कहीं चली गयी, तब से यह यहीं है। डॉक्टर साहब की मां ने इसे कहीं नहीं जाने दिया। मैं तो इसे शुरू से देख रही हूं। हमारी सास ने सुकेत को बचपन से इसे छुटका मां कहना ही सिखलाया है, जिससे ये कुछ सोचे न।'

छुटका मां का प्रकरण नये सिरे से आरम्भ होकर समाप्त हुआ तो सुपर्णा दी सुकेत के बारे में बताने लगी थीं, 'बिल्कुल अपने पिता पर गया है। बोलता भी उसी तरह है, बाहर बंगाली, घर में देशी ठेठ पछांह की बोली। तीन बच्चों में बस यही बचा है, घर में आखिरी सन्तान, इसीलिये लड़िया गया है।' सुकेत ने आंखें खोल दीं तो सुपर्णा दी के शब्द चुप हो गये।

'कैसा जी है सुकेत?' मेज़ पर रखी शीशियों की व्यवस्था को छोड़ वह पास आ कर खड़ी हो गयी।

सुकेत चुपचाप देखता रहा।

'मुंह धोने के लिए पानी लायी हूं, उसके बाद टैम्प्रेचर, फिर दूध और

फिर दवा। कमज़ोरी जल्दी ही दूर करनी है न, पानी का जग स्टूल पर टिका मनीषी ने सुकेत को छोटे बच्चे की तरह थपथपाया। सुकेत आंखें फाड़े देखता रहा फिर करवट लेकर बोला, 'क्या करूंगा मुंह धोकर, मैं मुंह नहीं धोऊंगा।'

'कहा न दूध लेना है, दवा पीनी है। क्या हुआ है सुकेत तुम्हें ? उठो, मुंह धुलवा लो !' सुकेत के बिस्तर के किनारे पर बैठ कर वह सुकेत की बांह पर हाथ फेरने लगी। फिर धीरे से सिर अपनी तरफ़ घुमाया—मरीज़ी कमज़ोर, उदास चेहरा।

'तुम्हारे पास से चली जाऊं ? क्या चाहते हो ?' बड़े हल्के से सुकेत का हाथ उठा कर मनीषी ने अपने ओंठों से लगा लिया, 'इस तरह ज़िद्द नहीं किया करते। अंगूर खाओगे न आज—मौसमी, सन्तरा, चीकू ?' उसे खुद पर हंसी आयी, सुकेत क्या इतना छोटा है, कि उसे इस तरह बहलाने-मनाने की ज़रूरत है। आदत से मजबूर ! सुपर्णा दी डपटती थीं, तब भी यों ही मनाने बैठ जाती थी—

'इतना सिर चढ़ायेगी तो तुझे ही भुगतना पड़ेगा।' सुपर्णा दी के शब्द ! क्या सुपर्णा दी सब कुछ पहले से ही जानती थीं—कुछ क्षण चुपचाप बैठ कर वह कमरे के चारों ओर देखने लगी—सुकेत का स्टडी रूम—यह तख्त जिस पर सुकेत इस समय लेटा है, सोने, बैठने, पढ़ने-लेटने सब के काम आता है। तख्त के पास ही सिरहाने मेज़, उस पर चुनी हुई कितावें, दूसरी ओर आलमारी, हैंगर में लटके हुए सुकेत के कपड़े आलमारी के पिल्लुओं की झिरी से दिख रहे थे। अरे यह आलमारी क्यों खुली है ? आलमारी बन्द करने के लिए उठी तो सुकेत की चप्पलों से पैर टकरा गया। चप्पलों को व्यवस्थित करते हुए देखने लगी, सुकेत के चप्पल इतने बड़े ! ! पूरे, जैसे किसी बड़े आदमी के हों।—तो सुकेत क्या अब बच्चा है—करवट लिए हुए सुकेत—केवल एक गाल दिखता हुआ—चेहरा कमज़ोर, खसखसे उभरे हुए ढेर सारे बालों से भरा हुआ। ओंठ से ऊपर नासिका [illegible]
चमकती एक तरफ़ की काली रेख, कुर्त्ते [illegible] कई तह की हुई [illegible]
झांकता बोझिल जवर-सा दिखता कमज़ [illegible] हाथ के ऊपर [illegible]
कुहनी तक के दिखते हुए हिस्से पर [illegible] कुर्त्ते की सल

वांह खोल कर उसने वांह को ढक दिया, मानवीय चेहरे के भोलेपन और अल्हड़ता ने उसे फिर घेर लिया। नहीं, सुकेत तो अभी छोटा ही है, एकदम नासमझ। सुपर्णा दी होतीं तो क्या सुकेत के वड़ेपन के सम्वन्ध में इतना कुछ सोचतीं।

'सुकेत !!' उसने धीरे से फिर आवाज़ दी, 'उठो देखो, इतनी-इतनी देर तुम एक-एक काम को लगाओगे तो मैं कैसे जा पाऊंगी।'

'आज तुम्हें नहीं जाना।' ओंठ थोड़े और कस गये।

'क्यों, आज मेरी छुट्टी तो नहीं है।'

'छुट्टी नहीं है, तो लाओ।' झटके से सुकेत उठकर वैठ गया और जैसे कभी वीमार ही न रहा हो, खींचकर स्टूल से पानी उठाया और तख्त के नीचे झुक कर दूसरे हाथ से चिलमची खिसकाने लगा।

'जाओ, तुम जाओ, अव यहां क्यों वैठी हो ? मैं तो अव विलकुल अच्छा हो गया हूं।' मनीषी का हृदय वुरी तरह घड़घड़ाने लगा—एकदम अप्रत्याशित यह क्या घटित हो गया ?

'अरे-अरे, यह क्या कर रहे हो ?' कहते हुए दो क्षण तक तो वह समझ ही नहीं पायी, वह क्या करे। फिर स्वयं को वड़ा मानती हुई हाथ से जग को छीनती हुई वोली 'पागल हो गये हो ! अभी इतने तन्दुरुस्त नहीं हो गये हो कि इतनी तनातनी करने लगो, आखिर ऐसा क्या हो गया ? कहोगे तो मैं नहीं जाऊंगी, पर उसके लिए इतनी तेज़ी की ज़रूरत क्या है। तुम जानते हो, इतनी झल्लाहट का शरीर पर अच्छा असर नहीं होता, वड़ी मुश्किल से तो वुखार कावू में आया है...।' मनीषी कुछ और भी कहती, पर सुकेत उसी समय इतना चुपचाप होकर लेट रहा, जैसे एक लम्वे अर्से से उसने कोई हलचल ही न की हो। मनीषी ने अपने शब्दों की इस प्रतिक्रिया की अपेक्षा नहीं की थी—सुकेत फिर वच्चा वन गया था, उसके ऊपर अवलम्वित, एकदम निरीह, आंखें छलछलायी हुई।

'छिः लड़के होकर रोते हो ! क्यों, मैं तुम्हारे पास नहीं हूं ?' मनीषी कहीं गहरे तक पिघल गयी। चिलमची खिसका कर सुकेत को उसने सहारे से उठा कर वैठा दिया। धीरे-धीरे पानी डाल कर उसे हाथ मुंह धोने

दिया, फिर उसे हल्के से तकिये पर लिटा थर्मामीटर से तापमान देखा, निन्यावे पोयन्ट···।

'अब दूध न ? दूध ले आऊं ?' थर्मामीटर को धो झाड़ कर केस में रखते हुए आश्वस्ति भाव से उसने पूछा।

'नहीं, छुटका मां ले आयेगी।' मनीषी खिलखिलाने को हुई; इस समय छुटका मां ले आयेगी, नहीं तो हर काम माशी मां के जिम्मे ! ठीक है न ?

'माशी मां ! !' एक बहुत पुराना सम्बोधन अचानक उसके मस्तिष्क से आ टकराया। सुपर्णा दी के सामने शुरू-शुरू में सुकेत उसे इसी तरह सम्बोधित करता था। 'माशी !' अब यह शब्द उसे कितना विचित्र लगने लगा है। छुटका से दूध मंगा कर सुकेत के ओंठों से लगाते हुए वह सोचने लगी।

'पी लिया न! शाबाश।' दूध का प्याला और दूसरे जूठे बर्तनों को हटा कर बाहर दरवाज़े के पास महरी के लिए रखने लगी, तो उसकी आंखों के आगे वह मामूली क्षण आकर टंग गया, जब इस माशी सम्बोधन को लेकर सुकेत और सुपर्णा दी में खूब खटपट हुई थी—वह रसोई में थी, सुपर्णा दी के लिए दूध में ओवल्टीन या कुछ ऐसी ही चीज़ मिलाते हुए उसके कानों ने मां-बेटे के उभरते हुए स्वरों को सुना था।

'माशी माशी क्या, माशी मां कहा कर न बेटे।' उस दिन भी उसे लगा था, सुपर्णा दी ने बंगाली चलन को कितनी दूर तक अपना लिया था। शायद वे भूल ही गयी थीं, कि आज से पन्द्रह बरस पहले वह शाहजहांपुर के छोटे से शहर में रहती थीं, जहां माशी के लिए वह खुद मौसी सम्बोधन प्रयुक्त करती थीं।

'इतना लम्बा-लम्बा मैं नहीं कहूंगा।' सुकेत कह रहा था, 'तुम भी मनीषी मनीषी कहती हो पूरा नाम कहां लेती हो ?'

'पूरा नाम ! तू चाहता है मैं उसको घर में सुश्री मनीषिणी इन्द्रजीत पुकारा करूं, जैसे उसे अस्पताल में उसके पिता का नाम लगा कर बोला जाता है या लिखा जाता है ? मनीषी पुकारने लगी तो नाम में कुछ बड़ी गड़बड़ी हो गई ?'

'तो अगर मैं माशी मां से माशी कहने लगा तो तुम्हें क्यों बुरा लगता है?'

'अरे बाबा, तू जीता मैं हारी, मेरा मतलब तो सिर्फ इतना था कि आदर से, प्यार से बोलना चाहिए, नहीं तो हमेशा इसी तरह पुकारता रहेगा, अच्छा नहीं लगता न।'

'अच्छा छोड़ो, मैं माशी नहीं 'माछी' कहा करूंगा। मंजूर?' वह बाहर निकल रही थी और वह उसी से पूछ बैठा था, 'मैं अब से तुम्हें माछी पुकारूंगा, सब झगड़ा-टंटा खत्म, ठीक है न!'

'माछी! क्यों?'

'जैसे मछली चिकनी कोमल चमकीली होती है, वैसी ही हमारी माशी है, ठीक है न मां।' प्रश्न का उत्तर मां को दिया गया था, पर सुपर्णा दी के सामने उस दिन वह बुरी तरह झेंप गयी थी। उसके हाथ में ओवल्टीन का कप था और हंसते-हंसते वह सुपर्णा दी के पलंग की पाटी पर ही बैठ गयी थी—'जो कुछ कहे कहने दो दी।' झेंप को मिटाने के लिए कहा था।

बहुत-बहुत दिन हो गये उस बात को भी। तख्त के किनारे पाटी पर बैठ मनीषी के हाथ अब सुकेत के बालों को सहलाने लगे थे। माछी कहते पुकारते सुकेत ने कब उसका नाम मनि रख लिया था, उसे पता ही नहीं चला। उसका कोई भी सम्बोधन बस यों ही था, एक दम निरर्थक। मनि शब्द में तो फिर भी कुछ सार्थकता है। अपनी तरफ से नाम की व्याख्या के सम्बन्ध में उसने सुकेत से कभी नहीं पूछा था। किसी और ने भी नहीं; वह सुपर्णा दी के सामने उसे मनि कहता ही कब था, वह तो यों ही जैसे अकेले में उसे चिढ़ाने-खिजाने के लिए उसने माशी मां का एक अलग से नाम रख छोड़ा हो। धीरे धीरे वही सम्बोधन उसका स्थायी नाम पड़ गया। अब तो जब कभी सुकेत उसे माशी कहता है तो उसे विचित्र लगता है। बाहर वालों के सामने यह सज़ा उसे प्रायः भुगतनी पड़ती है। सुकेत के सिर से हाथ हटा कर अब वह स्वतन्त्र बठी सोच रही थी, जैसे वह सब कुछ सामने लेटे सुकेत के लिए नहीं, किसी तीसरे व्यक्ति के बारे में हो।

'हां तो सुकेत, अब बोलो मैं जाऊं या नहीं?' सुकेत को अपनी ओर

अचानक घूरते देख वह फिर अपने में लौट आयी।

'हां, पहले से तो अच्छे हो ही। कमज़ोरी तो अभी है ही!'

'तो तुम चली जाओ।'

'कैसे बोल रहे हो, थोपू-थोपू आवाज़ में, ठीक से कहो, तभी न जाऊंगी मैं? उधर से तुम्हारे लिए फल वगैरह भी ले आऊंगी।'

'मुझे कुछ नहीं चाहिए।'

'तब?'

'तब क्या, मैं अच्छा हूं इसका मतलब यह तो नहीं, कि सारे दिन मुंह बांधे सतर लकड़ी के फट्टे-सा पड़ा रहूं, तुम किताब भी पढ़ने को मना करती हो, उठने-बैठने घूमने-फिरने के लिए भी तुम्हारी मनाही है, तब?'

'अरे कभी हल्का फुल्का कुछ यों ही देख लिया, इसके लिए तो मैं अब तुम्हें कुछ नहीं कहती। हां ज्यादा स्ट्रेन अपने ऊपर नहीं डालना चाहिए। अपना ध्यान अब खुद रखना पड़ेगा, इम्तहान भी तो पास हैं न।'

सुकेत चुप रहा।

'तो मैं जा सकती हूं न अब? जल्दी लौटने की कोशिश करूंगी। छुटका मां से कह कर जाऊंगी, वो पूरे समय तुम्हारे पास बैठे।'

'नहीं, मुझे किसी की ज़रूरत नहीं है, तुम चली जाओ।' और सुकेत ने करवट लेकर दूसरी तरफ मुंह कर लिया।

'इस तरह मैं कभी भी नहीं जा सकती, अच्छी तरह कहोगे, तभी जाऊंगी। लो, मैं नहीं जाती।' और मनीषी धप्प से तख्त के सामने पड़ी कुर्सी पर बैठ गयी। कमरे में थोड़ी देर निपट सन्नाटा छाया रहा, केवल एक छोटी-सी चिड़िया रोशनदान के कांच के पलड़े को अपने भार से तोलती उसे ऊपर नीचे करती हुई बेमालूम टक-टक का शब्द करती रही। मनीषी चिड़िया के पंखों को बड़ी बारीकी से देख रही थी। तभी सुकेत ने गर्दन घुमा दी, शायद यही देखने के लिए कि पीठ पीछे मनीषी क्या अब भी बैठी है। फिर गर्दन पहले की तरह घुमा कर बोला, 'जाओ, जल्दी आ जाना।'

स्वर में इस बार एक भारीपन और ठहराव था, जैसे एक बहुत प्रौढ़ समझदार आदमी बोल रहा है।

'गुस्से में कह रहे हो?'

'नहीं।' वही भारी प्रौढ़ स्वर, जसे उसने जाने की गम्भीरता को पूरी तरह समझ लिया हो।

'तुम बहुत अच्छे हो सुकेत, बहुत अच्छे!' मनीषी ने उसके माथे को छुआ, बोली, 'अच्छी तरह ओढ़े रहना, कोई चीज़ चाहो तो छुटका मां से मांग लेना, जूस का गिलास इधर इस मेज पर तुम्हारे पास ही ढका रखा है, थोड़ी देर में पी लेना, हुं!' मनीषी जाने लगी, दहलीज़ तक पहुंची तो सुकेत ने पीछे से पुकारा, 'नाश्ता लिया?'

'नाश्ता लेकर जाऊंगी।' मनीषी ने हाथ का संकेत कर आश्वस्त किया। जानती थी, कुछ भी अन्यथा कहने से सुकेत छोड़ेगा नहीं और उसे पहले ही बहुत देर हो चुकी थी।

मनीषी कमरे से निकल कर गैलरी की ओर घूम गयी।

दो

रोज़ वह बालीगंज से कालीघाट पार कर भवानीपुर पहुंचती है। अभी तक कितनी भागा-दौड़ी में फंसी थी, एक विचित्र चेथन में सांस हमेशा ऊपर की ऊपर और नीचे की नीचे रहती। कालीघाट से गुजरते हुए कई बार ध्यान आया था, कि सुकेत के अच्छे होने का मां को प्रसाद नहीं चढ़ा पायी है, आज भी वही विचार मस्तिष्क से फिर टकराया, सोचा किसी दिन छुटका मां के साथ प्रसाद ज़रूर चढ़ायेगी। सुकेत ने बड़ी भारी मुहिम झेली है। वह सोचती चली जा रही थी 'नाश्ता लेकर जाऊंगी।' सुन कर कैसा सन्तुष्ट हो गया, जैसे उसने कह दिया और मनि ने खा लिया। फिर कुछ ठसक से बजा, ऊंह, अब तो उसे भी स्वयं के बारे में मनि कह कर ही सोचने की आदत पड़ गयी है। क्या बुरा है। नाम में क्या रखा है, मात्र सम्बोधन

करना ही तो लक्ष्य है, चाहे किसी भी नाम से कर लिया जाये। फिर, फिर अव कोई दूसरा नाम न जाने क्यों अच्छा भी तो नहीं लगता ? शायद एक हीनाम को सुनने की आदत—हां, आदत ही तो है। आदतपड़ने पर आदमी किसी चीज़ का कितना गुलाम हो जाता है। इतनी देर से वरावर चलती चल रही है, वस के लिए वस-स्टॉप पर रुक कर इन्तज़ार करने की सुध ही नहीं रहीथी, अव अचानक कलाई घड़ी पर दृष्टि गयी तो चेत आया, अस्प-ताल पहुंचने में सिर्फ वीस मिनट शेष हैं। यही सव तो झंझट हैं, जिनके कारण वह अस्पताल में ही रहना चाहती है। अव सुकेत पूरी तरह ठीक हो जाये तो वस उसे इस घर से चले ही जाना है—।

वस के हत्थे को थाम कर वह भीतर प्रविष्ट हुई, तो इतनी भीड़ में भी उसने अपने लिए जगह वना ली। रोज़-रोज़ आते-जाते खूव अभ्यास हो गया है। सुकेत ने तो अभ्यास करते-करते फिर सव कुछ भुला दिया। अव इधर कुछ दिनों से विल्कुल आत्मनिर्भर वन गया था, छुटपन की छोटी-छोटी वचकानी ज़िदें विल्कुल छोड़ दी थीं। इस वीमारी ने उसे फिर वच्चा वना दिया है, वचकानी ज़िदें फिर शुरू हो गई हैं। चढ़ना व्यक्ति के लिए कितना मुश्किल होता है और चढ़कर फिर नीचे आना एकदम आसान। चलती हुई वस अचानक रुक गयी थी, एकाएकी दुवारा हिली तो खड़े हुए व्यक्तियों का एक वड़ा रेला धचके से एक दूसरे के ऊपर यों ही गिर पड़ा। मनीषी खिड़की से वाहर झांकती रही थी।

वस से उतरने के वाद भी अस्पताल के मुख्य भाग तक पहुँचने के लिए काफ़ी दूर पैदल चल कर जाना पड़ता है। नित्य प्रति का अभ्यास—कुछ करो न, सोचो न, क़दम तव भी निश्चित स्थल की ओर स्वतः ही वढ़ते चलते हैं—आज भी वही हुआ, सड़क के मोड़ से ही अस्पताल की हद शुरू हो जाती है, गेट पार कर लाल वजरी वाली लम्वी सड़क पर चलना होता है तव कहीं मुख्य द्वार आता है। मुख्य द्वार से प्रविष्ट होकर मनीषी मरीज़ों की नित्य प्रति की दुनिया में पहुँच गयी—मरीज़, दवाएं, एप्रेटस, चार्ट, थर्मामीटर, इंजेक्शन, मशीनें और ढेरों दूसरी चीजें।

कमरे में पहुंची तो जूली मेज़ की चीज़ों को उठाने-धरने-व्यवस्थित

करने में व्यस्त थी, डाक्टर को देखते ही चौंकी।

'गुड मौर्निंग, डाक्टर।'

'गुड मौर्निंग, ठीक है न सब ?' मनीषी ने वेग को मेज़ पर टिका कर यों ही पूछा और दीवार पर लगे कैलेण्डर को क़रीब से जाकर देखने लगी।

'डॉक्टर, मर्दाने वार्ड में रात को एक मरीज़ की तबीयत बहुत ख़राब हो गई।' जूली ने यों ही बताया।

'क्यों, क्या हुआ ? कौन था वह ?' तुरत-फुरत पूछने की जिज्ञासा से ही उसने पूछा।

'वहाँ वार्ड नं० ३ में बैड नं० २७ पर कोई था एकदम यंगमैन, सुनते हैं, बूढ़े बाप के सिवा उसके कोई नहीं था, माँ शायद बहुत पहले मर गयी थी। एनेस्थीसिया देते हुए कोलेप्स होने को ही था, कि डॉक्टर वर्मा ने संभाल लिया। नहीं तो न जाने क्या हो जाता।

'हूँ!' मनीषी यूं ही खड़ी कुछ सोचती रही, जैसे वह किसी दूसरे महत्त्वपूर्ण काम के बारे में सोचने लगी हो, फिर बोली, 'तुमने मरीज़ों की फ़ाइल ठीक की ?'

'जी, सब कुछ तैयार है, वहां, वार्ड में ही सेन्ट्रल टेबिल पर रखी हैं, मैं भी आपके साथ चलती हूँ।'

बिना कुछ उत्तर दिये मनीषी कमरे का पर्दा हटा कर बाहर चली आयी—जूली उसके पीछे-पीछे थी। बाहर बरामदा था, उसके परे छोटी सी गैलरी, जिसमें से घूम कर मरीज़ों के विभिन्न वार्डों में जाया जा सकता था। उसके क़दम सुस्थिर आगे बढ़ते रहे—गैलरी की खिड़कियों से फिसलते धूप के चकत्ते—ख़ामोश, थिरकते, अस्थिर।

वार्ड में प्रवेश करते ही कितने ही मरीजों ने उसे लेटे-लेटे ही दूर से देख लिया है। प्रतीक्षातुर आँखों के साथ कराहती हुई लुचपुची देहों ने कसमसाना शुरू कर दिया है। चेहरों पर ललक डॉक्टर के एक दृष्टिपात के लिए, एक विचित्र बेचैनी, भटकन और प्राणों में एक ठहराव—क्षण भर के लिए वह ठिठकी। एक वात्सल्यमय, आश्वस्त करती-सी दृष्टि डालती हुई वह आगे बढ़ती रही। दोनों बिस्तरों की क़तारों के बीच से ठकठक चलती वह बीचों-बीच रखी मेज़ के पास पहुँची। जूली ने भी शीघ्रता की।

'वैंड नं० २३ का क्या हालचाल है ? कल तो सब बहुत घबड़ा गये थे न ! कुछ पता लगा ?' कमरे में उपस्थित काम करती हुई नर्स. वासन्ती से जूली ने पूछा।

'हां डॉक्टर सिन्हा ज़िक्र कर रहे थे, तभी मालूम हुआ, वह मरीज अब नहीं रहा है।'

'अरे सच !! यह कब हुआ ?' जूली अचम्भित हुई।

'वह कुछ नहीं मालूम।'

'अरे !' मनीषी ने भी आश्चर्य प्रगट किया, साथ ही 'वट हाउ?' एक नन्हा सा प्रश्न मनीषी के ओठों से फिसल कर ओठों में ही खो गया। डॉक्टर होकर वह कैसा प्रश्न करने वाली थी और फिर दूसरे के पेशेन्ट से उसका मतलब, पर सिर में एक चकरघिन्नी शुरू हो गई। लगा वह लड़खड़ा कर ज़मीन पर ही गिर पड़ेगी। मेज़ के सामने लगी कुर्सी पर वह धप्प से बैठ गयी। एक निरपेक्ष निरर्थक दृष्टि से इधर उधर देखा, मस्तिष्क में फिर कुछ तेज़ी से घूमता प्रतीत हुआ, हथेलियों ने सिर को बीचों-बीच से थाम लिया।

'क्यों डॉक्टर, कुछ तबीयत खराब है ? सिर में दर्द ?'

'हाँ, कुछ ऐसा ही लग रहा है।'

'कमरे में चल कर एक प्याला कॉफी ले लें, ठीक हो जायेंगी।' हाथ में थमा बैन्डेज छोड़ वासन्ती सतर्क हुई। 'या चलिए, उधर बाहर लॉन में डॉ० शुभा दत्ता और डॉ० लीना बैठी हैं। चलें, आप कुछ देर उधर बैठ लें, चलिये न !' वासन्ती ने दूसरा प्रस्ताव किया और हाथ थाम कर लॉन में ले गयी। लॉन में पड़ी बेंत की कुर्सियों में से एक कुर्सी पर मनीषी को बिठाते हुए उसने दूसरी डॉक्टरों को संकेत किया।

'हलो, डॉक्टर मिस इन्द्रजीत, व्हाट हैप्पेन्ड ? मैंने तुम्हें गेट पर देखा था, तब तुम मुझे बिल्कुल ठीक दिख रही थीं।'

'यों ही हल्का-सा सिरदर्द है, अभी ठीक हुई जाती हूं।' मनीषी ने माथे के बीचों-बीच उंगली रख कर दबाया।

'मैं तो अभी मरीज़ों के पास पहुंची भी नहीं हूं। यह
पड़ गयी।' मनीषी ने सिर को झटकारते हुए फिर कहा।

'मालूम होता है, बहुत स्ट्रेन लेती हो। कुछ टॉनिक वग़ैरा लो न ! दुनिया भर को सजेस्ट करती हो और अपने लिये कुछ भी नहीं ! हम लोगों की सबकी यही दशा है।' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य मनीषी के पास आकर खड़ी हो गई और उसके हाथों को उठा कर सहलाने लगी।

'हां चिराग़ तले अंधेरा इसी को कहते हैं। भई हम लोग भी हाड़-मांस के बने हैं, हमारे भी दिल है। दिमाग़ है। हम लोग भी—।' डॉ० शुभा दत्ता ने शुरू किया। मनीषी आंखें मूंदे बैठी रही।

'तुम्हारे तो हाथ भी इस क़दर ठण्डे हो रहे हैं। आज तुम रेस्ट लो, कम्प्लीट रेस्ट। हम लोग मैडिकल सुपरिन्टेन्डेन्ट से कह देंगी। ठीक है न डॉ० दत्ता ?' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने पास खड़ी डॉ० दत्ता का समर्थन खोजा। डॉ० दत्ता ने सिर हिलाया, 'और क्या। चलो, मेरे क्वार्टर में ले चलो इन्हें।'

'अरे, ले तो कहीं भी जाया जा सकता है, पर ये राज़ी तो हों।'

'ठीक है, मैं रेस्ट लूंगी, पर घर पर।'

'घर पर ? लोग बाग बीमार होने पर अस्पताल आते हैं और तुम डॉक्टर होकर घर पर भागना चाहती हो ! भला क्यों ?'

'उधर ही ठीक रहेगा, जब पूरे दिन की छुट्टी मिल जायेगी तो मैं घर पर ही आराम करूंगी।' मनीषी ने आंखें मूंदे-मूंदे ही कहा। आस-पास खड़ी डॉक्टरों ने एक दूसरे को देखा, जैसे कह रही हों, 'देखो, हम ठीक कह रही थीं न।'

'चलो ठीक है, टैक्सी मंगाये देते हैं, पर उससे पहले एक कप कॉफ़ी पी लो।' जूली कॉफ़ी का प्याला थामे हुए पास खड़ी थी। डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने प्याला थाम कर मनीषी के ओठों से लगाया तो मनीषी खुद लेकर धीरे-धीरे सिप करने लगी। तभी वासन्ती ने आकर बताया, 'टैक्सी आ गयी है।'

'ओह थैंक्यू !' मनीषी प्याला मेज़ पर टिकाते हुए उठ कर खड़ी हो गई और बिना कुछ कहे दरवाज़े की ओर बढ़ने लगी, जूली और वासन्ती दौड़ कर साथ-साथ चलीं।

'डॉक्टर, हम घर तक चलें न ?' मनीषी के टैक्सी में बैठ जाने पर दोनों

नर्सों ने पूछा।

'नहीं-नहीं, मैं अब ठीक हूं और ठीक हो जाऊंगी। थैंक्यू।'

मनीषी के हटते ही बातें फिर चल निकलीं, 'बेहद स्ट्रेन लेती हैं डॉ० इन्द्रजीत भी।'

'मुझसे बैड नं० २३ की खबर सुनते ही न जाने डॉक्टर को क्या हुआ कि वे कुर्सी पर गिर-सी पड़ीं। अभी तो उन्हें सब मरीज़ों के पास जाना था। राउन्ड भी नहीं ले सकीं।

'घर में कोई मरीज़ हो तो मन कच्चा हो ही जाता है।'

'हां, सुकेत अभी बीमार ही चल रहा है शायद।'

'अब तक तो ठीक हो जाना चाहिए। हो सकता है अभी बीमार ही हो। कितना कहा, अस्पताल में दाखिल करवा दो, पर कहां सुना उसने। बोलो, घर में क्या अस्पताल की तरह मरीज़ कीतीमारदारी की जा सकती है? खासकर उस हालत में जब तुम्हें खुद भी भागना-दौड़ना पड़ रहा है।' डॉ० माण्डेकर भी कहीं से आकर खड़ी हो गई थीं।

'पर डॉक्टर होकर इस तरह का धक्का। इस तरह फ़ील करना—?'

'डॉक्टर क्या इन्सान नहीं होते!'

'पर भई लड़की का भी जबाब नहीं है। इतनी देखभाल तो मां अपने बेटे की भी नहीं करती, जितनी सेवा वह सुकेत की करती है।

'तभी न शरीर की यह हालत बना ली है। मैं तो डॉ० इन्द्रजीत को हमेशा थका-थका ही देखती हूं।'

'यस, टू मच स्ट्रेन! लेट हर हैव रेस्ट टुडे। आज की दुनिया में कोई किसी के लिये इतना नहीं करता।'

इधर उधर टिप्पणियां चलती रहीं।

मनीषी घर पहुंची, तो सुकेत हाथों में अखबार ताने तकिये का ढांसना लगाये बैठा था। चेहरा अखबार के पीछे छुपा हुआ, कुर्ते की ढीली बांहों में

से निकली हुई सुती-सुती बाहें। चादर छाती से नीचे यों ही खिसकी हुई।

मनीषी ने टैक्सी को गेट से बहुत पहले ही रोक दिया था। गेट खोल कर लॉन और बरामदे को पार करती हुई वह भीतर आयी। जूते दहलीज़ पर उतार कर पंजों पर चलती चुपके-से सुकेत के पास पहुंची तो सुकेत को पता ही न चला, कि मनीषी आ गई है। मनीषी ने पास जाकर अख़बार हाथों से खींच लिया, तो वह चौंक कर सीधा हो गया। अखबार देखते-देखते ही एक ऊंघ-सी आ गयी थी।

'मनि, तुम इतनी जल्दी।' खुद को उसने कुछ और सीधा किया।

'क्यों, मुझे इतनी जल्दी नहीं आना चाहिए था ?'

सुकेत ने उत्तर न दिया। बाएं हाथ वाली हथेली से जमुहाई के लिए खुले मुंह को थपथपाता, चादर को कंधों तक खींचता, तकिये पर सिर रख कर वह नीचे बिस्तर में खिसक कर लेट गया, मनीषी सामने पड़ी कुर्सी पर बैठ गयी।

'इतनी जल्दी कैसे आ गई, आज क्या हुआ ?' सुकेत ने फिर प्रश्न किया।

'होना क्या था, सोचा जल्दी चली चलूं। डॉ० माण्डेकर ने आज मेरा काम संभाल दिया, मुझे छुट्टी मिल गयी, और क्या ? जहां इतनी डॉक्टर हों, वहां एक डॉक्टर के होने न होने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता।'

'ठीक है, मेरे लिए कुछ लायी ?'

'क्या लाती। ओह मौसमी, सन्तरा, चीकू यानी फल न !'

'तुम कह कर गयी थीं।'

'कह कर गयी थी, पर नहीं ला सकी। घर आने की जल्दी में भागी चली आयी, कल लाऊंगी।'

'इस समय फ्रिज में कुछ भी नहीं है ?'

'होगा, देखा नहीं। और हां, तुम्हारे लिये तो मैं जूस रख गयी थी, पिया नहीं ?'

'वह पी लिया, अब और पीना चाहता हूं।'

'देखती हूं।' मनीषी उठ कर फ्रिज़ के पास गयी, दो चार सन्तरे, मौसमी उसमें अब भी थे। निकाल कर बाहर लायी। प्लेट में रख कर

बोली, 'छील कर दूं ?'

'नहीं, जूस, छुटका मां से निकलवा लो।'

'छुटका मां रसोई में खाने में लगी होगी, मैं खुद निकालती हूं।' सन्तरे बाहर लाकर उसने हाथ वाली कांच की मशीन से रस निचोड़ा और गिलास भर कर भीतर ले आयी।

'सिर्फ आधा गिलास बना है, शाम को और मौसमी मंगा लूंगी।'

'ठीक है।' सुकेत निश्चित-मन लेटा रहा।

'लो उठो, पी लो, फिर मैं देखती हूँ, कुछ सूप वग़ैरा बना या नहीं।'

सुकेत लेटा रहा।

'मैं उठाऊं, पिलाऊं ?'

'नहीं।'

'तब ?'

'तुम पिओ। तुम्हारे लिए है यह।'

'मेरे लिए ? क्यों ?'

'अपना चेहरा शीशे में देखा ?'

'क्यों, क्या हुआ मेरे चेहरे को ?' मनीषी हड़बड़ाई, पल्लू उठा कर यों ही चेहरा पोंछने लगी, शायद कोई दाग़-धब्बा लगा हो।

'वो कुछ नहीं है, तुम्हारा चेहरा एकदम पीला जर्द पड़ा है। लगता है बीमार तुम हो, मैं नहीं।' सुकेत ने स्पष्ट किया।

'तुम खूब हो सुकेत, मनि को जूस पिलाने की यह तरकीब तुमने खूब निकाली।' मनीषी हैरान थी।

'तरकीब-अरकीब नहीं, तुम्हें अपना ध्यान रखना चाहिए। चलो, जूस पी लो।' सुकेत का स्वर एक प्रौढ़ व्यक्ति की तरह गम्भीर हो उठा था।

'मैं नहीं पिऊंगी, मैं कहती हूं, मुझे जरूरत नहीं है।'

'तुम चाहती हो, मैं तुमसे अपना कोई काम न करवाऊं।'

'क्यों, यह क्यों चाहूंगी, इस समय भाग कर किसलिए आयी हूं ?'

'आयी होगी, तबियत-अबियत खराब हो गई होगी, और क्या।'

'तुम अन्तर्यामी हो सुकेत, तुम-सा ज्योतिषी नहीं देखा आज तक। अच्छे हो जाओ तो यही पेशा अपना लेना, कलकत्ते में ज्योति[illegible]विद्या खूब

चल जायेगी।'

सुकेत चुप रहा। फिर गम्भीर स्वर में बोला, 'पिओ।'

मनीषी को लगा, इतनी देर लगातार बोलते रहने और व्यर्थ का आडम्बर रचने से उसकी शक्ति काफ़ी क्षीण हो गई है। गिलास उठाकर उसने मुंह से लगा लिया। उसे यह डर भी था। कि ज्यादा ज़िद्द करने से सुकेत पर व्यर्थ ही बोझ पड़ेगा और करना उसे वही पड़ेगा, जिसका सुकेत ने आदेश दिया है, खास कर बीमारी में सुकेत कितना हट्टी हो गया है, इसे वह जानती थी। गिलास बाहर रखने के लिये गयी तो सुकेत से कहती गयी, 'तुम ठीक तरह लेटो, थोड़ा आराम कर लो, मैं अभी आयी' और सुकेत के कमरे से हट कर वह अपने कमरे में आकर बिस्तर पर पड़ रही।

यह कमरा वही था, जो सुपर्णा दी के सामने उसे मिला हुआ था। सब कुछ उसी प्रकार व्यवस्थित था, एक-एक चीज़ उसी जमाने की, उसी प्रकार रखी हुई, सिर्फ़ सेन्ट्रल टेबिल सुकेत ने कुछ दिन हुए बीच में लाकर रखी थी।

'कमरे में पानी रखने, किताबें रखने के लिये एक भी चीज़ न हो, आखिर यह भी कोई कमरा हुआ, लो इसे रखो।' पिता के कमरे से वह छोटी गोल मेज उठा कर ले आया था। उसी ने मेज़ पर यह फूलदान लाकर रखा था—अब इस समय पलंग पर लेटी है, तो सब कुछ देख रही है—फूलदान में रखे हुए फूल कब के सूख गये हैं, पूरे चालीस पैंतालीस दिनों से बीमार पड़ा है, तो इस कमरे में सुकेत के आने का सवाल ही कहां उठता था, और वह स्वयं? शुरू-शुरू के दिनों में जब सुकेत को ज्वर चढ़ा था, तो दवा-पथ्य सब कुछ देकर वह अपने कमरे में आकर सो जाया करती थी। सुकेत के कमरे में सोना तो उसने बाद में आरम्भ किया था, जब सुकेत रात को पानी लेने जाते हुए खम्भे से टकरा कर धड़ाम से आंगन में गिर पड़ा था। सोते-सोते ही न जाने कैसे उस आवाज़ से उसकी नींद उचट गयी थी, दौड़ कर आयी थी और बरामदे की बत्ती जलाकर देखा तो, सुकेत आंगन में गिरा पड़ा है—

'सुकेत, बत्ती जला लेते, मुझे बुला लेते। यह क्या कि उठे और अंधेरे में चल दिये। ऐसी क्या ज़रूरत आ पड़ी ?' सुकेत को उठा कर वह कमरे में लायी थी, माथे पर हाथ रखा था, तेज़ बुखार से तपता हुआ। बिना कुछ कहे उसने थाम कर उसे उसके तख्त पर लिटा दिया था, सिर पर जहां खम्भे से टकराने पर तुरन्त ही गूमड़ा निकल आया था, हाथ से ज़ोर से दबाया और सुकेत को पानी पिला कर बिना कुछ कहे, आंगन में रखी एक चारपाई सुकेत के कमरे में ही खींच लायी थी।

'मैं आज से इधर ही सोऊंगी, जो ज़रूरत हो मुझसे मांग लिया करो। बिस्तर से उठने की ज़रूरत बिल्कुल नहीं।' सुकेत एक निरीह अबोध बच्चे की तरह ज्यों का ज्यों बिस्तर पर अचेत लेटा रहा था। उसके अगले दिन ही मालूम हुआ था कि सुकेत को टाइफ़ाइड बुख़ार था और उस दिन से लेकर आज तक वह रातों रात जगी है, घुली है, सन्तप्त हुई है, चिन्ता में झुलसी है। कहां तो वह सोच रही थी कि शीघ्र ही अपने अस्पताल वाले क्वार्टर में लौट जायगी और कहां अब फिर फंस गयी। कितनी मुश्किल से सुकेत को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाया था, नहीं तो मां के सामने तो वह कोई भी काम अपने आप नहीं करता था। उस समय भी सुकेत का हर काम करने की उसकी ही ड्यूटी थी, पर अब यह कब तक चलेगा, यही सोचकर उसने बात-बात पर सुकेत को टोकना शुरू कर दिया था।

'सुकेत, देखो, अपना कमरा ठीक से रखा करो। न, इधर ये कमीज़ें पड़ी हैं, उधर इतनी सारी कॉपियां, किताबें, ढेरों कागज़-पत्तर, अब मैं हूं तो एक-एक चीज़ देख-देख कर रख रही हूं, संगवा रही हूं। मेरे जाने पर छुटका इतना ही कर सकती है, कि तुम्हारे मैले कपड़े उठा कर धोबी को पकड़ा दे। इन कागज़-पत्रों का हिसाब-किताब कैसे करेगी ? कुछ सोचते हो, एक भी तुम्हारा ज़रूरी कागज़ गुम हो गया, तो क्या करोगे ?'

'तभी तो कहता हूं, तुम कहीं नहीं जाओगी, यहीं रहोगी, मां कह नहीं गयी हैं ?'

'मां जो कुछ कह गयी हैं, उसे मैं समझती हूं। तुम्हें बताने की ज़रूरत नहीं।'

सुकेत सकपका जाता, थोड़ी देर तक उसकी आंखों की तरफ़ देखता

रहता, फिर कहता, 'अच्छा मैं खेलने जा रहा हूं।'

'जल्दी आना समय से !' और सुकेत का समय से आना ठीक रात को दस बजे होता। फिर तकरार होती। नहीं-नहीं, तकरार का प्रश्न ही कहां उठता था, वह मुंह फुला कर कहती, 'सुनो, खाना परसा रखा है, लेकर खा लो।'

'मैं खा लूंगा, तुम आराम से सोओ।' उसे आश्वस्त कर वह चुपचाप अपना काम करता रहता। सुबह उठ कर वह देखती, खाना ज्यों का त्यों अनछुआ रखा है और सुकेत अचेत सोता रहा है—बड़ी-बड़ी आंखें मूंदे वह बच्चे की तरह अबोध, निर्द्वन्द्व पड़ा है, जैसे इसी तरह कोई उसके बारे में चिन्ता करता रहेगा, देखता-भालता, संभालता-सहेजता रहेगा। असली तकरार सुबह उठ कर होती थी, जब देर में आने और खाना न खाने पर वह दो चार तेज़-तेज़ बातें सुनाती—सुकेत सब कुछ सुनता रहता, बाद में भोले स्वर में कहता, 'कल सुबह तुमने जाने के लिए क्यों कहा था?'

'जाने के लिये कहा था, तो क्या गुनाह किया था? मैं क्या ज़िंदगी भर यहीं बैठी रहूं—।' और वह खुद ही अपने स्वर से सहम सी जाती, इतना ऊंचा स्वर क्या उसी का है? स्वर को नरम बना कर वह फिर समझाती, 'मैं कहीं नहीं जा रही हूं, पर तुम्हें अपना काम खुद करना चाहिए न!...बोलो मैं कितना काम करूंगी, अस्पताल जाना, ढेरों मरीजों को देखना-भालना, दौड़ते रहना। कभी कभी तो दो-दो दिन लौटना नहीं होता है। अपने छोटे-छोटे काम अपने आप करना नहीं सीखोगे, तो कैसे होगा।'

सुकेत चुपचाप सुनता रहता और फिर दूसरे दिन से वह देखती, सुकेत ने अपना कमरा काफ़ी साफ़ कर लिया है, कपड़े संगवा कर रख लिये हैं, कागज़ किताबें समेट ली हैं। कभी वह देखती, वह अस्पताल से लौटी है, जाड़ों के दिन हैं, कोट उतार कर उसने कुर्सी के हत्थे पर लटका दिया है और रसोई में चाय बनाने चली गयी है, लौटकर आयी, तो देखती है, उसका कोट उठा कर सुकेत ने हेंगर पर लटका कर आलमारी में लटका दिया है, पहले से ही प्याले मेज़ पर लाकर लगा दिये हैं। छुटका मां नाश्ते की प्लेटें

ला रही हैं तो खुद थाम कर रख ली हैं। कभी-कभी उसे दया आती, ऐसा भी क्या है, कि उसके और छुटका मां के होते सुकेत इतना काम करे। सुपर्णा दी होतीं तो क्या बेटे से इस तरह के काम करवातीं ? पर आत्म-निर्भर नहीं बनेगा, तो उसके चले जाने पर कैसे चलेगा, उसी को क़दम क़दम पर कठिनाई होगी—

उस दिन स्याही फैल गयी थी और उसे सोखते से स्याही सुखानी तक नहीं आ रही थी। न जाने कितना फटा कपड़ा, ब्लॉटिंग और क्या-क्या सान पोत कर फेंका था—सुकेत की एक दूसरी असमर्थता उसकी आंखों के आगे रिंग आयी थी। उसने डपटा था तो अनबूझा-सा बस यों ही देखता खड़ा रहा था, चलो ठीक है अब ट्रेनिंग मिल गयी है, ठीक रहेगा। उसका घर से चले जाना अब उतना नहीं खलेगा। बड़ी कठिनाई से सब कुछ व्यव-स्थित कर ढर्रे पर लायी थी और तभी टाइफ़ाइड बुखार ने आ पकड़ा। अब तो सवाल ही नहीं उठता कि अधबीच में बीमार छोड़कर यों ही चल जाया जाये, ज़रा ताक़त आ जायेगी। नहीं-नहीं, यह नहीं होगा, क्यों सोच रही है वह, ऐसा कैसे हो सकता है ? आज उस मरीज़ के सम्बन्ध में सुन कर उसे कितना बड़ा धक्का लगाथा। एकदम क्या ध्यान आ गया था। सिर को झटकार कर उसने उस दुर्भावना को हटा कर दूर फेंकने की चेष्टा की तो ऊपर से नीचे तक जैसे वह हिल उठी। अगर आते ही सुकेत ज़िद्द करक उसे जूस न पिला देता तो— ?

कितनी टूटी कमज़ोर अनुभव कर रही थी वह, अगर सुकेत को मालूम हो जाये, कि मैं इस तरह यहां थकित होकर पड़ी हूं और क्यों पड़ी हूं, तब तो शायद दो चार बातें और सुना डाले; सुकेत को उसकी यह अस्पताल की नौकरी पसन्द जो नहीं है। सुकेत को वह प्रसन्न-स्वस्थ देखना चाहती है, वह उसको किसी तरह की तकलीफ़ नहीं पहुंचाना चाहती, खुद को थका-खपा कर भी यदि वह सुकेत को मज़बूत स्वस्थ कर पायी, तो वह तो खुद ही तन्दुरुस्त रहेगी, उसके कमज़ोर होने का कोई सवाल ही नहीं उठता। सामने खिड़की के पार खड़े अमलतास के पेड़ की टहनियां हिलीं, ढेर सारे हरे पीले पत्तों के गुच्छे खिड़की पर लगी पत्थर की पटिया पर झुक आये, उसे अच्छा लगा—आंखें मूंद कर वह कुछ देर सोने का प्रयत्न

करने लगी कि तभी छुटका मां दरवाज़े पर आकर खड़ी हो गई, 'विटिया, तुम यहां लेटी हो और भइया तुम्हें ढूंढ रहे हैं।'

'सुकेत। कहां ?' वह हड़वड़ा कर उठ वैठी।

'मैं तुम्हें देखने भइया के कमरे में गयी, तो भइया उल्टे मुझसे ही पूछने लगे, वो रसोई में नहीं है ?'

'मैं अभी देखती हूं। कह कर मैं इधर चली आयी, पर भइया कहीं उठकर इधर ही न चले आयें।'

'मैं चलती हूं।' कहती हुई मनीषी उठ कर खड़ी हो गई।

'तुमसे एक वात कहने आयी थी, विटिया !'

'कहो !' जूड़े को खोलती हुई वालों में खुसे हुए पिनों को निकाल कर हथेली में दवाते हुए मनीषी ने उत्सुकता प्रगट की। छुटका मां फुस-फुसा कर वड़े गंभीर समझाते स्वर में कहने लगीं, 'देखो वेटी, भइया तुम्हारे ही वस के हैं। हमारे कहने से तो कुछ खाते भी नहीं, यहां तक कि दवाई भी नहीं लेते और वेटी इस वीमारी की पीछे की संभाल ही वहुत मुश्किल है, सो वेटा मेरी तो यही राय है, कि तुम हफ़्ते दस दिन की छुट्टी ले लो, तो भइया उठकर खड़े हो जायें, तव जो चाहे सो करियो।'

'हुं !' अभी तक मुट्ठी में दवे हेयरपिनों को मेज़ पर रख कर खुले वालों को चोटी के रूप में गूंथती हुई वह क्षण भर को विचारमग्न हो गई, फिर वोली, 'अच्छा छुटका मां, तुमने सूप वनाया ?'

'सव कुछ वन गया विटिया, तुम्हारी ही वाट देख रही थी। चलो, हीं भइया उठ कर इधर उधर न घूमने लगें।'

'हां सच !' विचारमग्न मनीषी छुटका के पीछे पीछे चली। छुटका भी सुकेत के वारे में कितना कुछ सोचती है !

सुकेत के कमरे में पहुंची तो इससे पहले कि वह उससे कुछ कहे। सुने, खुद ही पूछ वैठी, 'सुकेत, मैं कुछ दिनों की छुट्टी ले लूं ?'

'छुट्टी और तुम लोगी ! किसलिये ?'

'मैं वहुत थक गयी हूं, थोड़े दिन आराम ले लूंगी, तो फिर ठीक हो गी, दिन भर तुम्हारे पास भी रहूंगी, तुम्हें शिकायत भी नहीं —।'

सुकेत टकटकी लगाकर उसकी ओर देखता रह गया, जैसे मनीषी की बात पर उसे विश्वास ही न हो रहा हो।

'मुझे बहुत खुशी हो रही है मनि, मैं अब बहुत जल्दी अच्छा हो जाऊंगा, सच कहता हूं।' सुनकर वह छोटे बच्चे की तरह किलक उठा। इतने सारे शब्दों को एक साथ कहने के प्रयत्न में सुकेत ने चादर उठा कर एक तरफ रख दी थी।

'अरे-अरे, यह कहां की तयारी है, तुरत-फुरत इतने अच्छे नहीं हो गये हो कि दौड़ लगाने लगो। आराम से बैठो। पहले खाना खा लो। अभी से उठ कर तुम इधर-उधर फिरने लगे, यह अच्छा नहीं है।'

'और तुम ? तुम नहीं खाओगी ?'

'मैं भी खाऊंगी और छुटका मां भी खायेगी। छुटका मां तुम भी ले आओ न अपनी थाली इधर ही।' छुटका मां के कुछ कहने से पहले ही उसे याद आ गया, छुटका मां रसोई से बाहर नहीं खाती। सुकेत की प्रसन्नता और भावावेश में क्षणभर को वह सब कुछ भूल गयी थी।

तीन

छुट्टी लेकर उसने अच्छा ही किया। दस पन्द्रह दिन अस्पताल न जाने से वहां का कौन-सा काम रुक जायेगा। अब कुछ उसे भी जरा आराम मिलेगा और सुकेत की भी देख-रेख हो जायगी। सचमुच इस बीमारी की आफ़्टर-केयर ज़्यादा ज़रूरी है—सुकेत के लिये फुल्का सेंकती हुई वह सोचने लगी।

लंघन करते हुए इतने दिन हो गये थे, फटे दूध के पथ्य से हटा कर किसी तरह वह सुकेत को मूंग की दाल और रोटी बक्कल पर लायी थी

जिस दिन सुकेत ने पहली वार अन्न लिया था, उस दिन से आज तक वह सुकेत के लिये फुल्के खुद ही सेंकती है। जव तक छुट्टी है, तव तक तो कम से कम यह निभ ही जायेगा, वाद में तो छुटका मां है ही।

छुटका मां प्रसन्न थी, पास पटले पर वैठते हुए वोली, 'विटिया, तुम्हारे हाथ की चीज़ भइया जितने चाव से खाते हैं, उतने चाव से कुछ दूसरी चीज़ नहीं खाते।'

मनीषी सुन कर मुस्करायी, वोली, 'नहीं छुटका मां, वह वात नहीं है, पर मेरा मन है यूं ही, कि सुकेत के लिये खाना मैं ही वनाया करूं। अव तो वह सव कुछ खाने लगा है और मेरी छुट्टी भी है, वैसे तुमसे अच्छी रोटी वनानी मुझे कभी नहीं आ सकती। सच कह रही हूं छुटका मां, झूठ नहीं कह रही।' छुटका मां को विश्वास दिलाने के लिये उसने फुल्का चिमटे से उठा कर दिखाया।

'विटिया वात वनाना तो कोई तुमसे सीखे, अरे प्रेम से वनायी चीज़ में कुछ भला-वुरा नहीं हुआ करता।' छुटका मां ने एक विशेष ढंग से हाथ नचाया, फिर वोली, 'अच्छा तो मैं चल रही हूं, तनिक उधर वैठकर सुपाड़ी खाऊंगी। भइया के लिये रोटियां सेंक कर मुझे वुला लेना, मैं खाना ले जाऊंगी, भला!' छुटका मां चली गयी तो मनीषी स्लेव के पास वर्नर पर फुलके सेंकती अकेली खड़ी रह गयी।

—छुटका मां ठीक ही कहती होंगी, नहीं तो उसे तो सचमुच कुछ आता ही नहीं, हमेशा मां के हाथ का ही बना खाती रही। मां कितनी अच्छी थीं, कितनी दवंग मज़वूत! वह थी जो वेकार के भ्रम पाले रही और भ्रम भी क्या, वह तो मन में कुछ वैठ ही गया था, सो वरावर वैठा ही रहा, नहीं तो कुछ भी तो नहीं हुआ था। मां ने कितना समझाया, वावू उसे घंटों लेकर वैठे रहते थे, 'वेटी, किसी का मरना जीना किसी के हाथ में नहीं हुआ करता। आखिर इसमें तुम्हारा क़सूर ही क्या है कि नवलप्रकाश अपने घर की दहलीज़ पर दोस्त की वन्दूक की गोली से खत्म हो गये, वन्दूक तो खुशी में ही दाग़ी गयी थी, हिन्दू समाज के पुराने रीति रिवाज़! माना वुरा हुआ, वहुत वुरा हुआ; हमें क्या यह सव कुछ अच्छा लगा? आखिर हम तुम्हारे माता-पिता हैं, हमारे दिल दिमाग़ को कितनी चोट

पहुंची, इसका अन्दाज़ा तुम भी नहीं लगा सकतीं, पर अव उसी बात में अपने मन को घुलाते रहने से क्या मिलेगा? समझ लो तुम्हारा और नवलजी का सम्वन्ध वस उतना ही था।'

उतना क्यों, फेरों से उठकर उनके घर के दरवाज़े पर पहुंचने भर का! इतना ही न? वह कहना चाहती थी पर जानती थी, पिता इसके प्रत्युत्तर में क्या कहेंगे, 'इतना भर ही तो सम्वन्ध था। यह भी कोई सम्वन्ध हुआ, मैं नहीं मानता कि उस छोटे से वन्धन के कारण ही कोई स्त्री अपने पति के लिये वैठी ज़िंदगी भर रोती कलपती रहे। क्या हाथ आयेगा? कुछ भी नहीं, विल्कुल कुछ नहीं।'

वह चुप रही थी। जो कुछ भी हुआ, पर वस अव मन ही नहीं उठता इसका वह क्या करे। पिता के सामने वह कोई तर्क नहीं था, उससे तो पिता ही अच्छे थे, मां ही बड़ी थीं, पुराने दकियानूसी वातों से दोनों ने ही किनारा कर लिया था। पर उसके लिए रूढ़ि-वन्धन कुछ नहीं, वस मन के वन्धन ही सवसे वड़े थे, जिनके दायरों में वह वरावर उलझी रहती थी। पिता निश्चय करते ही रह गये और वात कुछ न वनी। कुछ समय पीछे पिता भी महाप्रयाण कर चुके थे।

वो दिन कितने वोझिल थे और कितने अकेले। उसके सिर पर एक भूत सवार रहता था; उदासी के भूत से लड़ने के लिए वह रात-दिन भूत सरीखी ही काम में जुटी रहती थी—

हड्डियां ले आये हैं तो कमरा वन्द कर घण्टों उन्हें ही देख रहे हैं। किसी मुर्दे का डाइरेक्शन किया है, तो काम समाप्त हो जाने के वाद भी दिनों-दिन उसी के बारे में सोच रहे हैं, सहेलियां फब्तियां कसतीं, 'डॉक्टर वन कर तुम सवसे ज्यादा नाम कमाओगी।' सहेलियों के व्यंग्य को वह समझती थी। वही सहेलियां वक़्त मिलने पर समझातीं:

'डॉक्टर को किसी के मर जाने से क्या मतलव, अरे चीरा-फाड़ा, टटोला, अलग किया। डॉक्टर अगर हर मरीज़ और हर मरने वाले के साथ मातम मनाता रहेगा तो हो लिया।' मां कहती थीं, 'इसे डॉक्टरी पढ़ा कर वहुत ग़लती की है। पर उसे किसी के कहने-सुनने से कुछ लेना-देना नहीं था, उसे उन दिनों अपने उस प्रकार के क्रिया-कलाप से वहुत शान्ति

मिलती थी। उसे लगता अगर वह डॉक्टरी न पढ़ती तो जीवन-मरण की भूलभुलैया, शरीर के रहस्य उसे कभी समझ ही न आते, पर इन सब रहस्योद्‌घाटनों ने ही उसे कौन-सा निर्लिप्त बना दिया था—सब कुछ जानती बूझती भी वह आज तक किसी भी मरीज़ के प्रति विरक्ति नहीं दिखा सकी थी। आम डॉक्टरों के विपरीत ममता और आसक्ति उसकी आदत में शामिल है, तभी न सुकेत के प्रति भी—।

सुकेत का ध्यान आते ही वह फिर अपने में लौट आयी। सामने की थाली में रोटियों का एक छोटा-सा ढेर खड़ा हो गया था, सुकेत पास खड़ा मुस्कराता रहा था।

'मनि माशी, आज तुमने कितने लोगों को बुलाया है, इस समय तो यहां मेरा एक ही दोस्त है अजय।'

'अजय!' मनीषी हड़बड़ा गयी थी। मनि—माशी यह सम्बोधन कॉल-बैल की तरह था, जिसका सुकेत की ओर से उच्चारण इस बात की चेतावनी था, कि घर में कोई चौथा व्यक्ति आ गया है। चौथा व्यक्ति, किसी अन्य व्यक्ति के खाने के बारे में तो मनीषी ने अभी सोचा तक भी नहीं था। अजय का नाम सुना, दावत की बात सुनी तो रोटी घुमाता उसका हाथ रुक गया, बनी हुई रोटियों पर दृष्टि गयी।

'ओफ़्फ़ो, सच मैंने न जाने किस धुन में इतनी सारी रोटियां बना डालीं, यह भी नहीं सोचा, कि इस आटे में शेरा और बीरू दोनों कुत्तों के लिये भी रोटियां बनानी थीं और वो रोटियां छुटका मां को बनानी थीं और शाम के लिये भी आटा छोड़ना था, ओह!' और मनीषी ज़ोर से हंस पड़ी। अब तक की चक्राकार सोची हुई बातें और रोटियों की इतनी ढेर सारी संख्या दोनों के तालमेल पर विचार करने लगी, तो उसे और हंसी आनी शुरू हो गई।

'सच सुकेत, मैंने तो कुछ सोचा ही नहीं, बस बनाती रही, बनाती रही। छुटका मां कह कर गयी थी, भइया के लिये बना चुको तो मुझे बुला लेना, मैं खाना ले जाऊंगी।' उस वक्त मुझे हंसी आयी थी सोचकर, कि भिजवा-ऊंगी। क्या खुद मैं ही लेकर चली जाऊंगी, लेकिन अब सोचती हूं, कि छुटका मां भी पिछली बारादरी में पड़ कर सो गयी होगी, नहीं तो मैंने नहीं

बुलाया तो खुद तो आकर पूछ लेती।

'चलो कोई वात नहीं, इस सबके वहाने तुम इतना हंसीं तो सही, नहीं तो तुम तो हमेशा इतनी सीरियस रहती हो, जैसे तमाम दुनिया की जिम्मे-दारी तुम्हारे ऊपर ही तो हो। चलो अव मेरा दोस्त अजय वैठा है वाहर, हमें खाना खिला दो।'

'सच यह तो वहुत ही अच्छा है, अव इन रोटियों का कुछ तो सदुपयोग हो जायेगा।'

'ओह, वो सव कुछ नहीं। अजय तो चावल ही ज़्यादा खाता है फुल्का तो वह एकाध ही लेगा, तुम्हें तो मालूम ही है, यहां के वंगालियों का खाना।'

'खैर देखा जायगा, चावल भी हैं।'

'और क्या है ?'

'और वहुत सी चीज़ें हैं, तुम चलो तो सही, उसे वैठाओ; तुम भी वैठो और हां तुमने भी मुझे आकर क्यों नहीं टोका, देखो क्या वज गया!' अचानक मनीषी की दृष्टि दीवाल घड़ी पर गयी—'पूरे दो। मेरी छुट्टी है, इसका मतलव यह तो नहीं कि मैं अपना सारा टाइम रसोई में खड़े-खड़े ही गुज़ार दूं!'

'ओफ़्फ़ो, मनि माशी डोन्ट वी फ़सी! अव अपनी ग़लती दूसरों के सिर मढ़ने से तुम्हें क्या मिलेगा। डोन्ट वरी, कम ऑन।' और सुकेत लापरवाही से हाथ हिलाता कुर्त्ते की वाहों को कोहनियों तक चढ़ाता वाहर निकल गया।

सुकेत के जाने के वाद ही छुटका मां हड़वड़ाती हुई रसोई के भीतर घुसी।

'विटिया, तुमने मुझे वुलाया ही नहीं।' छुटका मां के हाथ तेजी से अपने वालों का चुट्टा वनाने में लगे हुए थे।

'अरे छुटका मां कुछ मत पूछो, तुमने मुझे नहीं वुलाया, मैंने तुम्हें नहीं वुलाया, वस छुट्टी हुई। तुम सो लीं, मैंने इतनी ढेर-सी रोटियां वना डालीं, अव ये पतले-पतले फुल्के अपने शेरों को खिलाओ।'

'अरे विटिया!' छुटका मां अव हाथ धोकर रोटियां उठाती हुई उन्हें तोलने-सी लगी थीं।

'चलो कोई बात नहीं, तुम्हें ही परेशानी हुई, शेरू बीरू तो सब खा लेंगे। मुझ पर भी क्या मौत पड़ गयी।'

'सो गई थीं न!' मनीषी रसोई के कोने में लगे सिंक में हाथ का आटा छुटाती हुई अब भी दीवाल घड़ी की ओर देख रही थी।

'अरे सो कहां गयी थी बिटिया, वो उधर मालिन की बेटी चमोली बुखार में तप रही थी न, उसी के पास तन्निक जाकर बैठ गयी थी, बस इत्ती देर हो गई। मालिन माली को रोटी देने चली गयी थी।'

'ओह माली अब भी कारखाने में काम करता है?'

'और क्या बिटिया!' मनीषी सोचने लगी सुपर्णा दी ने अपने समय में ही माली का यह इन्तजाम कर दिया था। डॉक्टर साहब के ज़माने में पूरे दिन माली इधर ही रहता था, पर जब से डॉक्टर साहब नहीं रहे, माली की तनख्वाह घटा कर उसे बाहर काम करने की छुट्टी दे दी गयी थी। सुपर्णा दी अपने हर आदमी की इतनी ही चिन्ता करती थीं।

'बिटिया, सामान डाइनिंग टेबुल पर ले चलें?'

'ले चलो, उधर सुकेत के दोस्त भी हैं।'

'ओह, चलो भली है, उस बहाने भइया कुछ खा लेंगे।'

'वो ही मैं सोच रही हूं छुटका मां, तुम तब तक उधर सामान लगाओ मैं तब तक थोड़ी-सी फ्रूटक्रीम बना लूं। दस पांच मिनट और लग जायेंगे, वैसे तो सुकेत मुझे कुछ करने ही नहीं देता, हमेशा योंही रोकता रहता है, 'क्या फ़ायदा बनाने से जब मैं खाऊंगा ही नहीं।' मैं जानती हूं सुकेत को न खाने का बहाना क्यों रहता है। उसे हमेशा चिन्ता रहती है, कहीं मुझे देर न हो जाय, कहीं मैं थक न जाऊं।'

सुकेत के मित्रों के सामने विविध प्रकार के व्यंजन सजाना मनीषी के लिये एक सुखद मनोरंजन था। भीतर ही भीतर सुकेत इससे प्रसन्न होता है या नहीं उसने यह जानने की कभी कोशिश नहीं की। हां उसे हमेशा यही आत्मतोष रहता, कि इस बहाने सुकेत ने भी इतनी चीज़ें खा लीं।

इस समय सब कुछ सजा कर बैठी तो वह प्रसन्न थी, जैसे अब तक का सोचा-मथा हुआ जैसे एकदम पुंछ गया हो।

'सुकेत अजय, दोनों आओ, तुम लोगों को तो आज कितनी देर हो

गई।'

'नहीं माशी कुछ नहीं, हम दोनों तो गप्पों में लीन थे, समय का कोई ध्यान ही नहीं रहा। फिर चैस खेलने लगे तो।...' सुकेत की ओर देख कर अजय हंसा।

'तो ?' मनीषी ने सब्ज़ी परोसते हुए अजय की ओर प्रश्नात्मक दृष्टि से देखा।

'तो बता दूं सुकेत ?'

'बता दे, माशी को क्या नहीं मालूम ?'

'ओह मैं समझ गयी।'

'क्या समझ गयीं ?'

'बताऊंगी, पहले खाना शुरू करो।' मनीषी अब दाल और दोनों सब्ज़ियां पूरी तरह परस चुकी थी।

'और आप माशी—आप तो आइये।'

'हां, अब क्या करना शेष रह गया है ? चीज़ों की एक छोटी-सी बारात तो मेज़ पर लग चुकी है।' सुकेत ने कहा।

'तुम दोनों को खिला कर खाऊंगी न मैं !'

'हम दोनों को कैसे खिलाओगी, हाथ से ग्रास बना-बना कर ?'

'हां, वह भी कर सकती हूं, अगर तुम चाहो ! बीमारी में खिलाया नहीं तुम्हें ?'

'अच्छा-अच्छा, अपने लिये भी परस लो, फिर बताओ तुमने अजय की बात क्या समझ ली। हमेशा कह कह कर लज्जित करती रहती हैं, बीमारी में यह किया, बीमारी में वो किया।'

'ओफ़्फ़ो, इसमें लज्जित होने की क्या बात है। बच्चे बीमार पड़ जाते हैं तो घर के व्यक्तियों को सभी कुछ करना पड़ता है, इसमें चिढ़ने की क्या बात है ?'

'ख़ैर, तुम अपनी थाली परसो।' सुकेत का आदेश पा मनीषी थाली परस कर ले आयी।

'हां, अब बताओ, क्या कह रही थीं तुम ?'

'तुम चिढ़ जाओगे !'

'क्यों, चिढ़ूंगा क्यों ? चिढ़ने की बात कहोगी तो अलवत्ता चिढ़ूंगा।'

'हां, मैं कह रही थी, कि तुम्हें भी क्या चैस खेलनी आती है ?'

'तुम्हें किसे, मुझे या अजय को ?'

'तुम्हें। अजय का तो अभी मुझे कुछ मालूम ही नहीं।' मनीषी हंसी।

'आओ, तुम मेरे साथ खेलने बैठ जाओ, न रुला दिया, तो कहना ! वैडमिन्टन में तो हार मान ही गयी हो न।'

'वैडमिन्टन ! अरे भइया, ज़रा सोच-विचार कर बोलो, उस समय तो तुम बच्चे थे, मैं खुद ही हार-हार कर तुम्हें जिताती रहती थी, सोचती थी हार जाओगे तो दुःखी होगे।'

'देख लो मनि माशी, अगर तुम्हें इन्हीं बातों से खुशी होती है तो चलो यही सही !' सुकेत के चेहरे का रंग बुझ-सा गया। मनीषी के हृदय में कहीं कुछ चुभा, बोली, 'ओफ़्फ़ो, मैं यह थोड़ी कह रही हूं कि तुम्हें चैस आती ही नहीं। मेरा मतलब है कि अभी तुम्हें खेलने का उतना अभ्यास नहीं है।'

'चलो-चलो, अब लीपा-पोती मत करो। तुम्हें इसी से सन्तोष है तो ठीक है।'

'अजय, तुम्हारे मित्र में स्पोर्टिंग-स्प्रिट नहीं है न, देखो ज़रा-सी बात कह दी और मुंह फूल कर कुप्पा हो गया।' मनीषी ने नाटक किया।

सुकेत मुंह लटकाये रहा।

'जितनी तोहमतें लगाना हो, लगाओ मैं तैयार हूं।'

'नहीं माशी मां, ऐसी बात नहीं है, सुकेत तो मुझे सिखा रहा था, मैं ही चैस खेलने में कच्चा हूं।'

'तुम दोनों कच्चे हो, एक दिन तुम दोनों का इम्तहान होगा, और इम्तहान लूंगी मैं। हां तो तुम क्या बता रहे थे अजय, अब बताओ न !'

'नहीं कुछ नहीं, अब तो कुछ भी कहना बेकार है। पर माशी मां, आपको चैस खूब आती है न ?'

'कभी आती थी।' मनीषी ने एक लम्बी सांस ली, 'छोटी थी, बीमारी से उठी थी, तो मन बहलाने के लिये बाबू से चैस खेलने के लिये कहती, उनके साथ बिस्तर पर लेटी-लेटी घंटों खेलती रहती, बाज़ी उठने पर ही

नहीं आती थी। मां चिल्लाती थीं, पर दोनों ऐसे उलझे रहते, कि दीन दुनिया की ख़बर न रहती—। वो दिन भी कैसे थे।' हाथ का ग्रास हाथ में ही थामे मनीषी की दृष्टि कहीं दूर देखती रही।

'अरे हमारी माशी का कुछ मत पूछो, हरफ़न मौला हैं।' सुकेत ने ध्यान बंटा कर मनीषी को वापिस बुला दिया। सब खिलखिला कर हंस पड़े, अचानक छाई उदासी की बदली फिर छंटी तो छंटती ही चली गयी। अजय और सुकेत चटख़ारे ले लेकर खा रहे थे और मनीषी प्रसन्न थी, तभी उसके मन में फिर एक सवाल उठा, पानी ख़त्म हो जाने पर पानी की बोतल फ्रिज़ से निकालती हुई बोली,

'अजय, सुकेत इस वर्ष परीक्षा न दें तो कैसा रहे?'

'क्यों माशी मां, यह तो इतना होशियार है—।'

'माशी चाहती है मेरे दिमाग़ में जंग लग जाये इसलिए। और हां इस बारे में अजय क्या जान सकता है, यह तुम्हारा क्या प्राइवेट सेक्रेटरी है?' सुकेत ने मनीषी की ओर घूर कर देखा।

'वो कुछ नहीं, मेरी बात सुनो।' मनीषी खाते-खाते एकदम गम्भीर हो गई, 'बात यह है, कि परीक्षा का मुश्किल से डेढ़ महीना रह गया है और तुम इतने दिन बीमार रह कर उठे हो, इम्तहान दोगे तो फिर डटकर मेहनत करनी पड़ेगी, कितना स्ट्रेन पड़ेगा, सोचो, अच्छा भला आदमी इम्तहान के दिनों में दुबला जाता है। मेरी राय तो यही है कि···।'

'कि तुम इम्तहान न दो।' वाक्य सुकेत ने ही पूरा किया, फिर पानी का गिलास हाथ में थामे हुए ही बोला—

'अगर तुम्हारी राय मानी जाय तो अच्छा भला आदमी पागल हो जाये। अब बताओ!' अजय की तरफ़ घूमते हुए सुकेत ने कहा, 'मुझे क्या हुआ है, ठीक तरह खाता-पीता हूं। अच्छा खासा तन्दुरुस्त हूं।'

'इस बारे में मुझे ज़्यादा मालूम है या तुम्हें? डॉक्टर मैं हूं या तुम?'

'ऊंह, हमेशा अपने डॉक्टर होने की धौंस जमाये रहती हैं। तुम डॉक्टर हो तो तुम्हारे दो काम हैं मरीज़ की फिजिकल और मैंटल दोनों तन्दुरुस्तियों का ध्यान रखना। यह नहीं, कि फ़िज़ीक का इतना ध्यान रखा जाय, कि माइण्ड भूसा बन कर रह जाये।'

'मैं सब जानती हूं सुकेत, तुमसे ज़्यादा मैं सोच सकती हूं, सोचती रहती हूं। मैं इस समय अजय से बात कर रही हूं, तुमसे कुछ नहीं कह रही।'

'यह खूब रहा, मेरे बारे में बात हो रही है और मैं कोई राय न दूं!'

'तुमसे जब पूछा जाये तब राय दो। हां तो अजय ज़रा तुम मेरी बात पर विचार करो कि मैं ठीक कह रही हूं या नहीं।'

अजय गम्भीर हो गया, सुकेत ठठाकर हंस पड़ा।

'तुम दोनों लम्बे-लम्बे चेहरे लटका कर बैठ जाओ, मैं तो चला, अब तान कर सोऊंगा।'

अजय मुस्कराया। 'माशी, आप इसी से पूछ लीजिये इम्तहान देना चाहता है तो देने दीजिए। यह तो कॉलेज में बहुत होशियार लड़कों में से है।'

'देखा!' सुकेत ने कुर्ते के गले के पास हाथ करके कॉलर ऊंचे करने का नाटक किया।

'सुना!'

'ओफ़्फ़ो!' मनीषी खिलखिला कर हंसी, 'तुम मेरा मतलब नहीं समझ रहे हो। ठीक है, होशियार हो, बहुत होशियार हो, पर अब इम्तहान के लिये जो मेहनत करनी पड़ेगी, मैं उसकी बात कर रही हूं; समय जो कम है!'

'भई हमारी मनि माशी तो ऐसा डर रही हैं जैसे इन्होंने कभी एक भी इम्तहान न दिया हो, कभी किताब खोल कर भी न देखी हो। बोलो, डेढ़ महीना यानी पैंतालीस दिन यानी पैंतालीस इन्टु चौबीस यानी एक हजार अस्सी घण्टे—इतना समय कुछ होता ही नहीं? मैं तो कहता हूं माशी मेरे सिर पर तेल मालिश करती रही, मुझे जूस पिलाती रही और फिर देखना तुम्हारा सुकेत कहां जाता है, क्या करता है, हुं!' सुकेत कहीं दूर हवा में देखने लगा था। भाषण फिर भी जारी था

'मुझे मालूम है, तुम क्या सोच रही हो। सोचती हो, मैं इम्तहान दूंगा तो फेल हो जाऊंगा, यही न! पर मैं कहता हूं मैं इसके लिये भी तैयार हूं, चलो यही सही।' सुकेत मनीषी के चेहरे पर अब घूर कर देखने लगा था।

मनीषी अव तक चुप थी, जड़ वनी सव कुछ सुन रही थी, सुकेत के मुंह के आखिरी शब्द सुने तो अकचका कर वोली।

'शि! शि! अशुभ मुंह से क्यों निकालते हो।'

'तुम मुझे उल्टी-सीधी बातें कहकर कमज़ोर क्यों बनाती हो?'

'ओफ़्फ़ो वावा, तुम जीते मैं हारी, चलो इम्तहान दो, पर देखो चिन्ता विल्कुल नहीं, खेलो-कूदो, खूब अच्छा खाओ-पिओ···।

'और निर्द्वन्द्व रहो।' मनीषी की ही भाषा में सुकेत ने वाक्य पूरा किया।

सव लोग खाने की मेज से हट गये तो एक निर्णय लिया जा चुका था। मनीषी का हृदय अव हल्का था, पर मन में कुछ कांप-सा भी रहा था—कितना ज़िद्दी है, जो ठान लिया सो ठान लिया, फिर न खुद कुछ सोचना न दूसरे को सोचने देना।

सुकेत और अजय दोनों हाथ धोकर और मेज़ पर ही एक कोने में रखी प्लेट में से इलायची-सोंफ लेकर वाहर चले गये तो मनीषी भी उठ कर अपने कमरे में चली आयी। छुटका मां मेज़ पर रखी चीज़ों को आकर समेटने लगी।

सुकेत की वीमारी के वाद ही मनीषी ने अपने इस कमरे को फिर व्यवस्थित कर लिया था और सुकेत के कमरे को फिर से ज्यों का त्यों पढ़ने और सोने के लिये ठीक कर दिया था। इस काम में इन छुट्टियों में उसे पूरे दो दिन लगे थे—अपने कमरे में आकर वह आश्वस्त हो जाती है, कई वार लेटे-लेटे यों ही हृदय पर कोई घन-सा पटक देता है।

'यह तेरा कमरा नहीं है, कुछ दिनों वाद ही तुझे यहां से चले जाना है।'

'पर रहेगा तो यह मेरा कमरा ही।' वह प्रतिवाद करती है। कभी-कभी आती-जाती रहूंगी, जैसे सुपर्णा दी के सामने आती थी, आख़िर यहां का सब इन्तज़ाम तो मुझे ही देखना है न!' वह खुद को ही समझाने लगी थी, सहसा दृष्टि सामने खिड़की के वाहर गयी, तो देखा, सामने गेट के पास

ही सुकेत खड़ा था। अजय बस जाने को ही था। सुकेत और अजय ! अरे, सुकेत इतना लम्बा हो गया है ! उसे आश्चर्य हुआ, दृष्टि और गहरी हो गई।

अजय और सुकेत दोनों लम्बे हैं, पर सुकेत उससे दो मुट्ठी और ऊंचा दिखाई देता है। बीमारी में दुवला हो जाने के कारण ही लम्बा दिख रहा है। वह सोचने लगी : या लड़के बढ़ते हैं तो फिर बढ़ते ही चले जाते हैं। छिः छिः यह वह क्या सोचने लगी ? अपने पलंग पर बैठे-बैठे ही पीठ पर बिखरे बालों का जूड़ा लपेटते हुए उसने अपनी ज़बान काट ली : वह सुकेत को नज़र लगा रही है। अभी तो किसी तरह खाट से उठा है। लम्बा है, पर दुवलापन देखो, हाथ की हड्डियां लम्बी हैं, इन पर मांस चढ़े तब ठीक हो, चलो धीरे-धीरे सब हो जायेगा। जूड़े में दो चार पिन यों ही खोंस उसने पास रखे ट्रांजिस्टर की सुई हिला कर गीतों के स्टेशन पर टिका दी, गीत सरकने लगा तो वह फिर बाहर देखने लगी—गेट पर दोनों ओर खड़े गोलाकार गुलमोहर के पेड़, नीचे धरती पर अपना बुर्जनुमा प्रतिबिम्ब बना रहे थे, पत्तियों के बीच छन-छन कर आती धूप-छांह की रेखाएं। सहसा सुकेत के ज़ोर से हंसने के स्वर ने उसे चौंका दिया, उसे लगा वह कोई नया स्वर सुन रही है। अब तक के हल्के किलक भरे मधुर हंसी वाले स्वर से बिल्कुल भिन्न, खरहरा गम्भीर स्वर। उसे याद आया, दो चार बार पहले भी उसने यह स्वर सुना है, सुकेत के स्वर का यह खरहरापन उसे प्रिय है—वह कुछ सोचने लगी। हंसी का स्वर और ऊंचा हो उठा, खरहरा दबंग चिन्तामुक्त। हृदय में एक हल्की पुलक जगी, उसके होने से ही सुकेत, निश्चिन्त है, खुश है। कितनी मुश्किलों के बाद यह स्वर सुनने के लिये मिला है, नहीं तो तकिये पर आंखें मूंदे औंधा-अचेत पड़ा रहता था···। तकिये को खिसका कर लेट कर वह गीत की कड़ी सुनने लगी, उंगलियों ने पास ही रखी पत्रिका के पन्ने पलटने शुरू कर दिये—कलकत्ते के दंगों पर एक समीक्षात्मक लेख—आंखें लेख पर जमाने की कोशिश की, पर दृष्टि हट कर फिर बाहर चली गयी।

बंगाली ढब का कुर्त्ता-धोती पहने, बाहों को छाती पर कैंची-सा बांधे, सीधी सतर गर्दन और घुंघराले बाल—सुकेत की पीठ उसकी ओर थी—

क्या ढंग है इन लड़कों का भी, अब विदा करने गये हैं, तो भी घण्टों लगा रहे हैं, बातें बातें और बातें। उलाहना देते हुए भी जैसे हृदय का सम्पूर्ण ममत्व उस पर चुआ पड़ रहा हो; कब हुआ सुकेत इतना बड़ा? इतना खरहरापन, दबंगपन उसके स्वर में कब उगा? वह सोचने लगी; अपने आंगन में खड़े लम्ब-तड़ंग पेड़ को भी छोटे शिशु-पौधे के रूप में भी देखा होगा—वृक्ष के उस क्रमिक विकास को घर में रहने वाले प्राणी भला कहां याद रख पाते हैं। सुपर्णा दी के समय में कितना छोटा हुआ करता था, इतनी समझदारी की बातें करना कहां जानता था—उसकी स्मृति में वह दिन रंग गया, जब वह पहले दिन इस घर के इसी दरवाज़े पर आकर खड़ी हुई थी और सुकेत ने उससे आकर बड़ी शालीनता से कहा था—

'मां को पूछ रही हैं? अभी बुलाता हूं!' उस दिन का स्वस्थ सुन्दर ताम्रवर्णी देहवाला, दूध की तरह सफ़ेद पोशाक में लिपटा एक सुदर्शन किशोर। वह सुकेत को देर तक देखती रही। सुपर्णा दी आज होतीं तो? वे रही होतीं तो सुकेत की बीमारी में उसे इतने परेशान होने की ज़रूरत क्या थी। सुपर्णा दी खुद संभालतीं, चिन्ता करतीं···। ऊंह सुपर्णा दी देखतीं! अतीत के कुछ शब्द ठकठक बजने लगे—

'मनीषी, तनिक इधर आ, मुझसे तो यह दवा ही नहीं खा रहा, तू ही खिला।'

'तुम एकदम पागल हो दी, तुम्हें दवा खिलाना ही नहीं आता। सुकेत ज़िद्द थोड़ी करता है, हटो!' सुपर्णा दी को शब्दों से एक तरफ़ ठेल कर सुकेत को घुटने से टिका कर बीमारी के दिनों में दवा उस समय भी उसे ही खिलानी पड़ती थी—कुछ यादें, कुछ बिम्ब, कुछ चित्र उभरते आ रहे थे।

'मुझे खाने की अभी कोई जल्दी नहीं है, माशी को आ जाने दो। तभी खाना खाऊंगा।'

'क्यों, स्कूल से सारे दिन के बाद लौटा है और तुझे भूख ही नहीं है। माशी के लिए बैठा है; उसका कोई ठिकाना है, कब आती है। कौन जानता है, आती भी है या नहीं, उसका कोई ठीक है? अस्पताल जाकर उसे चेत रहता है···।'

'मैं कह रहा हूं, मुझे भूख नहीं है। स्कूल में दोस्तों ने अड़गम-सड़गम

इतना खिला दिया है कि···। थोड़ा पढ़ लेने दो, तंग मत करो।'

'अभी स्कूल से आया है, कुछ आराम ले ले ना, आते ही क्या प
लगा ?'

'मां, मुझसे ज़्यादा तुम समझती हो क्या ?' सुकेत का झुंझलाता चिढ़
चिढ़ाता स्वर।

सुपर्णा दी चिरौरी कर रही थीं और वह अस्पताल से लौट कर पीछे के दरवाज़े से अपने कमरे में आ जल्दी-जल्दी कपड़े बदल रही थी। सुकेत के मुंह से 'अड़गम-सड़गम' शब्दों ने उसे गुदगुदा दिया था, पर वह ज़ोर से नहीं हंसी थी। चुपचाप कपड़ें बदल कर बाहर आकर ही खिलखिलायी थी। उस समय भी सुकेत किसी बड़े साहब की तरह गुरु गम्भीर चेहरा बनाये बैठा था—उसे याद आया, सुकेत के लौटने के समय तक घर लौट आने का प्रयत्न वह क्यों करती रहती थी—यह उस समय वह कहां जानती थी। आज भी नहीं जानती, आज भी वह उतनी ही चिन्ता कर रही है, शायद उससे ज्यादा। प्रायः असफल रहती है, यह बात दूसरी है।

उस दिन सुकेत उसे देखते ही चीखा था, 'माशी।' चीख की उस गूंज में ही वह सुपर्णा दी के जिस वाक्य को लेकर झगड़ने जा रही थी इतने दिनों बाद आज वही वाक्य उसके कानों में फिर बजने लगा: अस्पताल जाकर उसे चेत रहता है, अस्पताल जाकर चेत रहता है!! काश अस्पताल जाकर वह सचमुच अचेत हो गई होती तो उस दिन अस्पताल से उसे तुरत ुरत तो न लौटना पड़ता।

आज सुकेत इतना बड़ा हो गया है···तीन-साल में ही कितना कुछ झने लगा है, पर अब भी सब कुछ कहां समझता है। कभी-कभी एकदम च्चों की-सी ज़िद्द करने लगता है, जैसे घर की सारी ज़िम्मेदारी यही तो ल लेगा···। नींद में क्या अटर-सटर सोच रही है, बुदबुदा रही है···। सुकेत अजय को विदा कर कब अपने कमरे में जाकर लेट गया, उसे ही न चला, काश उसके जगते हुए ही वह अपने कमरे में चला जाता, निश्चिन्तता तो हो जाती!

चार

पड़ोस का विकी बता गया...'अस्पताल से फ़ोन आया है, डॉ० शुभा और डॉ० माण्डेकर सुकेत भइया को देखने घर आयेंगी।'

'एं अरे!!' सुन कर मनीषी को आश्चर्य हुआ। अब तो सुकेत लगभग अच्छा ही है, क्या देखने आ रही हैं सब? डॉक्टर शुभा और माण्डेकर आयेंगी तो डॉक्टर चित्रा भट्टाचार्य और डॉक्टर कुलकर्णी रह जायेंगी? और बासन्ती, जूली? लगता है सब आयेंगी, और हो सकता है न भी आयें, इतना स्टाफ़ एकदम कैसे निकल सकता है!

आज उसकी छुट्टी को ग्यारहवां दिन है। ग्यारह दिन तक सबने कैसे इन्तज़ार किया और जब इतने दिन इन्तज़ार कर ही लिया तो दो-चार दिन और रह जातीं, पन्द्रहवें दिन बाद तो वह अस्पताल पहुंच ही जाती। ओह, पर वो मुझे देखने के लिए थोड़ी आ रही हैं, सुकेत के लिए आ रही हैं। इतने दिनों में तो सुकेत भी काफ़ी स्वस्थ हो गया है, कहीं नजर न लगा जायें, पर ऊंह, डॉक्टरों की नज़र नहीं लगती और फिर सब अपनी ही तो हैं और अभी सुकेत पूरी तरह ठीक हुआ ही कहां है, जिस दिन घरसे बाहर निकलकर दस बारह मील शहर का चक्कर लगा आयेगा और लौटकर कमज़ोरी अनुभव नहीं करेगा उस दिन जानूंगी कि सुकेत पूरी तरह ठीक है। अभी क्या, अभी तो ज़रा सी देर पढ़ा नहीं, कि फिर बिस्तर पर लम्बे...। हां सब आयेंगी तो कुछ खिलाने-पिलाने के लिए भी तो होना चाहिए, आखिर सूचित करके आ रही हैं। यों ही चली आतीं तो बात दूसरी थी, कुछ भी खिलाया-पिलाया जा सकता था...। उसे ध्यान ही न रहा, कि विकी इतनी देर से यों ही उसके सामने खड़ा है और वह उसके सामने ही इतनी ध्यानलीन हो गई है। अब ध्यान आया तो विकी के गालों को थपथपा कर और बिस्किट के डिब्बे में से उसे दो बिस्किट थमा कर उसने विदा किया, खुद छुटका मां के पास रसोई में आकर खड़ी हो गई।

'छुटका मां, मेरे साथ काम करने वाली सब डॉक्टर लोग आज अस्पताल से आ रही हैं, क्या खिलाओगी उन्हें तुम? अच्छी-अच्छी चीजें बनाओगी न? उन्होंने तुम्हारी बहुत तारीफ़ सुनी है!'

'विटिया, झूठमूठ की तारीफ़ मत किया करो, जो तुम कहोगी वही द ा देंगी, पर हमें तो डर लगता है कहीं ठीक न वना तो !' छुटका मां ने अपना डिवियानुमा पानदान वन्द करते हुए कहा।

'हुं, डरने की कोई वात नहीं, कोई वाहर की थोड़ी हैं सव !' उसने छुटका मां को आश्वस्त किया, खुद भी संतुलित हुई। सव साथिनों के आगमन के समाचार ने उसे एकाएकी जिस वुरी तरह झनझना दिया था, उस आवेग से वह मुक्त हुई। हृदय में एक हिलोर सी जगी, चलो अच्छा है आयेंगी तो कुछ अस्पताल के हाल भी मालूम हो जायंगे, सवको देख भी लेंगी। इतने दिनों से किसी को भी नहीं देखा है। यहां रहते-रहते उसे कभी-कभी भ्रम हो जाता है, जैसे वह अपने परिवार से कट कर आ गयी है, अस्पताल उसका अपना घर ही तो है···उसका अपना कुटुम्व तो वही है··· शुरू-शुरू में जव आयी थी तो कलकत्ता एकदम नया लगता था, हर चीज़ नयी, एकदम नया माहौल; अस्पताल की ऊँची-ऊँची दीवारों के भीतर दहशत सी होने लगती थी। आधी-आधी रात तक जगती वह विस्तर पर करवटें लेती रहती थी, नाइट ड्यूटी होने पर न जाने क्या-क्या सोचती रहती थी···डॉक्टर शुभादत्ता, डॉक्टर माण्डेकर ने वह सव कुछ कैसे भांप लिया था···वे उसे प्रायः अपने साथ रखतीं, उसके क्वार्टर में आकर चीज़ों को खुद सजा संवार जातीं, अस्पताल की ड्यूटी से छुट्टी मिलने पर साथ वैठ कर वातें करतीं, धीरे-धीरे वह उस वातावरण की अभ्यस्त हो चली थी, अकेलापन फिर भी कभी-कभी किस वुरी तरह हावी हो जाता था। डॉक्टर उन दिनों अपने कॉलेज के कितने मनोरंजक किस्से सुनाती थीं, हंस-हंसकर सव लोटपोट होते रहते थे। उसके वाद तो सुपर्णा दी ने ही उसे अपना लिया था···सव डॉक्टर साथिनें धीरे-धीरे सव कुछ देखती रही थीं···।

उस दिन डॉक्टर माण्डेकर कितनी उदास थीं, पूछा तो टाल गयी थीं, वड़ी मुश्किल से वताया था, उसके इस तरह सुपर्णा दी के साथ मिलने-जुलने ने उन्हें कितना खाली कर दिया था, अव भी हैं। परिवार के होने पर भी सुपर्णा दी के यहां कुछ देर के लिए चले जाने पर भी उसकी अनुपस्थिति उन्हें खलती है···वह जानती थी। उम्र में काफ़ी वड़ी होने पर भी डॉक्टर

माण्डेकर अपने साथ की ही लगती हैं। इतनी देर से घर की सफ़ाई में उलझी मनीषी सोचने लगी। इतने दिनों से घर की तरफ़ देखा ही नहीं था— सुकेत की बीमारी और रात-दिन की भाग दौड़ में और उसके बाद छुट्टी ले लेने पर भी पूरी तरह सुकेत की चर्या में ही व्यस्त रहने के कारण वह अभी तक मकान की बारीक सफ़ाई से तटस्थ ही थी। आज महसूस हुआ, इसी बहाने से सही, घर को ठीक कर ही लेना चाहिए। वह ड्राइंग रूम के सोफ़ा सेट पर लगे कुशनों के गिलाफ़ बदलने लगी, कार्निस और ताख़ पर रखी चीजों पर धूल की एक हल्की पर्त पुर गयी थी। बारीक कपड़ा लेकर वह स्टूल रख कर पोंछने चढ़ी, तो आध घण्टे तक चढ़ी ही रही, एक-एक खिलौना एक-एक चीज़ खूब झाड़ा-पोंछी चाहती थी। कमरे में लगी बहुत-सी चीज़ों ने स्मृति को मथना आरम्भ कर दिया···सुपर्णा दी के समय की कितनी स्मृतियां। सफ़ाई में वह खुद लगी थी, सुकेत को उसने पढ़ने की मेज़ से नहीं हटने दिया था।

'जो कुछ पढ़ना हुआ करे, दिन में ही पढ़ लिया करो, रात में जगने से नुकसान होता है, नींद अलग ख़राब होती है। जब इम्तहान देना है तो पढ़ना तो है ही···।' सुकेत को समझा-बुझा कर वह इस कमरे में आयी थी। राजस्थानी खिलौनों की कतार को पोंछ-संवार कर निवृत्त हुई, तो कोने में खड़े लैम्प के नीचे रखी गोल टीक की टेबिल पर सजी गुड़िया पर दृष्टि गयी···छोटा सा कलात्मक पंखा लिए वह विचित्र गुड़िया छूने मात्र से ही अपना पंखा डुलाने लगती थी।

'दी, यह गुडिया कितनी प्यारी है। कहां से आयी है?' उस दिन वह इसी कमरे में यहीं, इसी सोफ़े पर बैठी एम्ब्रोयडरी करती सुपर्णा दी से पूछ रही थी। उसे लगा, सुपर्णा दी इस समय भी अपनी उसी मुद्रा में बैठी हैं, उसके पूछने पर सुई दांतों में दबा कर फूल के ऊपर का फ्रेम उतार कर मेज़पोश के दूसरे कोने पर कसती हुई वे उसे बताने लगी हैं···

'अरे इस गुड़िया की कहानी भी बड़ी विचित्र है। डॉक्टर साहब अमेरिका पढ़ने गये थे, तो वहीं इनकी एक स्त्री मित्र बन गयी थी। दोनों की अच्छी खासी दोस्ती थी। डॉक्टर साहब लौटने लगे, तो वह बोली, "मुझे अपने साथ इण्डिया ले चलना, हम दोनों शादी के बाद वहीं अपना

क्लिनिक खोलेंगे।' इन्होंने शायद उस समय तक अपने विवाहित होने की बात उसे नहीं बतायी थी। प्रायः अधिकांश भारतीय विद्यार्थी यही करते हैं। जब वह एकदम पीछे ही पड़ गयी, तब इन्होंने बताया, कि उनकी शादी हो चुकी है। सुन कर पहले तो बहुत रोई, फिर बोली, 'मैं इण्डिया आऊंगी, तुम्हारी वाईफ़ से कहूंगी, वे अब तलाक़ ले लें; तुम्हारे साथ वे अब काफ़ी दिन रह चुकी हैं।' डॉक्टर साहब ने बताया, कि सुन कर वे हंसे, कहने लगे—

'हमारे यहां तो एक जोड़ा कई जन्मों तक एक साथ रहता है।' उन्होंने उसे शिव-पार्वती की कथा भी सुनायी थी।

'क्या कहा तब उसने ?' उसने तब पूछा था।

'कहा क्या, सुन कर आश्चर्य में रह गयी।' सुपर्णा दी बता रही थीं, बोली, 'तब तो तुमसे उम्मीद रखने का कोई सवाल ही नहीं उठता।

'उसके बाद वह भारत आयी ?' उसने फिर पूछा था।

'कहाँ आयी। सुनते हैं, अपने देश से भी वह आस्ट्रेलिया चली गयी। वहीं उसने किसी भारतीय से शादी कर ली। उसके पत्र बहुत दिन तक डॉक्टर साहब के नाम फिर भी आते रहे, डॉक्टर साहब भी उसे बराबर लिखते थे। उसकी चिट्ठियां वे खूब संभाल कर रखते थे, कुछ चिट्ठियां तो शायद अब भी कहीं रखी हों। उसी ने यह गुड़िया भेजी थी।'

'ओह, शायद अपना प्रतिरूप।' उस दिन पूरी बात सुन कर वह ठठा कर हंसी थी।

'शायद।' सुपर्णा दी भी मुस्कराई थीं।

'दी, उन दिनों आपको बुरा नहीं लगता था, आपके अधिकार पर कोई दूसरा डाका डालने पर तुला बैठा था।'

'बुरा ज़रूर लगता, पर वहां तो शक-शुबह जैसी कोई चीज़ ही नहीं थी। डॉक्टर साहब खुद उसकी चिट्ठियां पढ़-पढ़ कर सुनाया करते थे। मैं कभी हंसी में कहती भी, कि उसे यहीं अपने पास बुला लो, तो डॉक्टर साहब हंसते थे, कहते थे, 'तब तुम्हें भी कोई ऐसा ही इन्तज़ाम करना पड़ेगा।' मुझे गुस्सा आता, बुरी तरह झुंझला कर कहती—

'गाली देने से तुम्हें बड़ा सुख मिलता है न। ख़ैर उन दिनों मैंने भी उसके लिये एक गुड्डा भिजवाया था। मैंने खुद बनाया था अपने हाथ से,

बिलकुल बच्चे जैसा लगता था।'

'सच !!'

'और क्या। उस गुड्डे को मैंने एकदम भारतीय पोशाक पहनायी थी, पूरा बानक भारतीय—धोती, कुर्ता, माथे पर त्रिपुण्ड और भी न जाने क्या-क्या, अब तो पूरी तरह कुछ याद भी नहीं है, उन दिनों मैं बहुत अच्छा गुड्डा बनाना जानती थी।'

'वो मैं अन्दाज़ लगा सकती हूं।' उस दिन प्रत्युत्तर में सुकेत के कमरे की ओर कनखियों से देखते हुए उसने कहा था। सुपर्णा दी उसके वाक्य में निहित ध्वनि को समझकर खिलखिला कर हंस दी थीं। दोनों देर तक हंसती रही थीं—आज अचानक उन दिनों की बातों को याद कर वह उदास हो गई। सुपर्णा दी अपने आखिरी दिनों में उन दिनों कितना कुछ बतियाती रहती थीं, अपनी शादी, घर के सैकड़ों ऊंच-नीच, अन्दर-बाहर की बात और सब से बाद में डॉक्टर साहब की मौत की बात—मनीषी के सामने कुछ भी किसी प्रकार कह देने में जैसे कोई बन्धन-संकोच कुछ भी न रह गया हो, कोई भी बात कोई भी घटना, उनके ऊपर जैसे कोई असर ही न डाल रही हो, तटस्थ भाव से पटर-पटर वे सब कुछ कहे जाती थीं—न खुशी की बात में खुशी, न रंज की बात में रंज। सुकेत के नाम डॉक्टर साहब के द्वारा लिखे गये वसीयतनामे की फ़ाइल भी वे उस दिन खोल बैठी थीं—

'मनीषी, सब कुछ सुकेत का है, पर इतने बड़े मकान इतनी सारी चीज़ों का सुकेत क्या करेगा, कैसे संभालेगा। आख़िर मेरे पीछे तू ही तो सब कुछ देखेगी।'

'मुझे क्यों बांधती हैं सुपर्णा दी !' शायद उसके इसी वाक्य से डरकर उन्होंने अपने आखिरी क्षण में उससे वह विकट वायदा करवा लिया था। उसके लिए निश्चित अपने वसीयतनामे पर वकील के दस्तखत सुपर्णा दी ने कब कैसे करवा लिये थे—वह गुत्थी उसके लिये आज तक गुत्थी ही बनी रही थी, उससे पूछे-दिखाये बिना उसकी सहायता के बिना तो वह कुछ भी नहीं करती थीं।

उस गुड़िया को हाथ में लिये उसको एकटक ताकती मनीषी देर तक खड़ी रही; कितनी दूरदर्शिनी थीं सुपर्णा दी, शायद सब कुछ पहले ही जांच-

परख बैठी थीं, तभी न उनकी क्रिया में सम्मिलित होने वाले उनके सभी सम्बन्धियों को निराश होकर ही जाना पड़ा था।

क्यों किया सुपर्णा दी ने वह सब कुछ ? शायद वे अपने सभी नाते-रिश्तेदारों को बहुत गहराई से पहचानती थीं—'सुकेत का साथ देने वाला एक नहीं, मनीषी, एक भी नहीं है !' एक लम्बा इतिहास प्रस्तुत करते हुए एक लम्बी सांस भरकर उस दिन वे बहुत देर तक बताती रही थीं—'कोई भी कुछ भी करने वाला होता तो डॉक्टर साहब के पीछे इन चार-छह बरसों में कोई तो आकर झांकता-देखता। अब मेरी मौत पर सब आयेंगे, ज़रूर आयेंगे, तू देख लेना, मैं आज कहे दे रही हूं मनीषी !' त्रिकालदर्शिनी थीं क्या सुपर्णा दी ? सुपर्णा दी को अब वह कैसे बताये, कि उनकी भविष्य-वाणी अक्षरशः सही निकली है। वही सब, सब कुछ वही बिल्कुल वैसे ही ढंग से हुआ था। सुपर्णा दी की बतायी वह पूरी पृष्ठभूमि कितनी करुण थी, कितनी सन्तापकारी। व्यक्ति का स्वार्थ और नृशंसता कभी-कभी अपने कहे जाने वाले व्यक्तियों से व्यक्ति को कितनी बुरी तरह काटकर फेंक देते हैं। गुड़िया को पोंछकर उसने यथास्थान रख दिया, फिर उसे टकटकी लगाकर देखने लगी।

उस विदेशिनी ने किन भावनाओं से आपूरित हो इस गुड़िया को डॉक्टर साहब के पास भेजा होगा ? गुड़िया के चेहरे पर एक अजीब-सा भोलापन था—चिकने रंगीन गालों के गड्ढों में जैसे उल्लास की थिरकन सदा-सदा के लिये समा गयी हो, गुलाबी ओठ मज़बूती से एक-दूसरे से सटे, जैसे अब कभी कुछ न कहने की ,उन्होंने कसम खा ली हो। बटन दबाने पर पंखा इस तरह डुलाने लगती थी, जैसे मीलों की मंजिल को तय करके आया हुआ राही पसीने से तरबतर हो गया हो—डॉक्टर साहब ने इसे पाकर क्या सोचा होगा ? डॉक्टर साहब कितने भावुक और मायावी रहे होंगे, जिन्होंने अपने शील-सौन्दर्य से एक विदेशिनी को इस कदर उलझा लिया। इतने दिन बीत जाने पर भी गुड़िया के नाक-नक्श और रंग-रोगन में दरार तक नहीं आयी थी, उसे आश्चर्य हुआ। गुड़िया से हटकर उसकी दृष्टि दीवार पर ऊंचे पर टंगी डॉक्टरसाहब की फ्रेमजटित तस्वीर में उलझ गयी—सुन्दर कटावदार चेहरा, स्वस्थ अंगों वाली सुन्दर सानुपातिक देह,

सम्पूर्ण व्यक्तित्व अत्यधिक दबंग, प्रभावशाली—कुछ बरसों में सुकेत बिल्कुल ऐसा ही हो जायेगा—सुकेत में इस फ़ोटो की काफ़ी कुछ झलक मिलती है, उसकी आंखें कल्पना में इस तस्वीर के साथ सुकेत की आकृति की नाप-जोख करने लगीं।

कार्निस की चीज़ों को व्यवस्थित कर वह रेडियो के पास आयी—कवर मैला दिखा, पर अब धोने का समय नहीं था। इतने दिनों से तो कुछ देखने-सुनने का अवसर ही नहीं मिला, चलो इस बहाने कुछ सफ़ाई हो गई। रेडियो पर फ़ोटोफ्रेम में जड़ी उसकी अपनी तस्वीर रखी थी, अस्पताल से घर में आकर रहने के बहुत दिन बाद उसमें संकोच खुलने पर सुकेत ने खुद उसके बक्स से निकाल कर उस फ़ोटो को रेडियो पर सजा दिया था। वह अपनी तस्वीर घूर कर देखने लगी—यह वही है, यह खुद उसकी तस्वीर है? वह ऐसी है, बिल्कुल ऐसी? उसे आश्चर्य हुआ, क्या वह इतनी सुन्दर है, इतनी कोमल? काश, व्यक्ति की आँखें कहीं बाहर होतीं, कि वह जब चाहे अपने चेहरे को सम्पूर्ण देख लेता! मनुष्य अपने में कितनी रुचि लेता है, तभी न डेल कार्नेज ने कहा है, कि किसी भी मनुष्य की आँखें ग्रुप फोटो में सबसे पहले खुद को ही देखती हैं। सहसा वह उदास हो गई। होगी सुन्दर, अब उसे इस रूप से क्या लेना-देना, बाबू कहते थे, 'बिटिया की शादी में मुझे रत्तीभर तकलीफ नहीं उठानी पड़ेगी, लोग यों ही हाथों-हाथ ले लेंगे।' मनुष्य भाग्यदर्शी कहां हो पाया है। लोगों के [illegible] हाथों-हाथ [illegible] पर भी भाग्य ने उसे कहां बख्शा, [illegible] थीं, तभी खिलखिल के समवेत स्वर [illegible]

सुन पायी थी।

'हाउ सिली !' डाक्टर माण्डेकर ने गम्भीर स्वर में कहा, 'तुम ऐसा ही सोचती हो ?'

'अरे ऐसा कहां सोचती हूं, तुमने सचमुच विश्वास कर लिया ?' मनीषी ने दोनों को बैठाया, बोली, 'अरे बाकी सब कहां हैं ?'

'बाकी सब कौन ? हम दोनों जा रही हैं, फ़ोन पर कहलाया तो था। जूली को तो हम ज़बरदस्ती ले आये हैं।' जूली की ओर देखते हुए डॉ० शुभा दत्ता ने कहा।

'कहलाया तो था, पर मैं समझी थी···।'

'क्या समझी थीं ? कहो न !'

'···अरे कुछ नहीं, यूं ही सोच बैठी थी, कि सब ही आयेंगी—तुम दोनों, डॉ० बोस, डॉ० चित्रा, वासन्ती,···और और···।'

'और पूरा अस्पताल, यही न, पगली।'

'सच, सब से मिलने के लिए उत्सुक थी, इसीलिए···।'

'ओफ़्फो, तुम जानती तो हो, अस्पताल से एक साथ सबका निकलना कितना मुश्किल है। इमर्जेन्सी वग़ैरा के लिए हमेशा तैयार रहना पड़ता है। अस्पताल में पूरे समय रहना हमारी सबकी नियति है।'

'ठीक कह रही हो। यूं ही, यूं ही भावुक हो उठी थी मैं !' मनीषी फिर खुनखुन हँसी।

'अच्छा, चलो सुकेत को तो देख लें, कहां है सुकेत ?' डॉक्टर शुभा दत्ता ने कहा।

मनीषी बोली, 'देख लेना, जल्दी क्या है। अभी तो तुम आकर ही बैठी हो, कुछ खा-पी लें, फिर भीतर चलेंगे। सुकेत शायद सो रहा है अभी।' मनीषी ने बात बनायी, सुकेत इतनी महिलाओं से घिर जाने पर शायद बाद में चीखे वह आशंकित थी।

'तो ठीक है, सोने दो, मरीज़ को जगाना ठीक नहीं है।' डॉ० शुभा दत्ता ने समर्थन किया और फिर सब फैल-फूटकर आराम से बैठ गयीं।

'कितने दिनों बाद डॉक्टर साहब को तस्वीर में देख रहे हैं, कितने अच्छे थे डॉक्टर साहब ! अ वेरी नौबेल सोल !' डॉ० माण्डेकर ने इंजी–

नियर के दोनों हत्थों पर हाथ टिकाये हुए सामने पैर फैला कर आराम की मुद्रा में दीवार की तस्वीर को देखते हुए कहा, साथ ही जोड़ा, 'सुकेत की मदर की फोटो नहीं है ?'

'है, भीतर है। उन्हें ड्राइंगरूम में अपनी फ़ोटो लगाना पसन्द नहीं था। मुझे खुद अच्छा नहीं लगता, सुकेत ने ज़बरदस्ती मेरी फ़ोटो यहां रख दी है।'

'हुं, कितनी अच्छी तो दिख रही हो तुम। यह तो है ही, इतनी स्वीट चार्मिंग, फोटो क्यों नहीं अच्छी आयेगी ?' अपने सम्बन्ध में इतने सारे वाक्य सुनकर मनीषी झेंप गयी। मानसिक हड़बड़ी में जान ही नहीं पायी, इतने वाक्यों में से किसने कितना टुकड़ा कहा। डॉक्टर शुभा दत्ता इलस्ट्रेटेड वीकली के पन्ने पलटने लगी थी, तभी छुटका ने कमरे में प्रवेश किया।

'चाय ले आयें बिटिया ?'

'ले आओ, पर छुटका मां, देखो सिर्फ़ ये लोग ही आयी हैं।'

'जो आयी हैं, उनकी इन्हें कोई ख़ुशी नहीं, जो नहीं आयीं, उनका गम मना रही हैं ये, हाउ सैड ! वी आर वेरी अनलकी।'

'छिः छिः, तुम लोग क्या समझ लेती हो !' मनीषी ने डपटते हुए कहा, छुटका मां से बोली, 'तुम चाय ले आओ छुटका मां ! मैं आऊं उधर ?'

'अरे तुम क्या करोगी वो तो···।' छुटका मां ने धीरे से ज़बान काटी, चुपचाप बाहर निकलने लगी तो डॉ० माण्डेकर ने टोका :

'छुटका मां, कुछ ज़्यादा नहीं, सिर्फ़ चाय और दो-दो बिस्किट। और फिर हमें देख कर बताओ, सुकेत भइया उठे क्या ? हमें जल्दी वापिस जाना है !'

'भली-भली !' छुटका मां ने जैसे कुछ न सुना हो, या ज़रूरत से ज़्यादा सुन लिया हो। वह हड़बड़ा कर कमरे से बाहर निकल आयी।

चाय के साथ जो चीज़ें सामने आयीं, उन्हें देखकर मनीषी को खुद आश्चर्य हुआ, पर छुटका मां से उस समय वह कुछ न कह सकी। छुटका मां के चीज़ें

रखकर चले जाने पर आगन्तुकों की ओर मुंह करके बोली, 'तुम्हारे आने की खुशी में देखो छुटका मां ने कितना कुछ बना डाला।'

'हां, बेचारी न जाने कब से लगी होंगी, अब तो काफ़ी ओल्ड हो गई हैं।'

'ओल्ड क्या, सुपर्णा दी की उम्र की ही होंगी। सुपर्णा दी और इन दोनों की शादी क़रीब-क़रीब साथ ही हुई थी, सुपर्णा दी कुछ ऐसा ही बता रही थीं। पूरी तरह कुछ याद नहीं पड़ रहा। दी कहती थीं, छुटका मां उनकी सास के सामने ही आ गयी थी।'

'ओह! सुकेत की बहू आकर कहेगी—छुटका मां हमारी सास की सास के ज़माने की है। कितना मजा आयेगा।' डॉ० माण्डेकर हंसीं।

'अरे मनीषी, तुम तो सुकेत की शादी कर डालो अब! तुम्हें छुट्टी मिले, रात-दिन चिन्ता करती रहती हो; सुकेत बीमार है, सुकेत के लिये अब यह करना है, अब वह करना है···।' डॉ० शुभा ने जोड़ा।

'अभी से शादी? अभी तो सुकेत हार्डली बीस होगा। क्यों मनीषी?'

'आय डोन्ट नो, मे बी।' मनीषी सामने प्लेटें लगाने में व्यस्त थी। उसने डॉक्टर माण्डेकर का प्रश्न नहीं सुना।

'अभी बीस का कहां होगा, अभी तो शायद वह इण्टर का इम्तहान ही दे रहा है।' क्यों मनीषी? बोल न, हम ठीक कह रही हैं न?' डॉ० माण्डेकर ने इस बार कुछ झुंझलाये स्वर में पूछा तो मनीषी को छोड़ कर सब खिल-खिला कर हंस पड़ीं।

जूली ने कहा, 'डॉक्टर इस समय बड़ी एबसेन्ट माइण्डेड दिख रही हैं। हटिए डॉक्टर, मैं बनाती हूं चाय। आप बैठिये।' जूली उठ कर खड़ी हो गई, मनीषी को हटा कर उसने कुर्सी की ओर संकेत किया, 'आप यहां बैठिये!' और फिर चाय के प्याले तैयार कर उसने प्याले उठा कर बड़ी शालीनता से सबको पकड़ा दिये, चीज़ों की प्लेटें हर एक के सामने करती हुई बोली, 'छुटका मां ने कितनी हिम्मत कर डाली?'

'देखो न ये आलू के चिप्स कितने कुरकुरे हैं।'

'वेरी टेस्टी।' डॉ० शुभा दत्ता ने चिप्स कुटकुटाते हुए डॉ० माण्डेकर का समर्थन किया।

'और ये आलू के चौप्स ?' जूली ने दूसरी प्लेट उठा कर सब के आगे की।

'ओह, वण्डरफुल।' डॉ० शुभा दत्ता ने प्लेट में से एक उठा कर चखते हुए कहा।

'लीजिए, यह छुकी हुई मटर!' इस बार मनीषी ने हरी मटर की प्लेट उठा कर डॉ० माण्डेकर और डॉ० शुभा दत्ता के सामने प्रस्तुत की।

'इस तरह की मटर तो मेरे लिए एकदम नयी चीज़ है।'

'छुटका मां इसे बड़ा स्वाद बनाती हैं।' चम्मच से कुछ मटर अपनी प्लेट में डालते हुए मनीषी ने डॉ० माण्डेकर का समर्थन किया, जूली को आदेश दिया, 'जूली, अब तुम बैठो, खुद भी लो। अब सब कुछ हम अपने-आप ले लेंगी।'

जूली मुस्करा कर बड़ी शालीनता से बैठ गई। एक-एक चीज़ की तारीफ़ लेती रही और ड्राइंगरूम इतनी सारी चटकीली बातों और खिल-खिलाहट से गुलज़ार होता रहा।

'सुनो, हम लोग क्या सिर्फ़ खाने-पीने के लिए ही आये हैं ? कब तक खाते रहेंगे आखिर हम ?' सहसा डॉ० शुभा दत्ता ने बातों की दिशा दूसरी ओर मोड़ी।

'ओह, यस, हरी अप प्लीज़।' डॉ० माण्डेकर ने रसगुल्ला मुंह में रखते हुए आदेश दिया।

'सुकेत के अच्छा होने की खुशी में यह दावत मिली है न हमें।' डॉ० शुभा दत्ता वाशबेसिन पर हाथ धोने के लिए उठ खड़ी हुई थीं। जूली प्लेटें उठा कर भीतर ले जाने लगी थी। मनीषी ने टोका, 'लीव इट जूली, प्लीज़।' जूली रुक गयी। डॉ० माण्डेकर वाशबेसिन के पास आयीं, सामने लगे आइने में चेहरा देखती हुई बोलीं, 'मनीषी, यू आर वेरी फॉरच्यूनेट।'

'व्हाई ?' मनीषी ने आश्चर्य प्रगट किया। नल के पास लगे हैंगर की छोटी रॉड पर तौलिया टांगती हुई वह मुंह खोले अवाक् खड़ी थी।

'इसलिए कि तुम्हें सुपर्णा दी ने अपने पास बुला लिया, काश हमें भी कोई इसी तरह बुला लेता।'

'आपको तो बहुत पहले बुला लिया गया है। आप क्या कह रही हैं

डॉ० माण्डकर ? यू आर योर हस्बैण्ड्स चार्मिंग स्वीट डॉल।' डॉ० शुभा दत्ता खिलखिलायीं, डॉ० माण्डेकर झेंप गयीं।

'हां, डॉ० माण्डेकर, आप तो कितनी लकी हैं! यहां तो ज़िम्मेदारी है, सिर्फ़ लम्बी-चौड़ी ज़िम्मेदारी, जिससे बचने का अब कोई उपाय नहीं है।'

'हां, हम दोनों को तो अभी अपने लिये घर तलाश करना है। है न मनीषी ?' डॉ० शुभा दत्ता ने गम्भीरता का नाट्य करते हुए कहा।

'वो अब हमारी चिन्ता नहीं है, सब कुछ डॉ० माण्डेकर ही करेंगी। आइए चलें, सुकेत के पास चलें।' मनीषी अब सबके साथ सुकेत के कमरे की ओर बढ़ रही थी। मन में कुछ कंप-सा रहा था, सुकेत पीछे से कुछ भला-बुरा न सुनाये। स्त्री मेहमानों से सुकेत कितना कतराता है, उसे मालूम था। सुपर्णा दी के ज़माने में घर में जब तक मेहमान रहें, खाना-चाय सब उसके कमरे में ही पहुंचानी होती थी, कभी बाहर निकलना हुआ तो पीछे के दरवाज़े से ही निकलता था सुकेत।

दरवाज़े की दहलीज़ पर से ही मनीषी ने पंजों पर उचक कर देखा, सुकेत चादर ओढ़े हुए करवट लिये लेटा था।

'सुकेत !' मन में थोड़ा भय हुआ, अभी पढ़-पढ़ाकर लेटा होगा, थक कर नींद आ गयी होगी शायद, पर सुकेत जग रहा था, पीठ पीछे पैरों की आहट सुनी तो उठ कर बैठ गया। बिना कुछ कहे ही उसने नमस्कार की मुद्रा में हाथ जोड़े।

'अब तो एकदम ठीक हो गये न !' डॉ० माण्डेकर ने ही पूछा।

'जी !' सुकेत ने छोटा-सा उत्तर दिया।

'मनीषी, टॉनिक वग़ैरा दे रही हो न !'

'हुं !' मनीषी ड्रॉइंग रूम से छोटी-छोटी तिपाइयां बैठने के लिए लाने का उपक्रम कर रही थी। डॉ० शुभा दत्ता ने रोका, 'रहने दो मनीषी, यहां बैठना थोड़ी है। मरीज़ के पास भीड़ करना ठीक नहीं है। जूली, इन्हें वापिस रख आओ।' मनीषी के द्वारा अधबीच में लाकर छोड़ी हुई तिपाई की ओर देखते हुए डॉ० शुभा दत्ता ने ही कहा।

'मैं मरीज़ नहीं हूं।' इतनी देर बाद अचानक सुकेत का स्वर उठा, तो सब खिलखिला कर हंस पड़ीं।

'वेरा गुड ! बड़ा बहादुर लड़का है।' मनीषी को अच्छा लगा। अभी तक वह चुपचाप खड़ी थी, अब कुछ उसकी भी हिम्मत बढ़ी, बोली, 'हिम्मती तो जनाब इतने हैं, कि एक महीना इम्तहान का रह गया है और आप इम्तहान देने पर तुले हैं।'

'ओह सच !' पर ज़्यादा स्ट्रेन मत लेना, थोड़ा बहुत पढ़ा और छुट्टी। गुड बॉय।' डॉ० माण्डेकर ने सुकेत के माथे पर हाथ रखा, बालों को सहलाया और फिर बाहर आ गयीं। माण्डेकर के पीछे ही सब निकल आयीं।

'अच्छा तो फिर अब हम चलें न ! वेरी हैप्पी टु ट्रवुल यू। थैंक्स अलॉट। छुटका मां से हमारा थैंक्स बोल देना, हुँ।' डॉ० माण्डेकर के छोटे-छोटे वाक्यों पर सब हंसीं, और गेट से बाहर निकल आयीं।

'तीन-चार दिन बाद तो आप आ रही हैं न डॉक्टर ?' जूली ने चलते-चलते धीरे से पूछा।

'ओह यस, स्योर!' मनीषी ने सबको विदा दी। प्रसन्न मन वह भीतर लौटी और सीधी रसोई में जाकर खड़ी हो गई।

'छुटका मां !'

'अरे बिटिया, वो सब गयीं ? हम तो इत्ती देर से मन में इत्ता मलाल किए बैठे हैं, अब बुलाया तो बुलाया, आइन्दा किसी को मत बुलाना, हम कहे देते हैं।'

'क्यों ?' मनीषी को आश्चर्य हुआ। वह तो छुटका मां की तारीफ़ करने आयी थी, उसकी छोटी सी हारी हुई आवाज़ सुन कर उसे धक्का लगा।

'क्यों क्या बिटिया, भइया हमें कुछ करने देते हैं ? खुद खड़े-खड़े सारे कामों में लगे रहे, मजाल है खटिया पर तनिक कमर लचायी हो।'

'अरे, सुकेत लगे रहे ?'

'और क्या रानी ! बोले, तुम ठीक चीज़ें नहीं बनाओगी, चॉप्स खुद सेंके, मटर छिलवायी, चाय बनायी...। हम कहते रहे, बिटिया गुस्सा होयेंगी, पर भइया किसी की सुनते थोड़ी हैं। बोलो सारी उमर बनाते बीती है, अब इस उमर में हम सब कुछ भूल गयीं ?'

मनीषी उंगली ठोड़ी पर टिकाये चुपचाप खड़ी रही।

'बिटिया, हमारा रत्ती भर क़सूर नहीं है, तुमसे सच कहते हैं।'

'तुम यहीं रहो।' मनीषी छुटका मां को इस एक छोटे-से वाक्य से ही आश्वस्त कर सुकेत के कमरे में चली आयी।

इतनी देर से वह सुकेत से डर रही थी; सबके सामने सुकेत के अच्छी तरह पेश आने पर भी मन में कहीं भीतर ही भीतर उसे सुकेत के झल्लाने-चीखने-पुकारने का भय था, किन्तु अब छुटका मां की बात सुनी तो वह बिना कुछ सोचे-समझे, सुकेत के कमरे में बढ़ी चली आयी।

'सुकेत, यह क्या, आखिर तुमने सोच क्या रखा है? मैं अब ज़्यादा छुट्टी नहीं ले सकती।' बिना किसी भूमिका के उसने कहना शुरू किया।

'छुट्टी क्यों लोगी, अब तुम से छुट्टी लेने के लिए कौन कह रहा है?' सुकेत हैरान था। सबके चले जाने पर अब वह आश्वस्त होकर लेट गया था, मनीषी की आवाज़ सुनी तो फिर उठ कर बैठ गया।

'यह घण्टों-घण्टों खड़े-खड़े काम करना, किसी का कहना न मानना, बस अपने मन की करते रहना—आखिर यह सब क्या है।'

'ओफ़्फ़ो, सिर्फ इतनी-सी बात, मैं समझा, मुझसे कोई बहुत बड़ा कसूर हो गया है।' सुकेत चादर लपेट कर फिर लेट गया।

'नहीं, तुम्हें बताना पड़ेगा सुकेत, कि तुम मुझे इतना परेशान करने पर क्यों तुले हो? उस दिन तुम अपने दोस्त अजय के साथ घण्टों खड़े-खड़े बतियाते रहे, उधर तुम पढ़ने की ज़िद बांधे बैठे हो, आधी-आधी रात तक जुटे रहते हो, अब इन उल्टे-सीधे कामों के लिए घण्टों लगे रहे, आखिर अभी तुम इतने हट्टे-कट्टे तो नहीं हो गये, कि तुम पर इन सब चीज़ों का कोई असर ही न हो। ज़्यादा से ज़्यादा आराम लेना चाहिए। मैं चाहती हूं कि तुम अपने पर इतना ज़ोर न डालो और फिर इतने सारे जने तो आये भी नहीं थे, क्या छुटका मां इतना भी नहीं कर सकती थीं?'

'मैं तुम्हारी बात समझ गया हूं, आयन्दा ऐसा नहीं होगा, पर एक बात मैं तुमसे पूछना चाहता हूं!'

'क्या ?' मनीषी सुकेत के पास आकर विस्तर पर वैठ गयी।

'पूछो !'

'कोई खास वात नहीं है। यही पूछ रहा हूं, कि जव मेरे दोस्त आते हैं, तो तुम क्यों जुटी रहती हो ? एक दोस्त के आने पर भी कितनी चीजें वना डालती हो, तो जव तुम्हारी सहेलियां आयीं और मैंने कुछ मदद कर दी तो क्या बुरा हो गया ?'

'ओफ़्फ़ो ! सुकेत तुम···!!' और इतनी देर से चीखती-पुकारती मनीषी खिलखिला कर हंस पड़ी। सुकेत फिर भी उत्तर की प्रतीक्षा में गुमसुम, गुरु-गम्भीर वना वैठा रहा।

पाँच

फिर वही अटकाव—सोचती थी सुकेत की वीमारी समाप्त हो जायेगी, वह अच्छी तरह घूमने-फिरने, खाने-पीने लगेगा तो वह चली जायेगी। सुकेत का घर में ही पूरा पक्का ठीक इन्तज़ाम कर जायेगी, पर सोच लेने से ही क्या होता है—सुकेत से अव पूछने का सवाल ही नहीं था, खुद सोचने के लिए भगवान् ने उसे वुद्धि दी है।

अव इम्तहान आ रहे हैं—सुकेत से पूछेगी तो वह कभी राज़ी नहीं होगा और पूछने का सवाल ही कहां उठता है, लड़का इतनी मेहनत कर रहा है, रात-दिन अपने पढ़ने-लिखने में लगा रहता है तो कोई तो उसके पास रहे जो उसका ध्यान रख सके, उसे ठीक खाना-पीना वक्त से दे सके। छुटका मां हैं, पर छुटका मां को इन वारीक चीज़ों की समझ कहां है और छुटका के वस में वह आता ही कहां है ?

'''कहीं वह रहने के बहाने तो नहीं ढूंढ़ रही ? ऊंह, पर उसे हटा ही कौन रहा है ? सुकेत तो शायद उसके जाने की बात सोच ही नहीं पा रहा। सुनेगा तो उल्टे उत्पात मचा देगा। नहीं, उसे अभी नहीं जाना—इस समय सुकेत की देखभाल ज़रूरी है। वह पढ़ती थी तो मां किस तरह उसके लिए रात-दिन एक किए रहती थीं। उस समय उसने ध्यान नहीं दिया था, पर अब उसे याद आ रहा है—वह पढ़ती थी तो मां अपनी चारपाई पर लेटी-लेटी भी उस समय तक जगती रहती थीं, जब तक वह पढ़ती रहती थी। कभी-कभी उसे खीज हो आती थी। 'मां,तुम्हें मेरे साथ जगते रहने से क्या मिलेगा, पता तो चले ? आखिर पढ़ना मुझे है, तुम्हें क्या होता है, बराबर जगती रहती हो !' वह कभी-कभी किताब से आंख हटा कर कहती थी।

'क्या होता है, सन्तोष होता है बेटा ! मेरी बिटिया आधी-आधी रात तक अकेली पढ़ती रहे, न बेटा, हमसे नहीं देखा जाता।'

'तभी तो कहती हूं, देखा नहीं जाता न, तो सो जाया करो।' मां के मुंह से इतने सारे सरल-मृदु शब्दों को सुनकर उसका स्वर भी भीग जाता था।

'नींद कैसे आयेगी बिटिया, यज्ञ जैसे काम में किसी को भी नींद आती है !'

वह कुछ और पूछना चाहती, पर उसका बोल रुंध-सा जाता। मां उसकी पढ़ाई को यज्ञ समझती हैं ! उसे गर्व होता, खुशी भी होती। वह चुप रहती तो मां उसे खुद समझाने लगतीं :

'देखो बिटिया, अब तुम यह पढ़ाई कर रही हो, इसके बाद तुम्हारा डॉक्टरी का कोर्स होगा, सब कुछ इसी पर तो निर्भर है, तो यह बड़ी पढ़ाई की शुरुआत है। वह सब कुछ तो तुम्हें ही निबटाना है, तब तो हम तुम्हारे पास होयेंगी भी नहीं।'

'होंगी नहीं, क्यों ?' वह अकचकाकर ठोड़ी पेन्सिल पर गड़ा क— पूछती।

'तुम्हारे बाबू और तुम सभी तो कहते हो, कि उस पढ़ाई के लिए तु बाहर रहना होगा। तभी कहते हैं'''।' सुन कर उसे सन्तोष हो आता, ग तो मां की बात सुनकर तो उसका हृदय धक्क से रह गया था।

मां ने उस दिन समझा दिया था, पर वह सब कुछ झूठ ही था—मां इतना कुछ जानती थीं, पर इतना तक वह भी कहां जानती थीं, कि वे जो कुछ कह रही हैं, वह महज़ बहलाने के लिए ही था—उसकी पढ़ाई खत्म होने तक उसे डॉक्टर बनी देखने के लिए वे ज़िन्दा नहीं रही थीं। सिर्फ उनकी बातें रह गयी थीं—उपदेशनुमा बातों के छोटे-छोटे टुकड़े।

'बिटिया, बड़े भाग्यशाली लोग डॉक्टर बनते हैं, मामूली बात थोड़ी है। इतने बीमारों की सेवा करने का मौका मिलता है, उनसे हंसना-बोलना होता है। तुम डाक्टर बनो तो बीमारों के लिए कभी रूखी नहीं बनना, सब से मीठा बोलना, हर एक को ज़िन्दा रखने की कोशिश करना, प्राणों की रक्षा सब से बड़ा पुण्य होता है बिटिया रानी!' काश, उसको अपनी मां की सेवा करने का मौका मिला होता! वह तो तब दूर लखनऊ में पढ़ रही थी, रम्मन चाचा का तार वहीं पहुंचा था—'मां गम्भीर रूप से बीमार हैं, तुरन्त चली आओ!' काश, रम्मन चाचा का वह तार सच ही होता! शायद वे दूर परदेश में बैठी लड़की के हृदय को ठेस नहीं पहुंचाना चाहते थे। घर पहुंची थी तो उसे कुछ नहीं मिला था, मां की तस्वीर पर घण्टों सिर पटकती रही थी। पिता लकवे से मरे थे। बीमार हो जाने पर भी महीनों घिसटते रहे थे, पर मां के जाने का तो किसी को भी पता नहीं लगा।

डॉक्टर बनकर निकली थी तो रम्मन चाचा ने ही बधाई का तार भेजा था और उसके कुछ दिन बाद ही उसे उनका पत्र मिला था—

'बिटिया, अच्छा है तुम्हें पढ़ाई पूरी करते ही नौकरी मिल गयी। अब तो कभी-कभार छुट्टियों में ही आना हुआ करेगा। तुम्हारी चाची तुम्हें अपना आशीर्वाद लिखाती हैं, अब नौकरी हो गयी, तो तनिक अपने छोटे-भाई-बहनों का ख्याल रखना।'

पत्र के वे गिने-चुने शब्द उसे ज्यों के त्यों आज भी याद हैं। एक लम्बे अर्से तक वह अपने चचेरे भाई-बहनों के लिए रुपये भिजवाती रही थी। घर आने पर अपने साथ चीज़ें ले जाती थी—खिलौने, मिठाई और छोटे भाई-बहनों के नाम के कपड़े। पर चाची का मुंह हमेशा फूला रहता, बोलतीं तो सिर्फ़ घर की दीन दशा के बारे में, चाचा की तनख्वाह के कम रुपयों के

बारे में, उनकी तनख्वाह के हिसाब-किताब के बारे में। मन में एक रोष जगा था : 'आखिर मैं क्या सिर्फ़ इसीलिये हूं? मैंने इन लोगों से क्या लिया है, मुझे पढ़ाने-लिखाने में बाबू के बाद मां ने ही अपनी जमापूंजी खर्ची थी!' उसके बाद रोष धीरे-धीरे भर्त्सना और उसके बाद फिर घृणा में परिवर्तित हो गया था : 'वह ऐसे घर में जाकर भी क्या करेगी, जहां सिर्फ़ अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए ही उसमें रुचि ली जाती है। आखिर उसका भी कोई मन है, कुछ इच्छाएं, कोई कार्यक्रम है...' कुछ दिन चाचा के रुपये भेजने के इसरार-भरे पत्र उसे मिलते रहे थे, कुछ दिन उसने भेजे भी थे और फिर उसने स्वयं को उस सब से काटकर अलग कर लिया था।

सुपर्णा दी उससे उन्हीं दिनों मिली थीं, पर अपने घर की दुरवस्था, कठोर व्यवहार और तटस्थ वातावरण की बात उसने सुपर्णा दी के घर आकर कभी नहीं की। इतने बड़े संसार में एकाकी रह जाने की अनुभूति के धक्के को सुपर्णा दी के स्नेहिल आंचल ने परे ठेल दिया था। सुपर्णा दी उसे न मिलतीं तो?

उस दिन अस्पताल के वार्ड नं० सात में अपनी टेबिल पर बैठी वह क्या-क्या सोचती रही थी। आधी रात का सन्नाटा, पीठ पीछे बरामदे में चिकने फ़र्श पर मौलश्री के पेड़ की पत्तियों का हिलता-डुलता विचित्र प्रकार के जाल बुनता प्रतिबिम्ब और रह-रहकर मरीज़ों की कराहती हुई आवाज़ें। वह उठकर पूरे वार्ड में घूमी थी, सिस्टर जूली के पहुंच जाने पर वह अपने कमरे में आ गयी थी, तभी एकाएक नर्स बेला बोस ने आकर बताया।

'डॉ० सिन्धवानी आपको अपने कॉटेज में बुला रही हैं। तेज़ बुखार है उन्हें।'

'मैं तो अभी ड्यूटी पर हूं। तब तक तुम उधर रहो उनके पास। तुम्हारी ड्यूटी हो तो मंजुला को भेज दो, और डॉ० शुभा दत्ता से भी कह दो।'

'नहीं डॉक्टर, उन्होंने सिर्फ़ आपको ही बोला है। कहा है : और किसी से कुछ नहीं कहना। ड्यूटी खत्म होने पर ही आ जाइये।'

'मैं जरूर आऊंगी।' उसने कहला दिया।

सुबह छह बजे तक मनीषी अपने कामों में व्यस्त रही थी। छह बजे उसने डॉक्टर सिन्धवानी और सुकेत दोनों के बारे में एक साथ सोचा था। अपनी ड्यूटी के बाद कुछ देर के लिए ही सही, वह घर पहुँचती थी और सुकेत के साथ नाश्ता लेने के बाद आठ या नौ बजे तक फिर अस्पताल में लौटकर आती थी। पर आज, आज तो डॉक्टर सिन्धवानी ने कहलाया है, वहां जाना ज़रूरी है। डॉक्टर सिन्धवानी के क्वार्टर में पहुंची तो वह अपने बिस्तर में लेटी छत पर पुरे जाले की तरफ चुपचाप देख रही थी।

'फ़ीवर है ? कब से ?' मनीषी ने डॉक्टर सिन्धवानी के माथे पर हाथ रखा तो माथा एकदम ठण्डा था, बुखार का नाम-निशान नहीं।

'क्या हुआ? तुमने कहलाया बुख़ार है?' मनीषी डॉक्टर सिन्धवानी के पलंग की पाटी पर बैठ गयी। सिन्धवानी का स्वर सुनने के लिए वह उत्सुक थी पर उसे देखकर आश्चर्य हुआ, सिन्धवानी की आंखों में आंसू थे।

'क्यों, क्या हुआ, अरे!!' उन थोड़े-से आंसुओं को उसने हथेली से सूंत दिया। आंसू और बुरी तरह ढुल चले।

'कहो न मेरी अच्छी कमला!' शायद पहली बार उसके ओठों ने डॉक्टर सिन्धवानी को उसके मुख्य नाम से पुकारा था, आंसू और ढुले और धीरे-धीरे हिचकियां बढ़ चलीं।

'देखो कमला, प्लीज़, ईश्वर के लिए रोओ मत! मुझसे कहो न सारी बात! घर से कोई बुरा ख़त आया है क्या ?'

सिन्धवानी ने नकारात्मक सिर हिलाया।

'तब ? सिर दर्द है ?'

'ऊंह !' सिन्धवानी ने आंखें पोंछ लीं।

'मैं चाय लाती हूं।' मनीषी उठ कर जाने लगी तो सिन्धवानी ने हाथ से पल्लू खींच कर उसे रोक लिया—नो···।'

'क्या है, एक मिनट में आती हूं। न जाने कब से कुछ भी खाया-पिया नहीं है, तुम्हारी शक्ल बता रही है। तुम तो छुट्टी पर हो न!' क्षणांश को ठिठक कर उसने पूछा।

सिन्धवानी ने स्वीकारात्मक सिर हिलाया।'

मनीषी उठ कर चली गयी। रसोई में जाकर थोड़ी देर खटर-पटर

करती रही और फिर छोटी-सी ट्रे में रखकर दो प्याले ले आयी।

'लो! प्लीज़!' उसने सिन्धवानी को अपनी बांह का सहारा देकर उठा कर बैठा दिया और प्याले की कोर को ओठों से लगा कर धीरे-धीरे उसे चाय पिलाने लगी।

'मैं खुद पी लूंगी, तुम भी पिओ।'

पीती हूं। मनीषी खुद भी चाय सिप करने लगी। चाय पीकर सिन्धवानी ने प्याला मेज़ पर टिका दिया, फिर पलंग के सिरहाने रखे तौलिये से मुंह पोंछ कर बोली, 'जानती हो, मैंने तुम्हें क्यों बुलाया है?'

'जानती हूं।' मनीषी ने अपना प्याला भी मेज़ पर रख दिया।

'क्या जानती हो?' डॉ० सिन्धवानी की आंखों में आश्चर्य था।

'जानती हूं कि मैं बहुत अच्छी हूं, सबकी बात अपने मन में रखती हूं, इसलिए तुमने सिर्फ़ मुझे बुलाया है और किसी को नहीं। क्यों, ठीक है न?'

सिन्धवानी मुस्करा उठी, 'सच, इसीलिये बुलाया है। मुझे तुम्हारे सिवा और किसी पर विश्वास नहीं है। सब सिर्फ़ खिल्ली उड़ाने वाली हैं, मदद करने वाली कोई नहीं।'

'चलो ठीक है, कहो!' मनीषी ने सिन्धवानी की उस बात को गम्भीरता से न लेते हुए कहा।

'देखो, मेरी तुमसे कोई खास दोस्ती भी नहीं है, तुम शायद मुझे अच्छी तरह जानती भी नहीं हो, फिर भी न जाने क्यों मुझे अपनी इस परेशानी में ऐसा ही लगा, कि तुम्हीं मेरा साथ दे सकती हो। न जाने तुम मुझे कितनी अपनी लगती हो!'

'कमला, प्लीज़ नो प्रिल्यूड। कम ऑन।' मनीषी ने सिन्धवानी का हाथ उठा कर अपनी गोद में रख लिया।

'दरवाज़ा बन्द है?' सिन्धवानी ने फुसफुसाते स्वर में पूछा। मनीषी 'उठ कर देख आयी, दरवाज़ा बन्द था। कमला सिन्धवानी का हाथ उठा कर उसने फिर गोद में रख लिया,

'नाउ कम ऑन।'

'मनीषी, मेरी हालत ठीक नहीं है।'

'वो मैं देख रही हूं।'

'नहीं वो कुछ नहीं, मैं दूसरी तरह फँस गयी हूँ।' मनीषी के धड़कते हृदय की मशीन को जैसे किसी ने अचानक रोक दिया हो। वह दो क्षण अवाक् रह गयी, फिर बड़े सधे स्वर में बोली, 'जिन्दगी में कुछ भी घट सकता है।'

'तुम मुझसे नफ़रत तो नहीं करोगी?'

'नफ़रत क्यों? बिल्कुल नहीं!' ये शब्द मनीषी ने बिना कुछ सोचे-समझे कह दिये। फिर अपनी गोद में रखे उसके हाथ को धीमे-धीमे अपनी उंगलियों से सहलाती हुई बोली, 'तो अब क्या करना है?'

'यही सलाह करने के लिये मैंने तुम्हें बुलाया है। अपने घर में मेरा कहने को कोई नहीं है। सौतेली मां है, पिता को भी मेरी कोई खास चिन्ता नहीं, मैं समझ ही नहीं पा रही, ऐसी हालत में मैं कहां जाऊं, क्या करूं?'

'वह कौन है?' सिन्धवानी कुछ देर चुप रही, फिर कहीं दूर देखती हुई बोली, 'उसके जानने से भी क्या होगा, वैसे वह बुरा आदमी नहीं है।'

'तुमसे शादी करने के लिये तैयार है?'

'तैयार हो भी सकता है, कोई उससे ढंग से बात करनेवाला हो तो!'

'आखिर कौन है वो, पता तो चले।'

'डॉक्टर अरुण चक्रवर्ती।'

'अरे वो, वो तो शादीशुदा हैं, उनके तो शायद बच्चे भी हैं।'

'हैं, चार।'

'तब?'

'वो विडोअर हैं।'

'फिर तो शादी होने में कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए।'

'कुछ बच्चों की परेशानी है, मुझे कुछ नहीं मालूम—अधूरा वाक्य कह कर सिन्धवानी ने उसकी गोद में अपना मुंह छिपा लिया।

'तुम्हारी तरफ़ से तो कोई दिक्कत नहीं? तुम्हारे पेरेन्ट्स तो कुछ नहीं कहेंगे?'

'शायद नहीं, मैं उनसे अभी कुछ नहीं कहना चाहती।'

'तब निश्चिन्त रहो, मैं बात करूंगी।'

'प्लीज, किसी और को मालूम न हो।'

'मुझ पर विश्वास करो।' कहकर मनीषी उठने लगी तो सिन्धवानी ने रोक लिया।' तुम आज मेरे पास ही रहो, मुझे डर लगता है।'

'डर किस बात का ? 'तुम छुट्टी पर हो, कोई ऐसी बात नहीं है। मैं शाम को फिर आऊंगी।'

'नहीं—।' तभी दरवाजे पर घंटी बजी। मनीषी उठकर देखने गयी तो हैरान रह गयी—सुकेत दरवाज़े पर खड़ा था।

'सुकेत, तुम !'

'जानती हो, क्या बजा है ?' सुकेत ने कलाई पर बंधी घड़ी की ओर संकेत किया।

'सिर्फ़ साढ़े सात। आज तुम्हारी ड्यूटी कितने बजे ख़त्म हुई ?'

'वही छह बजे।'

'तब यहां क्या कर रही हो? बड़ी मुश्किल से ढूंढ़ता-पूछता आया हूं।'

मनीषी ने उंगली ओठों पर रखकर चुप रहने का संकेत किया। सुकेत सकपका गया, फिर धीमे स्वर में बोला, 'अब क्या कार्यक्रम है ?'

'चलती हूं, अभी आयी। सिन्धवानी को बुखार है, ज़रा देख तो लूं।'

मनीषी फिर भीतर चली गयी। थोड़ी देर बाद निकली तो सुकेत क्वार्टर से दूर चलकर बने छोटे गेट के खम्भे से टिका खड़ा था।

'डॉक्टर सिन्धवानी तुम्हें भीतर बुला रही थीं।' मनीषी ने बाहर आकर बताया।

'मुझे किसी के यहां नहीं जाना, सीधे घर चलो।'

'और अगर न चलूं तो ? सिन्धवानी मुझे रोक रही थी।'

'तो रुक जाओ। मैं जाऊं ?' मनीषी चुपचाप सुकेत के चेहरे को देखती रही। सुकेत उत्तर की प्रतीक्षा में रुका खड़ा था। उससे डेढ़ हाथ ऊंचा, ओठ कसकर बन्द, पर नासिका के दोनों नथने फूले हुए, चौड़े माथे पर एक हल्की शिकन, जो उसकी नाराज़गी को प्रकट कर रही थी।

'मुंह क्यों बनाये खड़े हो ? सीधे-सीधे क्यों नहीं कहते, कि मुझे चलना ही पड़ेगा।'

'आख़िर इतनी दूर से मैं किसलिए आया हूं ? इम्तहान सिर पर खड़ा

है और आप न जाने किन-किन के कामों में उलझी रहती हैं।' सुकेत धीमे से बुदबुदाया।

'अस्पताल से मैं निश्चित रूप से छूट ही जाऊं, यह भी कोई ज़रूरी तो नहीं। समझ लो मैं अस्पताल के काम में ही फंसी रही।' मनीषी ने चलते हुए कहा।

'वो बात दूसरी थी, तब मैं कुछ भी न कहता, बस बाहर से ही मालूम करके लौट जाता।'

'सुकेत, तुम्हें मालूम नहीं, सिन्धवानी आजकल बीमार है। उसने छुट्टी ले रखी है।'

'तो उन्हें अपने घर ले चलो, मुझे कोई एतराज़ नहीं है।'

'जैसे तुम्हारे एतराज़ के कारण ही तो नहीं ले जा रही मैं? चलो, अब सीधे-सीधे चलते रहो!' मनीषी बढ़ती रही। क्वार्टरों के सामने लाल बजरी वाली सड़क को पार करते हुए दोनों अब चुपचाप चल रहे थे। सुकेत ने महसूस किया, मनीषी को उसका इस तरह तानाशाही ढंग से अपना ले आना शायद अच्छा नहीं लगा है।

दोनों इस समय तक लम्बी सड़क को पार कर चुके थे, दूर मैदान के उस पार अस्पताल के मैटर्निटी होम की ऊंची-ऊंची लाल दीवारें दिखाई पड़ रही थीं, सुकेत ने पूछा, 'तुम्हारी वो फ्रैण्ड क्या बीमार हैं? हालत क्या सीरियस थी?'

'हां, कुछ थी ही, खैर चलो।' मनीषी ने तटस्थता दिखाई।

'सच कहता हूं, अगर मेरे साथ चलना, घर लौटना अच्छा न लग रहा हो, तो मत चलो।'

'हमेशा के लिये कह रहे हो न!'

'हमेशा के लिये, क्या मतलब?' सुकेत रुककर खड़ा हो गया।

'चलो-चलो, रुको नहीं, बताऊंगी रास्ते में।' मनीषी ने सुकेत को ठेला।

'अब रास्ता आ गया, बताओ।' दोनों अस्पताल के आखिरी गेट तक आ पहुंचे थे—यहां से निकलते ही मुख्य बड़ी सड़क पर पहुंचा जा सकता था। सामने ही बस-स्टॉप था।

ऐसी जल्दी क्या है बताऊंगी, बता दूंगी कभी भी ... कोई बहु ज़रूरी बात थोड़ी है।'

'चलो ज़रूरी न सही।' दोनों बसस्टैण्ड परखड़े होकर बस का इन्तज़ार करने लगे। पहली बस आते ही दोनों चढ़े, बात फिर बीच में ही रह गयी। बस में बैठकर पता चला, यह बस सीधे बालीगंज नहीं जायेगी, कालीघाट पर ही ख़तम होकर वापिस रिपेयरिंग के लिये कारखाने लौटेगी।

'ओह, बेकार इसमें बैठे।' मनीषी ने कहा।

'चलो, क्या फ़र्क़ पड़ता है। कालीघाट तक तो चलो, वहां पर दूसरी बस ले लेंगे। बस स्टॉपपर उतरे तो मूड़ी बेचता हुआ छोकरा पास आ गया, बोला, 'लो बाबू मूड़ी लो।'

मनीषी कोमूड़ी पसन्द थी। कच्चे मूंगफली या सरसों के तेल में उछाली गयी मूंगफ़ली, चने, मुरमुरे, बारीक लच्छे जैसा कटा हुआ कच्चा प्याज़ और ऊपर से निचोड़ा हुआ नीबू उसे अच्छा लगता था। सुकेत जानता था, बोला, 'यह सब यहां नहीं खाओगी।'

'कौन खा रहा है ?' मनीषी ने छोटी बच्ची की तरह तुनक कर कहा।

'तुम खा सकती थीं, इसलिए टोका।' मनीषी मन ही मन हंसी। अपने को कितना बड़ा समझता है, एकदम ऐसे डपटने लगता है, जैसे मैं बच्ची ही तो होऊं।' ऊपर से मुंह फुलाये खड़ी रही वह।

'सुनो मनि, आज सुबह ही सुबह पड़ोस का विकी गेंद मांगने चला आया, बोला—तुम्हारे बैडमिंटन कोर्ट में हमारी गेंद आ गयी है। मैंने भगा दिया।' सुकेत ने मनीषी के लिए दूसरी बात शुरू की।

'देखने भी नहीं दिया ?'

'नहीं।'

'क्यों, ऐसा क्यों, बेचारा छोटा बच्चा है, तुम्हें दादा-दादा पुकारता है। उठा लेने देते गेंद, तुम्हारा क्या बिगड़ता था ?'

'बिगड़ता था इसीलिये न ! आज गेंद देखने के लिये आया, कल फिर फेंकेगा फिर आयेगा, मुझे पढ़ने में बाधा पड़ती है।'

'ओह !' मनीषी हंसी। 'बड़े पढ़ाकू बने हैं।'

'मेरी खिल्ली उड़ायी तो मनि अच्छा नहीं होगा। देख लेना हमेशा की तरह पूरी क्लास को न पछाड़ा तो।'

'दिखाना, मना किसने किया है ? हम सब तो यही चाहते हैं तुम फ़र्स्ट

आओ !'

'हम सब कौन ?'

'छुटका मां, मैं, अस्पताल की मेरी सब सहेलियां।'

'हां, तुम अस्पताल में क्या बात बताने को कह रही थीं ? अब कहो !' सुकेत को छूटी हुई बात फिर याद आ गयी। दूर से डबलडेकर मोटी लाल बस लुढ़कती दिखी तो मनीषी को छुटकारा मिल गया। 'घर जाकर बता दूंगी।' उसने दूर देखते हुए कहा।

'सिन्धवानी की बीमारी की बात ?'

'ओफ़्फ़ो !' सुकेत अभी बिना रुकी बस का हैंडल थाम कर बस में चढ़ गया। मनीषी पीछे-पीछे चढ़ी।

'यहां एक दिन छुटका मां और तुम्हारे साथ आना है।' सीट पर खिड़की की तरफ़ बैठ कर मनीषी ने सुकेत से कहा।

'क्यों ?'

'कालीघाट है न यह, इधर तुम्हारी बीमारी का प्रसाद चढ़ाना है।

सुकेत चुप रहा।

'क्यों, चुप क्यों हो गये ?'

'फिर बताऊंगा।'

मनीषी हंसी; बिलकुल उसी लहजे में बात करता है। बस में बेहद भीड़ थी, बालीगंज पहुंचते-पहुंचते भीड़ छंट गयी।

बालीगंज बस स्टॉप पर उतर कर दूरी बहुत थोड़ी रह जाती थी। दोनों चुपचाप चलते रहे। सड़क के दोनों ओर कोठियां थीं, कुछ छोटी कुछ बड़ी, पर सब तीन-तीन चार-चार मंजिल ऊंची। अपनी कोठी तक पहुंचते हुए बीच में नारियल के पेड़ों का बाग पड़ता था, पास ही दो छोटे लड़के कच्चे नारियलों का ढेर लिये बैठे थे।

'डाभ पिओगी ?'

'नहीं।'

'क्यों, मूड़ी होती तो तुम खा लेतीं, स्वास्थ्य के लिये वो चीज़ें अच्छी नहीं हैं, यह पिओ, यह अच्छा है।' और मनीषी के मना करते-करते सुकेत ने एक डाभ मनीषी को पकड़ा ही दिया।

'सुवह-सुवह न मैं मूड़ी खाती, न डाभ पीती, मुझे सुवह कुछ खाना अच्छा नहीं लगता। तुम एकदम वच्चों की सी वातें करते हो, वड़े पुरखा वने हो!'

'मनि, तुम्हें हो क्या रहा है, वच्चा और पुरखा दोनों एक साथ!'

'और क्या?' मनीषी ने न प्रश्न सुना न उत्तर, वह डाभ पीने लगी।

'क्या मुश्किल है, अस्पताल को देर अलग हो रही है। उधर आस-पास के लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे, घर तो अव पास ही था, वहीं चलकर नाश्ता करते।' मनीषी ने डाभ पीते हुए कहा।

'कोई कुछ नहीं कहता, किसी को इतनी फुरसत नहीं है।' सुकेत ने डाभ में पड़े हुए स्ट्रॉ को मुंह से लगा लिया था।

'आज तो सचमुच घर आने का सवाल ही नहीं था,' मनीषी ने फिर शुरू किया, 'रात की ड्यूटी थी न, फिर इतनी देर सिन्धवानी के घर लग गयी। तुम न आते तो आने का सवाल ही नहीं था। अव सिन्धवानी से ही कह आयी हूं, वह मेडिकल सुपरिण्टेण्डेण्ट को कहला दे, कि मुझे थोड़ी देर लग सकती है।'

सुकेत को अच्छा नहीं लगा, 'मैं तुम्हारे पास आज नाहक पहुंचा।' उसने मुंह विदूर कर कहा।

'न आते तो आज सारे दिन खाना मिलता मुझे?'

सुनकर सुकेत के मन में कहीं थोड़ा-सा सन्तोष हुआ। घर पहुंच कर मनीषी अस्पताल के कपड़े वदल कर वाहर आयी, तो सुकेत ने उसे वैठा लिया, 'हां, तुम घर पर वताने के लिये कह रही थीं, अव वताओ।'

'हां, कुछ वताना तो चाह रही थी, पर अव नहीं वताऊंगी। कोई खास वात भी तो नहीं है। तुम सुनाओ, इतनी दूर पहुंचे, इतनी देर में तो तुम न जाने कितना पढ़ लेते!'

सुकेत को सुनकर क्रोध आया, आवेश में वह किताव लेकर वैठ गया।

'अव पढ़ना शुरू कर रहा हूं, मुझसे अव कोई वात न करे।' सुकेत ने अपनी मेज़ पर वैठ कर पढ़ना आरम्भ किया।

'पता है, मैं तुमसे क्या कहना चाहती थी···?' मनीषी को लगा, उसनें सुकेत को व्यर्थ ही नाराज़ कर दिया।

'नहीं, मुझे अब कुछ नहीं सुनना !' मनीषी सुकेत के स्वर से पहचान गयी, कि सचमुच वह अब कुछ नहीं सुनेगा, ऐसे मौकों पर वह चुप रहना ही ठीक समझती थी। सुकेत को ज्यों का त्यों पढ़ता छोड़, वह अपने नित्य के कार्यों से निवृत्त होने में व्यस्त हो गई। निश्चिन्त होकर ही सुकेत को कुछ खाने-पीने को दूंगी—उसने सोचा। पर फिर लगा, मालूम नहीं सुकेत ने अस्पताल जाने से पहले कुछ खाया है या नहीं। मेरे लिये इतनी दूर भागा चला गया, लौट कर आया है तो खाने को भी न मिले, यह कहां का न्याय है—इसी तरह वह लड़के का ध्यान रख रही है ? नहीं नहाना-धोना उसे इस समय।

रसोई में पहुंच कर उसने छुटका मां को तिकतिकाया, 'छुटका मां, सुकेत ने सुवह से कुछ खाया है या नहीं ? जानती हो, क्या वज रहा है इस समय, साढ़े आठ !'

'विटिया, तुम्हारे आने से पहले सवेरे दो वार चाय, दूध, विस्किट, दलिया ले-लेकर गये, कुछ खायें तव न !' सुनकर मनीषी को अफ़सोस हुआ, वह भी कभी-कभी कितनी हृदयहीन वन जाती है, यह भी भूल गयी कि उसके अस्पताल से लौट आने पर ही वह नाश्ता करता था। गुसलखाने में पहुंच कर तुरत-फुरत पानी डाल वह रसोई में घुसी, अस्पताल से लौट कर रसोई में घुसने से पहले छुटका मां के निर्देश के अनुसार स्नान करना उसके लिये अनिवार्य था। सुकेत की रुचि की उसने छोटी-छोटी पूरियां सेंकीं और तव दलिया, पूरियां, चाय-विस्किट सव चीज़ें सजा कर वह सुकेत के पास ले आयी।

'सुकेत, वहुत भूख लगी है अपन को तो, कल शाम भी कुछ खास नहीं खाया था, आओ थोड़ा-सा मेरे साथ खा लो।' सुकेत को मनाने-खिलाने के लिये अपनी आवश्यकता को महत्त्व देना मनीषी के लिए ज़रूरी होता था, सुकेत अपने लिये न खाये, पर मनि के लिए खा लेना उसकी कमज़ोरी थी। मनीषी ने इसका फायदा उठाया। सुनकर सिर पुस्तक पर ही झुकाये हुए सुकेत वोला :

'तुम खाओ, मैं आता हूं।' पूछी गयी वात को दो-तीन वार टाल देने के वाद अव दुवारा उसी वात के सम्वन्ध में पूछना वह अपने स्वाभिमान के

विरुद्ध समझता था—मनीषी की आदत से वह परिचित था, जिस बात को उसने तुरन्त नहीं बताया है, उसे वह कभी-न-कभी तो बताएगी ही। दो-चार ग्रास कण्ठ से उतार लेने पर समझौता होने में फिर देर नहीं लगी, सुकेत ने कमरे में कोने वाली टेबिल पर रखे रिकॉर्डप्लेअर पर रिकार्ड लगा दिया और एक हाथ से खाते हुए सामने स्टूल पर रखी पुस्तक को पढ़ता रहा। मनीषी ने कुछ नहीं कहा, छोटे-छोटे ग्रास बनाकर चुपचाप खाती हुई वह फिर अस्पताल में सिन्धवानी के मकान में पहुंच गयी—इतने दिनों से उसने सिन्धवानी को देखा भी नहीं था और आज देखा है तो बहुत दिनों पूर्व की कई गुज़री हुई धूमिल संध्याएं उजली होती चली आ रही हैं—

'चित्रा दी, प्लीज़ एक्सक्यूज़ मी फॉर टुडेज़ ईवनिंग, कल मैं आपके साथ ज़रूर चलूंगी। यस, अ अर्जेन्ट पीस ऑफ़ वर्क !'

'शुभा दी, प्लीज़ मैंने आज हाफ़ डे की छुट्टी ली है, मेरे पेशेन्ट्स आज तुम देख लेना !' हर एक से कुछ न कुछ मीठा-तरल कहती-सुनती, वह अपने को मुक्त कर लेती थी। सिन्धवानी के मुंह से उसने दीदी, डार्लिंग, डियर जैसे कोमल मधुर शब्दों को ही सुना था। डॉक्टर सम्बोधन से औपचारिक ढंग से बातचीत करना, उसे शायद अच्छा ही नहीं लगता था। सब को उसकी बोली-बानी प्रिय थी, पिछले कितने ही दिनों से उसके साथ बैठने-बोलने का मौका कम ही आया था। उसके सम्बन्ध में किसी ने कुछ नहीं सोचा था, सोचती तो कुछ न कुछ बात तो सामने आती।

सुकेत के सामने अधिक देर इस तरह गुम रहना ठीक नहीं है। यह विचार मनीषी के मस्तिष्क में बहुत जल्दी कौंध गया और 'अच्छा सुकेत तुम पढ़ो!' कहती हुई उसे आश्वस्त कर वह अपने कमरे में चली आयी—

रातभर की थकी-जगी थी, पर कोमल एकान्त बिस्तर पर गिरकर भी उसे नींद नहीं आयी, आंखें कहीं दूर देखती रहीं—ओफ़्फ़ो, नारी के लिए किसी पुरुष के निकट पहुंच जाना कितना खतरनाक है ! सिन्धवानी अपने घर के प्राणियों की तटस्थता की बात कर रही थी, कभी उसने यह भी सोचा कि जिससे वह बात कर रही है, वह कितनी हारी-थकी, टूटी और अकेली है। हर प्राणी को सम्भवत: अपने सिवा हर कोई सुखी सहज ही नजर आता है। डॉ० चक्रवर्ती से बात करने का आश्वासन दे आयी हूं, पर आखिर क्या

बात करूंगी मैं ? सिन्धवानी खुद भी तो कर सकती है। खुद ही कर सकती है और कोई नहीं कर सकता। उसने सोचा—डॉ० चक्रवर्ती भी क्या सोचेंगे, कि सिन्धवानी कैसी ओछी तबीयत की लड़की है···और डॉ० चक्रवर्ती भी कैसे हैं, चार बच्चों के बाप कुछ सोचा-समझा ही नहीं, शादी करनी थी तो ढंग से कर लेते, इतनी बड़ी दुनिया देखे हुए आदमी को और फिर डॉक्टर होकर, कम से कम एक लड़की पर इतना अत्याचार तो नहीं करना चाहिए था। और अब वह लड़की भी क्या है, खुद बात भी नहीं कर सकती। बात हो जाये, सब कुछ पक्का हो जाये, तो मैं इतना ज़रूर करूंगी, कि अपने साथ की सहयोगिनियों से उस बारे में बिना कुछ कहे उसकी शादी में शामिल होने के लिये कहूंगी। नहीं-नहीं, सिन्धवानी की शादी हम सब खुद मिलकर रचायेंगी, सब मिलकर सिन्धवानी को क्या भेंट देंगी ? नहीं-नहीं, कोई उपहार उसकी ओर से उसे अलग से भी दिया जाना चाहिए—सिन्धवानी ने उसे कितना माना है।

सिन्धवानी कह रही थी, कुछ बच्चों की मुश्किल है, तो क्या बच्चों की वजह से ही डॉ० चक्रवर्ती शादी नहीं करना चाहते ? लोग तो बच्चों की आड़ लेकर ही एक के बाद एक कई-कई शादियां रचा डालते हैं। हो सकता है, बच्चे बड़े हों, डॉ० चक्रवर्ती भी तो काफ़ी बड़े दिखाई देते हैं। उन्हें भी तो शायद मैंने सिर्फ़ एक बार ही देखा था, किसी डॉक्टर्स-मीट में—सुकेत ने कुछ पूछने-कहने ही नहीं दिया···। विचारशृंखला एकाएकी टूटकर सुकेत से आकर जुड़ गयी : बोलो. ऐसे कैसे काम चलेगा, ज़रा देर हो गयी और बुलाने चल दिया। यही तो मैं उसे बताना चाह रही थी, कि जिस दिन वह हमेशा के लिये अस्पताल में जाकर रहने लगेगी, उस दिन वह क्या करेगा, उसे कैसे बुलाकर ले आयेगा। अच्छा हुआ अभी कुछ नहीं कहा, इम्तहान से पहले किसी प्रकार का उपद्रव उठाना ठीक नहीं—वह फिर सिन्धवानी के केन्द्र-बिन्दु पर आ गयी :

आखिर सिन्धवानी ने उसे ही क्यों बुलाया ? और बुलाया भी तो इस बात के लिये, इसे तो उसे अपने आप ही तय कर लेना चाहिए था—बेचारी सिन्धवानी ! हो सकता है वह अकेली इस सबको न झेल पा रही हो, इतनी बड़ी उलझन में किसी को साथी बनाना कितना ज़रूरी हो जाता है ! खुद

डॉ० चक्रवर्ती से ही उसने अपनी उलझन क्यों नहीं कही ? व्यक्ति अपना सब कुछ सौंपकर भी क्या एक-दूसरे के साथ इतना अन्तरंग नहीं हो पाता ? ज़रूर सिन्धवानी डॉ० चक्रवर्ती के साथ जुड़ने में कहीं संशय अनुभव करती होगी। कहीं वह केवल इसी उलझन के कारण ही डॉ० चक्रवर्ती से सम्बन्ध स्थापित करना चाहती हो। दोनों की उम्र में भी तो काफी अन्तर है—सुकेत ने कुछ बातचीत ही नहीं करने दी, पर जब दोनों इतने करीब आ ही गये हैं, तो दोनों ही अपने आपसी सम्बन्ध को मिलकर सुलझायें। वह सिन्धवानी से बात जरूर करेगी—यही सब कुछ वह उसे अच्छी तरह समझा देगी। हो सकता है, उसका बीच में पड़ना सिन्धवानी के हित में न हो—मनीषी बहुत देर तक सोचती रही, उस विचार-मन्थन में ही डूबी वह कब गहरी नींद में खो गई, उसे पता ही नहीं चला। आंख खुली तो वह हड़बड़ा कर उठ बैठी, सिर्फ़ दस बजे तक की ही तो छुट्टी लेकर आयी थी वो ! पिछले लॉन में फैली हुई धूप पिछली ओर बने आउटहाउसों के मुंडेरों पर चढ़ गयी थी, कलाई पर बंधी घड़ी पर दृष्टि गयी : साढ़े दस। अरे इतनी देर उसे किसी ने नहीं जगाया ? सुकेत तो शायद कॉलेज भी चला गया होगा। बाहर आयी तो छुटका मां बरामदे की सीढ़ियों पर बैठी अपनी धोती में खींप भर रही थी।

'बिटिया, उठ गईं, भइया तो कालिज गये।'

'कुछ खाना खाकर गये ?'

'कहां खाया, कहा तो बोले, मनि माशी ने इतना कुछ तो खिला दिया है।'

'ओफ़्फ़ो, सुबह का खाया हुआ सारे दिन रह सकेगा सुकेत !' चोटी खोलकर जूड़ा बनाती हुई भीतर आयी तो फिर अचानक कुछ याद आ गया, कमरे की खिड़की से ही चीख कर बोली, 'छुटका मां, तुमने खाना नहीं खाया ?'

'बिटिया, तुम सबकी तरह भूखे रहने की शक्ति हममें नहीं है, सो खा लिया।'

'अच्छा किया, बहुत अच्छा किया।' मनीषी अस्पाल के लिये तैयार होने लगी तो सिन्धवानी फिर सामने आकर खड़ी हो गई, हृदय में कहीं

एक हाल बुरी तरह जगी, पूअर थिंग ! दुनिया में हर आदमी कितना अकेला है। वह भी तो अकेली थी—शुभा, कुलकर्णी, माण्डेकर सबके साथ रहते हुए भी कभी-कभी कितनी उदासी घेर लेती थी, सच वह तो दुनिया में एकदम अकेली ही थी; अच्छा हुआ सुपर्णा दी ने सुकेत को उसे सौंप दिया, अब कितनी उलझी और घिरी रहती है, पर यह झुंझलाहट, बन्धन, मायामोह—चलो अच्छा है कम से कम एक उत्तरदायित्व के निर्वाह का लक्ष्य तो उसके सामने है ही।

छह

शाम को सिन्धवानी के क्वार्टर में पहुंची तो वह उसकी प्रतीक्षा कर रही थी, उसे देखते ही चहकी, 'मनीषी, अब तुम्हारी मुक्ति हो गई। अब तुम्हें कुछ भी नहीं कहना-करना पड़ेगा।'

'क्यों, ऐसा क्या हो गया, मुझसे नाराज हो ? सच क्या बताऊं सवेरे तो सुकेत मुझे ऐसे घसीटकर ले गया, जैसे घर पर मेरे बिना न जाने क्या कुछ मिटा जा रहा हो।'

'तुमसे बहुत हिला है न ?'

'हिला ? कोई बच्चा है वो ! इतना बड़ा तो है, इण्टर का इम्तहान देगा अब, हिलने का क्या सवाल है।'

'नहीं-नहीं, बड़ा भले ही हो, पर कभी-कभी बड़े हो जाने पर भी बच्चों को बहुत ममता रहती है।'

'होगा ! तुम अपनी कहो, आखिर क्या हुआ ?' डॉ० चक्रवर्ती मिले थे क्या !'

'मिलने का क्या सवाल है, तुम मुझे छोड़कर चली गयीं तो सच क
हूं, इतना अकेला लगा, एक अजीब तरह का भय। मैं नहीं जानती,
स्थिति में विवाहिता स्त्रियों को कैसा लगता होगा, पर जब से मेरी हा
ऐसी हुई है, तो जिसे अपना मानती हूं, उसके हटते ही एक विचित्र प्रक
की असुरक्षा की भावना चारों ओर से मुझे बुरी तरह दबोचने लगती
जैसे पास बैठे हुए व्यक्ति का कुछ ऐसा दबाव हो, जो मुझे दूर उड़ने से रोक
लेगा। तुम गयीं तो ऐसा ही लगा, बहुत देर तक फूट-फूट कर रोती रही
नहीं रुक सकी तो नौकरानी से डॉ० चक्रवर्ती को फोन करवाया, वे तीसरे
पहर तक पहुंचे, बोले हॉस्पिटल में कुछ खास ऑपरेशन थे। आये तो आज
मैंने कुछ नहीं छिपाया—तुम क्या सोचोगी, खुद अपने को समर्पित कर दिया,
ओह, मैं क्या कह रही हूँ! समर्पित तो मैं पहले ही कर बैठी थी, पर आज तो
मैंने स्वयं ही प्रस्तावित किया, खुलकर सब बातें पूछीं, अपनी कठिनाइयां-
स्थिति बतायीं—तब उन्होंने बताया, उनके बड़े लड़के ने एकदम मना कर
दिया था। मेरे मन में रोष भभका—'तब वह कदम भी तुम्हें बड़े लड़के से
पूछ कर ही उठाना चाहिए था, मुझसे पूछो, मैंने अपनी ज़िन्दगी के लिए
कितना बड़ा अभिशाप पाल लिया है!'

'अभिशाप!' उन्होंने बड़े आश्चर्य से पूछा।

'अभिशाप नहीं है? आपकी और मेरी उम्र में कितना फ़र्क़ है, कभी
आपने गौर किया, पन्द्रह बरस का तो होगा ही?' थोड़ा रुककर मैंने कहा।

'वो चुप रहे। बात सच थी, कुछ देर बाद विचारपूर्ण मुद्रा में बोले—

'कमला, यह सम्बन्ध उम्र नहीं देखा करता, हम दोनों तो जान-बूझ
र इस बन्धन में बंधे हैं...।' मैं बीच में ही कहना चाहती थी—

'अभी उस प्रकार के बन्धन में कहां बंधे हैं?' पर उन्होंने कहने का
का ही नहीं दिया, डूबे हुए कहते रहे, 'रुचिर की मां मुझसे छह महीने बड़ी
रही होंगी, घर में किसी ने ध्यान ही नहीं दिया...।''

'इतनी छुटाई-बड़ाई चल जाती है, पर जानबूझ कर इतना बड़ा
र?'

'देखो, जहां विचारों का मेल होता है, वहां उम्र का अन्तर कुछ मानी
खता, मैं तुमको बताता हूं...।' पर उस समय मैं कुछ इतने भावावेश में

थी, कि मैंने उनकी अगली वात सुनने से एकदम इन्कार कर दिया, वोली—
'वो सब ठीक है, पर जिस उपस्थित वन्धन में हम अनजाने में ही वंध गये हैं, उस वन्धन को और अधिक मज़वूत करने के लिये भी आपने कुछ सोचा ?'

सुनकर वे फिर चुप रहे, जैसे विचारों की किसी वड़ी मुहिम में से गुजर रहे हों, मैं वकती रही। मेरे ख़ामोश हो जाने के वाद वे वोले—

'हम दोनों के मिलने के लिये अव इतना ही वन्धन काफ़ी है। लड़का मना करता है तो जाने दो, जरूरी नहीं है, एक-दूसरे से जुड़े रहने के लिये वाहरी औपचारिकता निभायी जाये।'

'क्या ?' मैं आश्चर्यचकित थी।

'मेरा मतलव है धार्मिक या कानूनी अनुष्ठान, जिसकी तरफ़ तुम्हारा इशारा है, मैं इन हालात में उसे वेकार समझता हूं। मेरा व्यक्तिगत अनुभव भी यही है, कि ये वाहरी विधि-विधान भी दो व्यक्तियों के दिलों को मिलाने की शक्ति नहीं रखते, तो छोड़ो मैं तुम्हारा हूं, हमेशा रहूंगा।'

'पर ऐसे कैसे ? मैं इतनी ऊंची नहीं हूं, इन ऊंचे आदर्शों, इस उलझी फ़िलासफ़ी को मैं नहीं समझ पा रही। यह कवीले जैसा ढंग मुझे पसन्द नहीं है। अगर तुम सच्चे हो, जो कुछ कह रहे हो वह सही है, तो कुछ तो ऐसा होना ही चाहिए जिससे चार जनों के वीच में सिर उठाकर खड़ी हो सकूं, खुद को समझा सकूं।'

'मुझे लड़के से विरोध करना पड़ेगा।' उन्होंने सोचकर कहा।

'मैं नहीं जानती।' मैंने कहा था।

'सो ख़ैर मनीषी, यह सव कुछ तो हुआ, पर मैंने डॉ० चक्रवर्त्ती को मना लिया है, उनके वेटे को वाद में मनाऊंगी। और जानती हो एक वात सव से वड़ी, मुझे जो तुमसे कहनी है।'

'कहो !'

'यही कि शादी तुम्हारे यहां से ही होगी, यानी तुम्हारे घर में, तुम्हारे आंगन में।'

'क्या कह रही हो ?' मनीषी का चकित स्वर एकदम मुखर हो उठा।

'यही कह रही हूं जो तुम सुन रही हो। मैं जानती हूं यह सव मुश्किल

है, 'तुमसे बिना पूछे ऐसी बात अपने आप तय नहीं की जानी चाहिए थी, आखिर तुम्हारे घर पर मेरा अधिकार भी क्या है, पर यह सब कुछ मैंने सोच-विचार कर ही कहा है।'

मनीषी प्रश्नात्मक मुद्रा में चुपचाप सिन्धवानी की आंखों में देखती रही, मेरा घर वहां कहां है ? तुम्हें पहचानने में भूल हुई है—वह मथ रही थी, पर वहां याचना थी, विश्वास था, स्नेह था, अकुलाहट थी। कांपते-से स्वर में सिन्धवानी बोली :

'मनीषी, तुम नहीं समझोगी, मैं अपने माता-पिता से दूर कट गयी हूं। डॉक्टरी पेशे में हूं, इसलिए इतने दक़ियानूसी संकीर्ण विचारों की चिन्ता मुझे नही होनी चाहिए थी, फिर भी मुझे अपने माता-पिता का ख्याल आता है—वे जहां रह रहे हैं, वह एक छोटा-सा गांव है, पिताजी की बड़ी मान-मर्यादा है। मेरे सम्बन्ध में उन्होंने वहां लोगों के मनों में बहुत लम्बी-चौड़ी बातें बैठाई हुई हैं—बेकार का घमण्ड—सो थोड़ी-सी चिन्ता मुझे उनकी ही है। मेरी शादी की तस्वीर भर भी देख लेंगे, तो अपनी आखिरी उम्र में उन्हें कम से कम यह अफ़सोस नहीं रहेगा कि उनकी बेटी ने कोई गलत काम किया है...' वाक्य के आखिरी शब्द कहती हुई सिन्धवानी अटकी, हृदय में किसी ने खुद ही घन-सा पटका—यह क्या कह रही है तू, शर्म नहीं आती तुझे ? पर अटक कर वह रुकी नहीं, कहती रही, जैसे एक मोटर सामने आये बजरी के टीले पर चढ़ती ही चली जाये, कुछ रुक-ठिठक कर कुछ गाड़ी को तीसरे गिअर में डालकर बोली :

'डॉ० चक्रवर्ती किसी तरह राज़ी हो गये हैं, तुम जिस ढंग से कहोगी, शादी हो जायेगी।'

'ये व्यर्थ के ढकोसले !' एकाएकी मनीषी के मुंह से निकल गया तो सिन्धवानी के चेहरे का जैसे रंग उड़ गया, फिर चिरौरी-भरे स्वर में बोली।

'रानो, मेरी मदद नहीं करेगी ?'

'मैं तुम्हारी सब तरह से मदद करने को तैयार हूं, पर तुम खुद अपने को पागल बना रही हो, अरे क्या रखा है इन सब बातों में।'

'तो क्या चाहती हो, मैं यूं ही डाली-पाली की तरह पड़ी रहूं, कभी किसी चीज़ पर अपना हक़ न जता सकूं ? जानती हो पति की सम्पत्ति-

जायदाद पर ब्याहता पत्नी का ही हक़ होता है। जहां पति-पत्नी ही अकेले हों, वहां चलो इन सब चीज़ों को छोड़ भी दिया जा सकता है, पर यहां तो कुछ और भी झगड़ा है, डॉक्टर साहब के पीछे बच्चे हैं, कोई दूसरे सगे-सम्बन्धी भी होंगे ही और सब से ऊपर मेरी भी तो कोई चाह है। अपराध कर डालने से मन की कामनाएं तो नहीं मर जातीं, मैंने भी कुछ सपने देखे थे···।'

मनीषी एकटक सिन्धवानी के चेहरे की ओर देखे चली जा रही थी, यह लड़की क्या है, इतनी बड़ी, आत्मनिर्भर व्यक्तित्व होते हुए भी आगे-पीछे का कितना कुछ सोच रही है! इतनी व्यावहारिक बुद्धि, दूरदर्शिता हर किसी में होना सम्भव नहीं। क्षण-भर को सिन्धवानी की इतनी काट-छांट, नाप-तौल की वृत्ति ने मनीषी के हृदय में उसके प्रति एक विरक्ति भर दी थी पर इससे पहले कि वह अपनी अनिच्छा प्रगट करती, एक छोटा-सा वाक्य कहीं उसके सीने में रड़क उठा।

'अपराध कर डालने से मन की कामनाएं तो नहीं मर जातीं।' मनीषी ने कहा, 'ठीक है, मेरे घर में ही सब इन्तज़ाम हो जायेगा। सुकेत के इम्तहान पास हैं, पर चलो देखा जायेगा।'

'सिर्फ़ दो घण्टे की ही तो बात होगी, बस।' इस खरतल वाक्य में से झांकता सिन्धवानी का मुंहफटपना—कल की उदास, निरीह, सुकोमल तरुणी इस सबमें न जाने कहां खो गई थी। घर से मनीषी सिन्धवानी को समझाने और साहसी क़दम उठाने जैसी बात कहने, पहले से ही सोच कर चली थी, पर जब सिन्धवानी ने यह क़दम उठा ही लिया और सब बात लगभग तै-सी हो गई तो मनीषी के मन में कहीं एक शून्यता का कांटा-सा उग आया।

क्यों झेले वह यह व्यर्थ की बकवास? [illegible] करना हो करे। ज़्यादा से ज़्यादा वह विवाह में शामिल हो [illegible] सारी [illegible] भुगतेगा। इतनी सारी दूसरी डॉक्टर [illegible] सिन्धवानी उनसे क्यों नहीं कहती। उनके कोई घर नहीं है [illegible], वह [illegible] क्वार्टर में रहती होगी, तो [illegible] नहीं फंसना [illegible]। [illegible] सिन्धवानी ने यह योजना [illegible] कि [illegible]

मां शायद तम्बाकू खाने पीछे आउटहाउसेज़ की तरफ़ चली गयी थीं, उसने खुद चाय बनायी। ग्लुकोज का डिब्बा, जिसे वह सुकेत के लिए साथ खरीद कर लायी थी—एक प्लेट में रख कर वह सुकेत के कमरे में ले आयी, सामने रख कर बोली, 'खाओ!'

'सुकेत ने एक बार मनीषी की तरफ देखा, जैसे पहली बार चाय के साथ सिर्फ़ बिस्किट लाकर रखे देखकर उसे आश्चर्य हुआ हो, उसने प्लेट अजय के सामने सरका दी, वह चुपचाप चाय के घूंट सिप करता रहा।

'सुनो सुकेत तुमसे एक राय लेनी है। अपने घर की बात है और तुम घर में सबसे बड़े हो, इसलिए तुमसे ही सब कुछ तय करना है।'

'मैं घर में सबसे बड़ा कब से हो गया ?'

'जब से सुपर्णादी नहीं रही हैं।' कहने के साथ ही मनीषी को खुद ही कहीं खटका, सुपर्णादी का नाम उसने ऐसे ही इतने बेलाग ढंग से कैसे ले दिया; सुकेत के चेहरे पर असमंजस की रेखाओं में कोई अन्तर नहीं आया था, वह वैसे ही मुंह बाए बैठा था।

'क्यों तुम बड़े नहीं हो ? तुम्हारी यह इतनी बड़ी कोठी है, सब कुछ तुम्हारा ही तो है।' कहते-कहते मनीषी को फिर लगा, उसके कहने के ढंग में कहीं कोई अलगाव जैसा भाव आ गया है, इसलिए अपनत्व ढालती हुई बोली।

'घर में तुम्हीं तो मर्द हो, जो कुछ कहना होगा हम तुमसे ही तो कहेंगी।'

'हां यह मानी, और सब बेकार की बातें हैं एकदम यूज़लेस। हां कहो, क्या बात है ?' सुकेत अपने तख्त पर रखे गायदुम तकिये से टिक कर बैठ गया। मनीषी ने कथा का पूर्व भाग छिपा कर सिन्धवानी की पूरी बात सुना दी।

'बेचारी लड़की, मां-बाप ध्यान नहीं देते, अपने गांव से इतनी दूर पड़ी है, तो लड़की को खुद ही तो अपना इन्तज़ाम करना है न ! क्या बुराई है, आखिर मैं तो कोई बुराई मानती नहीं, अच्छा खासा मेल रहेगा, दोनों हम-पेशा हैं, लड़की सीधी है, डॉ० चक्रवर्त्ती की घर-गिरस्ती को अच्छी तरह

संभाल लेगी।' सिन्धवानी की वकालत में वह प्रश्न-उत्तर खुद करके मानो अपना समाधान कर रही हो, और सामने बैठे सुकेत को तैयार भी। सुकेत गोला तकिये से ढासना लगाये ऐसे बैठा रहा जैसे कोई बड़ी भारी मिसिल सुन रहा हो और अब उसे कोई बड़ा भारी फैसला देना हो, सचमुच फैसला सुकेत का ही था। पूरी बात और दस तरह के उतार-चढ़ाव सुनकर सुकेत ने गम्भीर स्वर में कहा,

'अगर तुम कोई हर्ज नहीं समझती हो, तो ठीक है, वैसे मैं खुद यह सब बेकार समझता हूं। अरे शादी करनी है तो कोर्ट में जाओ और कर लो।'

'मैंने भी उससे यही कहा था, पर वही दकियानूसीपन, पुराने संस्कार, —पगली है!'

'ऐसे पागलों का कोई इलाज नहीं है।' सुकेत जैसे आखिरी बात कह कर सिंहासन से हटना चाह रहा हो, मनीषी को संशय हुआ, इसलिए बात को एक नया मोड़ देती हुई बोली,

'छुटका मां से और सलाह ले लेंगे, उन्होंने हम दोनों के मुकाबले ज़्यादा दुनिया देखी है।' सुकेत को शायद छुटका मां से राय ले लेने वाली बात अच्छी लगी, या 'हम दोनों' शब्द ने उसे गुदगुदाया, वह मुस्करा उठा, बोला,

'अब मैं पढ़ने बैठ रहा हूं।' और फिर चलते-चलते कहा।

'अब पता चला, आपकी डॉक्टर सहेलियों को कैसे-कैसे बुखार चढ़े रहते हैं।'

'मैंने बुख़ार की बात कही थी, कब?' मनीषी को याद आया तो वह भी खिलखिलाकर हंस पड़ी, 'चलो-चलो, तुम अपना काम करो। पर हां, एक बात कहती हूं,' तख्त से उठते हुए कुछ ठिठक कर वह बोली, 'तुम अब अपने दोस्तों के साथ बड़ा समय खराब करने लगे हो, ठीक है किसी का आना-जाना खिलाना-पिलाना बुरा नहीं लगता, पर इस तरह समय की बर्बादी जब परीक्षा के लिए सिर्फ़ पन्द्रह दिन रह गये हैं, तो ठीक नहीं है न!'

'आप निश्चिन्त रहें, अपना अच्छा-बुरा मैं ज़्यादा अच्छी तरह जानता हूं। आप जाइये, अभी सिन्धवानी जी का ब्याह रचाइये, लेकिन मैं ज़्यादा

शोर-शरावा नहीं चाहता, माइन्ड !'

सुकेत का आदेशात्मक स्वर सुनकर मनीषी चुपचाप चली आयी।

सिन्धवानी की शादी में सचमुच कोई शोर-शरावा नहीं हुआ। छुटकी माँ से राय ली थी तो उन्होंने कहा था, 'विटिया, किसी की शादी रचाने का वड़ा पुण्य होता है, भगवान् करे तुम्हारे आंगन में भी ढोलक बजे, बहुरिया आये। निश्चिन्त मन से काम करो, फिकिर चिन्ता काहे की !'

उस दिन आंगन में हरे पत्तों का छोटा-सा मण्डप बनाया गया था केले के खम्भों को लगाकर जहां-तहां नारियल लटका दिये गये थे। [illegible] ने मिलकर सिन्धवानी को फूलों से खूब सजा दिया था छुटकी माँ ने कन्यादान लिया और आर्यसमाजी ढंग से दो घण्टे के भीतर [illegible] गया। नगाड़े-नफ़ीरी, ढोल-तासे कुछ नहीं, पर [illegible] ही पूरे घर में एक विचित्र प्रकार का उल्लास छा गया था [illegible] चमक-दमक और खिलखिलाहटें। खिलखिलाहटें [illegible] मण्डप से उठते हुए सिन्धवानी का पैर बुरी तरह [illegible] हुए पैर के लंग ने मनीषी के बिना कहे ही [illegible] था। 'शी इज़ लकी।' इधर-उधर हल्की फुसफुसाहटें [illegible]

आमन्त्रित व्यक्तियों में पास-पड़ोस का कोई नहीं [illegible] नर्स और कुछ पुरुष डॉक्टर। पुरुष डॉक्टरों [illegible] नवदम्पति के चित्र लिये थे। [illegible] का ही अन्दाज़ लगाया था। खाने-पीने के [illegible] से बाहर बुलाया गया। पार्टी का [illegible] किया गया था, सब डॉक्टरों ने [illegible] और कीमती सेंट की शीशी [illegible] एलवम भेंट की। गाड़ी में बैठने [illegible] गयी, 'मैं तुम्हें कभी नहीं भूल सकूंगी' [illegible] कहा।

डॉ० चक्रवर्ती सिन्धवानी [illegible]

वैठे, तो सबकी आंखें डबडवा आयी थीं।

उस रात मनीषी पूरी रात सो नहीं पायी—कुछ छोटे-छोटे स्मृति-खण्ड मस्तिष्क में आ आकर टकराते रहे। उसकी शादी के सामने यह शादी क्या थी, एक गुड़िया का तमाशा। उस रात के वैण्ड वाजों का स्वर इस सन्नाटे में उसके कानों के पर्दों को फोड़ने लगा। फूलों और जेवरों में लिपटी उस रात की दुलहन की तस्वीर उसके वक्स के तले में वहुत दिनों तक लिपटी पड़ी रही थी। क्यों रखती थी वह उसे अपने वक्स में! मां ने कई वार छिपा-दुवकाकर इधर-उधर कर दी थी, फाड़ डालने के लिये भी हाथ में लिया था, पर उसने ही मां को कसम दिला दी थी, 'खवरदार जो फाड़ा इसे, अव कोई मेरी ज़िन्दगी में दुवारा यह दिन आयेगा!'

'पगली, जो दुवारा आने के लिए नहीं है, उसे चिपकाकर क्यों रखा जाये! भूल जा, कि कभी कुछ हुआ था, घटा था।'

मां के कहने के वावजूद वह कुछ नहीं भूली थी, सीने के फ़र्श पर पड़े हुए खून के निशान क्या केवल कह देने भर से घुल जाते हैं। आज उसे एक-एक दृश्य याद आता चला जा रहा था—ससुराल की दहलीज पर पैर रखते ही वन्दूक छोड़ी गयी थी और वह खुशी, आह्लाद, सौभाग्य की कर्ण-भेदी वन्दूक की आवाज़ गोली के रूप में नवलप्रकाश की पसलियों में धंसती चली गयी थी। घर का वेतुका पुराना सड़ियल रिवाज़ नई वहू के माथे पर कलंक वनकर रह गया था। वहू क्या आयी दुर्भागिन हमारे वेटे को ही ले डूवी—वेटे की जगह तव केवल वहू भीतर घुसी थी, छमछम करती हुई आवाज़ को किन्हीं क्रूर के हाथों ने वुरी तरह दवोचकर रौंद डाला था—चूड़ियां, नेकलेस, कर्णफूल, झूमर—सव तोड़-खींचकर लुप्त कर दिये गये थे। घण्टों अचेत पड़ी उसको लाश की तरह उठाकर तुरन्त मां की दहलीज़ पर जाकर फिर डाल दिया गया था—। मनीषी अधिक नहीं सोच सकी, आंसू वह-वह कर उसकी कनपटियों पर झूलती लटों को भिगोते रहे, खिड़की में से झांकते आधे चांद की रोशनी कव उसके तकिये पर सिर रखकर सो गई थी, उसे पता ही न चला।

गयी न सब हेकड़ी, दोस्त-अहवाब आज क्या कहते होंगे। नाहक उसने जूली को इतने दिन पहले से परिणाम आते ही सूचित करने के लिये कह रखा था। अखबार आते ही बेचारी का सबसे पहला काम परिणाम देखना ही होता था।

वह खुद न किसी से कहती, न किसी को पता लगता। क्या कह रही होंगी सब—? रिंगती हुई मनीषी अस्पताल के गेट पर आकर खड़ी हो गई थी, पक्की सड़क पर मोड़ के बाद ही तो बस स्टॉप है, फिर वह वहीं रुकी क्यों खड़ी है? अरे आज का दिन कैसा बदला-बदला-सा दिख रहा है, जैसे वह घसीटती हुई लायी गयी हो। रोज़ घर पहुंचने का कितना उल्लास रहता था, रास्ते से दो-चार चीज़ें खरीद कर भी ले जाती थी, ऊंह क्या होगा आज कुछ खरीद कर! कौन खायेगा पियेगा—? बस स्टॉप पर खड़ी हुई भी वह सोचती रही—

सुपर्णादी स्वर्ग में बैठी कह रही होंगी, 'मनीषी, मेरे सामने सुकेत हमेशा पहली श्रेणी में पास होता रहा।'

'अब मैं क्या करूं सुपर्णादी, आपका बेटा पास हो गया, यह क्या कम है। मैं तो पूरे समय यही कोशिश करती रही, मैंने कोई कसर छोड़ी हो तो बताओ!' कल्पना में ही अपराधिनी बनी सुपर्णादी को वह अपनी सफ़ाई देती रही। बस के लिए क्यू में लगी उसके आगे भी दो-चार आदमी आकर खड़े हो गये हैं, उसे चेत ही नहीं था। आज घर जाने के लिए मन में उत्साह नहीं था, पर सुकेत अकेला होगा न जाने क्या कुछ सोच रहा होगा। अभी लड़का ही तो है, कहीं कुछ उल्टा-सीधा कर बैठे तो! वह इस प्रकार की असफलता का अभ्यस्त ही कहां है, आज वह इसलिए तो जल्दी चल दी है, नहीं तो आज तो सुकेत से उसे बिल्कुल भी डर नहीं था। आज वह उसे कुछ भी नहीं कहेगा, रोज़ देर से आने पर जैसी पूछ-ताछ होती थी वैसी आज नहीं होगी। सुकेत किस कमरे में होगा—? बस आने पर वह यन्त्र-वत ही उसमें चढ़कर आ गयी थी। घर तक पहुंचते-पहुंचते भी उसे वही रास्ता आज भी लांघना पड़ा था, जो उसने एक दिन सुकेत के साथ पार किया था, सुकेत ने यहां इसी बाग में पेड़ के नीचे उसे नारियल लेकर थमाया था—

'सुकेत, तुम्हारा रिजल्ट आ गया न !'

'वही तो मैं बताने जा रहा था, आप रुकी कहां, सीधी चलती हीं हीं।' उसने एकदम ठिठक कर पीछे देखा, कहीं जूली और उसकी आंखों ा ग़लत रोल नम्बर तो नहीं देख लिया; औत्सुक्यपूर्ण व्यग्रता के साथ उसने सुकेत की ओर देखा।

'क्या बताने जा रहे हो, कहो ?'

'कहूं क्या, यही कि मेरा डिवीज़न ही ठीक नहीं रहा। पास तो हो गया हूं, तुमने तो मेरी पीठ भी नहीं ठोंकी।'

'पीठ ठोंकने की इसमें क्या बात है। पास तो तुम्हें हो ही जाना था'।

'और बहुत अच्छा डिवीज़न भी लाना ही था।'

'लाना था, पर क्या किया जा सकता है।' मनीषी ने सावधानी बरती, कहीं उसके किसी शब्द से सुकेत के हृदय को ठेस न पहुंचे।

'ठीक है, बुरा हुआ, बहुत बुरा हुआ, मुझे इतनी उम्मीद नहीं थी, पर छोड़ो, मुझे बहुत भूख लगी है, नाश्ता दोगी न !'

'अभी देती हूं।' कह कर मनीषी अपने कमरे आ गयी। रोज की तरह स्नान करने के लिए साड़ी का पल्ला पलंग पर डाल कर कपड़े बदलने लगी, तो हृदय में कहीं एक तार सा छुभा, न जाने क्यों ?

'ऊंह, आदमी हमेशा अच्छा ही अच्छा पाने की इच्छा क्यों करता है, बुरा है तो बुरा भी झेले ! एकाएकी सुकेत उसके दरवाजे पर आकर खड़ा हुआ कहने लगा था। मनीषी ने साड़ी का पल्लू उठा कर फिर कन्धे पर डाल लिया।

'तुम ठीक कह रहे हो, पता नहीं क्या हुआ, इतने बुरे पेपर करके तो तुम नहीं आये थे ?' हृदय की कुरदेन अचानक ओठों पर आ गयी, फिर एक दूसरा उबाल—सुकेत यह बात नहीं कह रहा, तो वह क्यों कहे ?

'आओ, भीतर आओ सुकेत !' उसने सुकेत को भीतर बुला लिया। सुकेत भीतर आकर पलंग पर बैठ गया, उसकी बिना बॉर्डर की सफ़ेद सिल्कन साड़ी को छूता हुआ बोला, 'तुम हमेशा ऐसी-ऐसी साड़ियां क्यों पहनती हो, मनि ? क्या लेडी डॉक्टरों के लिए इस तरह की साड़ी पहनना जरूरी है ?'

'ऐसी साड़ी पहनना तो जरूरी नहीं, पर हाँ डॉक्टर की ड्रेस सादी और प्रभावशाली होना चाहिए, बहुत चमकीले भड़कीले रंग अस्पताल में अच्छे नहीं लगते—। मुझे तो वैसे भी चटक-मटक पसन्द नहीं।' उसने बात खत्म कर दी। इतने गम्भीर मौके पर बेकार की हल्की-फुल्की बात—सुकेत शायद अपने को भुलाना चाह रहा है, चलो ठीक है, वह ड्रॉअर में से पहनने के कपड़े निकालती रही।

'हां तो तुम नाश्ते के लिए बिल्कुल तैयार हो?' उसने घर पहनने की साड़ी निकालकर पलंग पर रख दी। किनारे पर खड़े हुए स्टेण्ड से तौलिया और ब्लाउज खींचा और फिर 'ठीक है मैं अभी आ रही हूं।' कहती हुई वह गुलसखाने में चली गयी। अचानक उसे याद आया, उसकी मैली धोने वाली धोती शायद पिछले बरामदे में पड़ी है— 'उठा लाऊं, मुश्किल से दो मिनट लगेंगे, धो डालूं—'सोच वह दौड़ कर बाहर निकली, पीछे बरामदे में गयी तो पड़ोस के विकी की बहन शुचि खड़ी हुई छुटका मां से बतिया रही थी, उसे देखा तो नमस्ते करके पास खिसक आयी।

'दी, सुकेत दादा क्या कह रहे हैं?'

'क्यों, नाश्ते का इन्तजार। मैं नहा लूं तो नाश्ता करेंगे। तुम भी आओ।'

'नहीं, वो नहीं, पता है जब अखबार में रिज़ल्ट आया तो क्या हुआ?'

'क्या हुआ?'

'यही तो मैं छुटका मां को बता रही थी, बहुत सवेरे से ही सुकेत दादा हमारे घर बैठे थे, कह रहे थे अखबार में रिजल्ट देख कर वे तुम्हें फोन करेंगे। पर जब अखबार आया···। शुचि की आधी बात सुनते-सुनते ही मनीषी बरामदे की खूंटी से उतारी हुई धोती लिए हुए वहीं बरामदे की सीढ़ियों पर बैठ गयी, शुचि कहती रही, 'तो अखबार में अपना रोल नम्बर देखते ही सुकेत'दा ने एक इतनी बड़ी हिचकी भरी, आंखों में आंसू भर लाये, बोले 'क्या करूंगा अब फोन करके···।' मां ने रोका तो सच दी तुम विश्वास करोगी, सुकेत'दा मां के कन्धे पर गिर पड़े और सुबकियां भर कर रोने लगे, एकदम लड़कियों की तरह।'

'अरे! सुकेत एकदम पागल है, यह कुछ तो होता ही रहता है।

मनीषी ने अपनी निर्द्वन्द्वता प्रकट की, उठने लगी, तो शुचि बोली, 'बड़ी मुश्किल से मां ने एक कप चाय पिलायी।'

'मां को कह देना, चिन्ता न करें, मैं उनके पास कभी आऊंगी। सुकेत ठीक है। मैं इस समय नहाने जा रही हूं। ठीक है न।' और फिर छुटका मां की ओर मुंह करके बोली, 'सब कुछ चलता है।'

'और क्या बिटिया, मैं इनसे यही कह रही थी, हमारे सुकेत भइया सब संभाल लेंगे, शुरू-शुरू में सुन कर हर किसी को बुरा लगता है।'

'छुटका मां, तुम कितनी समझदार हो, चलो अब दूध गरम कर दो और कुछ नाश्ता भी, शुचि से कहो वह भी ठहर जाये, क्यों शुचि ?' और प्रश्न के साथ ही वह फिर गुसलखाने की ओर मुड़ गयी, जानती थी शुचि को ठहरना नहीं है और उसे महज औपचारिकता निभानी है। नल के नीचे धोती फींची, देह पर पानी डालती हुई फिर मन में कुछ करक सी लगी; सुकेत उसके कन्धे पर सिर रख कर क्यों नहीं रोया, उसे मनि के सहारे की जरूरत नहीं है न। यों ही ऐरे-गैरे लोगों के सामने इतना खुल जाना···। वह उसकी गोद में सिर रख कर सान्त्वना ग्रहण करता तो! उसे अपना नहीं मानता न! हृदय में एक विरक्ति-सी जगी, वह इतनी मथ—रो रही है, सिर्फ़ उसके लिए न! दुनिया में इतने लड़के फ़ेल-पास होते रहते हैं, उसे किसी से क्या मतलब। गुसलखाने से बाहर आकर बरामदे में खड़े होकर उसने कपड़े सुखाये, बाल झाड़े और फिर वह बाहर ही पड़े तख्त पर बैठ कर कोई बंगला की पत्रिका देखने लगी, सुकेत उसके पास आकर बैठ गया, देखते ही मनीषी वहीं से बोली।

'छुटका मां, नाश्ता इधर ही ले आओ, यहीं बरामदे वाली टेबिल पर'

'हां ठीक है, इधर ही ठीक रहेगा। अचानक सुकेत ने पास आ कर कहा और फिर पीठ पर छितराये मनीषी के बालों के ढेर में से बालों के दो चार सिरों को अपनी उंगलियों में उलझाता हुआ बोला,

'मनि, तुम्हारे बाल कितने अच्छे हैं।'

'ऊंह!' मनीषी पत्रिका की कहानी पढ़ती रही।

'देखो न कितने कोमल, कितने लम्बे, इतना ढेर···।' तोलने के ढब से सुकेत ने पास सरक कर बालों को अपनी हथेलियों में भर लिया। मनीषी

कहानी में निमग्न रही, छुटका मां नाश्ता मेज़ पर रखती हुई बोली,

'बिटिया, आओ !'

'ओह ?' मनीषी का ध्यान बंटा। 'क्या कहते हो ! बड़े अच्छे हैं, ठीक है, छोड़ो !' और निरपेक्ष भाव से तख्त पर से हट कर मनीषी ने साड़ी का पल्लू पीठ पर फैला लिया, बालों का ढेर सुकेत की हथेलियों में से फिसल गया।

'आओ, नाश्ता कर लें।' मेज पर आते हुए उसने सुकेत को बुलाया।

'कौन-सी कहानी पढ़ी इस पत्रिका में से ?' सुकेत मेज पर आते हुए पत्रिका को अपने साथ उठाता लाया था।

'होगी कोई !'

'क्यों, इतनी जल्दी भूल गयीं ?'

'अरे मुझे तो पता ही नहीं चला, में क्या पढ़ रही थी। मैं तो इतनी देर से यों ही पन्ने पलट रही थी।'

'चलो ठीक है।' मनीषी ने सुकेत के चेहरे की तरफ़ देखा, नहीं-नहीं, उसे इतनी तटस्थता नहीं बरतनी चाहिए, आख़िर सुकेत का क़सूर ही क्या है ? उसने भरपूर मेहनत की, नतीजा तो उसके हाथ में नहीं था, पर अब यह निश्चिन्तता, एकदम सामान्य हो जाना—क्या शुचि की मां के कन्धे पर सिर रख कर रो लेने से ही मन का गुबार निकल गया ? शुचि की मां ही उनके लिए सब कुछ हो गई, और फिर न अपने दुःख का जिक्र न उस बारे में कुछ कहना सुनना, ऐसे ऋषि-औलिया बने फिर रहे हैं !

'लो दूध पिओ !' दूध गिलास में उंडेल कर उसने सुकेत को थमाया और 'लो, ये बिस्किट खाओ परसों लायी थी मैं।' कहते हुए मनीषी ने बिस्किटों की प्लेट सुकेत के सामने कर दी।

'स्वाद हैं !' सुकेत ने एक बिस्किट कुतरा।

'हुं !' वह मठरी का टुकड़ा तोड़कर कुटकुटा रही थी। हृदय में कुछ फिर कसका।

'मनि, मैं सोचता हूं आज कोई पिक्चर देखी जाये।'

'पिक्चर, क्यों ?'

'क्यों क्या होता है ? मन कर रहा है, और क्या ?'

'ठीक है, जाओ देख आओ ! थोड़ा मन और हो जायेगा।' अन्ति
वाक्य उसने कहा नहीं।

'तुम चलोगी ?'

'मैं, मैं क्यों, अपने दोस्तों के साथ चले जाओ।'

'मेरी दोस्त तो तुम ही हो !'

तभी न, वेचारे खुल ही नहीं रहे, खुल कर इन्सान अपने मन क
व्यथा, कुछ ऊंच-नीच, अच्छा-बुरा कह दे तो लगता है, उसने हमें अप
माना है। खुद वह इन्सान भी हल्का हो गया है, पर मनीषी ने इतना कु
सोचा भर, कहा कुछ नहीं। प्रगट में बोली,

'तुम्हारी दोस्त कैसे हुई मैं ?'

'दोस्त और क्या करता है, हां दोस्त तो इतना करता भी नहीं, कि
चौवीस घण्टे इतना ध्यान रखे, उसके लिए फल-मिठाई ब्रिटानिया औ
ग्लुकोज के विस्किट के डिव्वे ला कर रखे और···।' सुकेत प्लेट में से
विस्किट उठा कर उस पर वने हुए अक्षरों को पढ़ने लगा, 'और···।' अधूरा
वाक्य छोड़कर उसने कहा, 'हुई न मेरी दोस्त, मैं जा रहा हूं, दो टिकिट
बुक करवा लाऊंगा।'

'नहीं, मेरा मन नहीं है, मुझे नहीं जाना और फिर अस्पताल···।'

'ओफ़्फ़ो, हमेशा अस्पताल-अस्पताल की रट। खैर तुम्हें सूचना देने
के लिए मैं वता रहा हूं, कि आज आपकी नाइट ड्यूटी नहीं है, यों भी यह
आप का ऑफ़ दिन है, क्यों है, यह मुझे नहीं मालूम, वस इतना ही जानता
हूं मैं तो, सो आज कोई बहाना नहीं चलेगा।'

'देखो सुकेत, तुम फिर सिनेमा-इनेमा के चक्कर में पड़ रहे हो, तुम्हें
पहले यह सोचना चाहिए, कि तुम्हारा परिणाम ऐसा क्यों रहा ! क्यों तुम
···?' मनीषी इतनी देर से उस सम्वन्ध में कुछ भी कहने से स्वयं को रोक
रही थी, पर अव सुकेत ने इस प्रकार की वातें शुरू कीं, तो वलात् उसके
मुंह से निकल पड़ा।

'क्या मतलव, अव मैं वैठकर उस उल्टी-सीधी वात को सोचता रहूं,
जो हो गया सो हो गया। यह सव कुछ मेरे भाग्य को तो छीन कर नहीं ले
जायेगा !'

'पर आजकल की दुनिया में जानते हो, डिवीज़न की क्या क़ीमत होती है, पूरा कैरियर इसी पर निर्भर···।'

'हां, इसके बाद तो मुझे कहीं नौकरी नहीं मिलेगी, सड़क पर बैठकर मैं एलमोनियम का फूटा कटोरा लेकर बजाऊंगा और भीख मांगूंगा, यही न!'

'क्या हो गया है सुकेत तुम्हें! मेरा यह मतलब कहां था?'

'तुम्हारा मतलब यह नहीं था, तुम मुझे बद्दुआ कभी नहीं दे सकतीं, मैं जानता हूं, पर अब तुम मुझे इजाज़त दो, मैं ईवनिंग शो के टिकट ले आता हूं।'

'ले आना, जल्दी क्या है।' कुछ सोचकर उसने कहा। मेज़ पर रखी प्लेटों और दूसरे बर्तनों को उठा कर उसने एक तरफ़ कर दिया, फिर मेज़ से उठती हुई बोली,

'काली मां के मन्दिर में जाकर प्रसाद चढ़ा आते तो आज कम से कम यह अफ़सोस तो नहीं रहता कि बीमारी के दिनों में बोला हुआ प्रसाद नहीं चढ़ाया इसीलिए···।'

'मनि, तुम मुझे पागल कर दोगी। मुझे इतना दक़ियानूसी नहीं बनना एकदम पसन्द नहीं। इतना पढ़-लिख कर भी इस तरह के अन्धविश्वास, बेकार के संस्कार। तुमने प्रसाद बोला होगा, पर मैं हरगिज उधर नहीं जाऊंगा और तुम्हें भी नहीं जाने दूंगा, कहे देता हूं। वहां जो कृत्य मैंने देखे हैं, उनसे मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उस दिन एकान्त बनर्जी की मां और एकान्त मुझे ज़बरदस्ती ले गयीं थीं, वहां उसके कुछ देर पहले ही बलि दी गयी थी, ओफ़्फ़ो दो मासूम बकरी के बच्चे (मेमने) ऐन मन्दिर के सामने आंगन में एकदम जुड़े पड़े थे, सिरों को जैसे किसी दर्ज़ी ने कपड़े की तरह कैंची से कुतर दिया हो और यह सब धर्म के नाम पर, पवित्रता के नाम पर। कितनी ही स्त्रियों ने वहीं गाड़े हुए गंडासे से लगे हुए ताज़े खून से अपनी मांगें भरीं, खुद एकान्त बनर्जी की मां ने ज़मीन पर बहते हुए खून की बिन्दी माथे पर लगायी—मैंने तो कह दिया, 'क्या करती होआण्टी, किसी का सर्वनाश हो गया और आप उसी के खून से अपना मंगल करने जा रही हो!' 'न न न, किसी क़ीमत पर भी मैं तो वहां जाऊंगा नहीं। उस दिन तुम

छुटका मां को घुमाने की बात कह रही थीं; मैं छुटका मां को किसी दिन टैक्सी में बैठा कर सारा शहर घुमा लाऊंगा, बस !'

'ठीक कह रहे हैं भइया' हम तो ऐसी जगह नहीं जायेंगी !' वर्त्तनों को मेज़ से हटाने के लिए आयी छुटका मां इतनी देर से खड़ी सुकेत की बात ध्यान से सुन रही थी।

'तुम्हारे और तुम्हारे भइया के न जाने से क्या होगा, लोगों की तो श्रद्धा घटने से रही। वे परम्पराएं और कुरीतियां जैसा तुम कहते हो वे भी ज्यों की त्यों रहेंगी, मैं जानती हूं। अभी उस सबमें बहुत समय लगेगा।'

'सब ज्यों का त्यों रहे, न मिटे, हमें तो आत्मतोष रहेगा, कि हमने एक बात समझ ली और अब अपने तर्क के अनुसार काम कर रहे हैं।'

'ठीक है।' मनीषी निरुत्तर बैठी रही, सुकेत ने ही फिर आरम्भ किया,

'तो फिर आज का कार्यक्रम पक्का रहा !'

'कौन-सा ?'

'वही !' और इस बार सुकेत बिना कुछ आगे कहे उठ कर चला गया।

'चलो लड़के की इच्छा है यही सही, अच्छा है अपने मन को बिखरने नहीं दे रहा, किसी तरह इधर-उधर बहलाने की कोशिश कर रहा है। और कोई होता तो अभी तक न जाने क्या कर डालता। वह खुद उन दिनों प्रश्नपत्र के ज़रा सा बिगड़ जाने पर घर आकर घण्टों रोती थी, खाना-पीना सब छोड़ देती थी, मनीषी अपने कमरे में आकर बिस्तर पर लेट कर सोचने लगी, एक बार रिज़ल्ट खराब हो जाने पर तो उसने निश्चय कर लिया था, कि वह अब ज़िन्दगी भर नहीं हंसेगी। कितना निराशावादी दृष्टिकोण रहा है उसका, पर अब उसे क्या अधिकार है, कि निराशा और असफलताओं में भी हिम्मत बांधे हुए व्यक्ति की भर्त्सना कर करके ग्लानि और परिताप दिखा कर वह उसे वे बातें सोचने पर मजबूर कर दे, जिनसे वह बरबस अपने को मुक्त करने का प्रयत्न कर रहा है। और ठीक भी है, जब सब कुछ हो ही चुका है, तो पश्चात्ताप करने से लाभ भी क्या है। पर शुचि की मां के कन्धे पर सिर रख कर रोना···। अपनी गोद में सुकेत का सिर रख कर एक बार थपथपाने-सहलाने को उसका मन तड़प उठा। ऊंह

इतना साहसी कोई हो तो ! नहीं, उसे सुकेत को किसी तरह नीचा नहीं मानना, कुछ ऐसा नहीं कहना, जो उसे चुभे, कष्ट दे।

सुकेत टिकट लेकर लौटा तो दिन काफ़ी उलट चुका था। खाने के लिए भी देर हो गयी थी। रातभर की जगी और मानसिक तनाव में उलझी मनीषी कब सो गयी, उसे कुछ याद ही नहीं आ रहा था। अचानक आंख खुली तो हैरान रह गयी—सुकेत कहां है, अभी टिकट लेकर ही नहीं लौटा ? क्या फ़ायदा ऐसी पिक्चर देखने से, जिस टिकट पाने के लिए पूरा-पूरा दिन निकल जाये। उठकर उसने पलंग की चादर ठीक की, तकिया संभाल कर रखा, ऊपर ओढ़ी हुई चादर को तह करके एक तरफ़ लगा दिया, धुले हुए बाल अब तक सूख चुके थे, कंघी करने लगी, तो कमर पर झूलते बालों को हथेली में थामकर कंघी से सूंतते हुए सुकेत के शब्दों ने फिर ठकठकाया,

'कितने कोमल हैं, कितने लम्बे, ढेर सारे—।'

'ऊंह !' फिर अपना वही हुंकारा। कुछ नहीं याद करना उसे उस तरह का। बालों को चोटी के रूप में गूंथ कर उसने शीशे वाले कार्निस पर रखे फूल को यों ही बालों में खोंस लिया। यों ही उसे लगने लगा, वह अभी सिर्फ़ पन्द्रह बरस की है ठीक शादी की रात से पहले की उम्र। ऐसा उसके मन में क्यों आया ? सोचती, कमरे के दरवाजे को फेरती हुई वह बाहर निकल आयी, अपने कमरे के सामने के बरामदे और फिर घूमकर गयी गैलरी को। पार करके सुकेत का कमरा आता था, सुकेत के कमरे की खिड़की में से उससे झांककर देखा, सुकेत मूढ़े पर चुपचाप बैठा था, कोई किताब सामने खुली हुई और दृष्टि कहीं दूर शून्य में देखती हुई। तो क्या सचमुच सुकेत भी अपने सम्बन्ध में, अपने परिणाम के सम्बन्ध में इतनी गम्भीरता से सोच रहा है ? आखिर बुरा किसे नहीं लगता। मेहनत तो कम नहीं की, पर ये दोस्त-अहबाब इन्होंने ही—। वह खिड़की से हट गयी, कहीं सुकेत देख न ले। दूर हटकर अपने कमरे के पास से उसने पुकारा—

'सुकेत !'

'हां, अभी आया !' दूसरी ओर से स्वर दौड़कर आया और तब दूसरे

ही क्षण सुकेत उसके सामने था।

'तुम कब आये ? काफ़ी देर हो गई क्या ? मुझे क्यों नहीं जगाया ?'

'सोचा, तुम न जाने कब सोई होगी। बेकार की बातों पर न जाने कब तक दिमाग़ पचाया होगा।'

'जैसे तुम नहीं पचाते न !' वह कहना चाह रही थी, पर फिर रुक गयी, क्यों कहे वह, जो वह चाहती है, वह न जाने, बोली।

'सुकेत और कुछ नहीं है तुम्हारी मेहनत ठीक थी, तुम्हारी होशियारी-बुद्धि में मुझे कोई शक नहीं, बस ये तुम्हारे दोस्त ही तुम्हें ले डूबे।'

'प्लीज़, किसी को दोष मत दीजिए। मैं उस सबके बारे में अब एक बात भी नही सुनना चाहता।' सुकेत ने बड़ी गम्भीरता से कहा।

'ठीक है, सचमुच जिस बात पर अपना कोई वश नहीं है, उसे छोड़ ही देना चाहिए।' मनीषी ने स्वयं को संतुलित कर खाने की ओर ध्यान दिया। छुटका मां खाना बनाकर ढक कर न जाने कब, उसे सोती देखकर अपनी कोठरी में जाकर सो गई होगी।

सुकेत और वह चुपचाप टेबिल पर रखे खाने को परस कर खाने लगे। सुकेत बताता रहा, कितनी मुश्किल से टिकट मिले, फिर भी यह अच्छा है, कि 'चित्रा' के टिकट मिल गये हैं अभी नया हॉल बना है।'

'चलो ठीक है।' मनीषी ने सन्तोष व्यक्त किया, इतनी देर बाद उसने समझ लिया, कि उसे अब बीती हुई बात के बारे में कुछ नहीं कहना।

'मनि, तुम्हें बंगला बोलनी कैसे आयी ? मां की तरह न ?' सुकेत ने एक नया प्रकरण शुरू किया।

'मां की तरह, सुपर्णादी तो बहुत अच्छी बंगला बोल लेती थीं, मुझे तो इतनी अच्छी आती भी नहीं। बस बाहर यों ही काम चला लेती हूं, सब हंसते हैं। सुपर्णादी बता रही थीं, डॉक्टर साहब ने कलकत्ता आने पर ही उनका यह दूसरा नाम रखा था।'

'अपना क्यों नहीं बदला ?'

'पगले, उनको तो बाहर काम करना था, उनके सब सर्टिफ़िकेटों वगैरा में रामचरण द्विवेदी ही लिखा होगा, वह कैसे बदला जा सकता था।

'ओह !' सुकेत ने फुल्के के बाद चावल खाने शुरू किये। मनीषी की
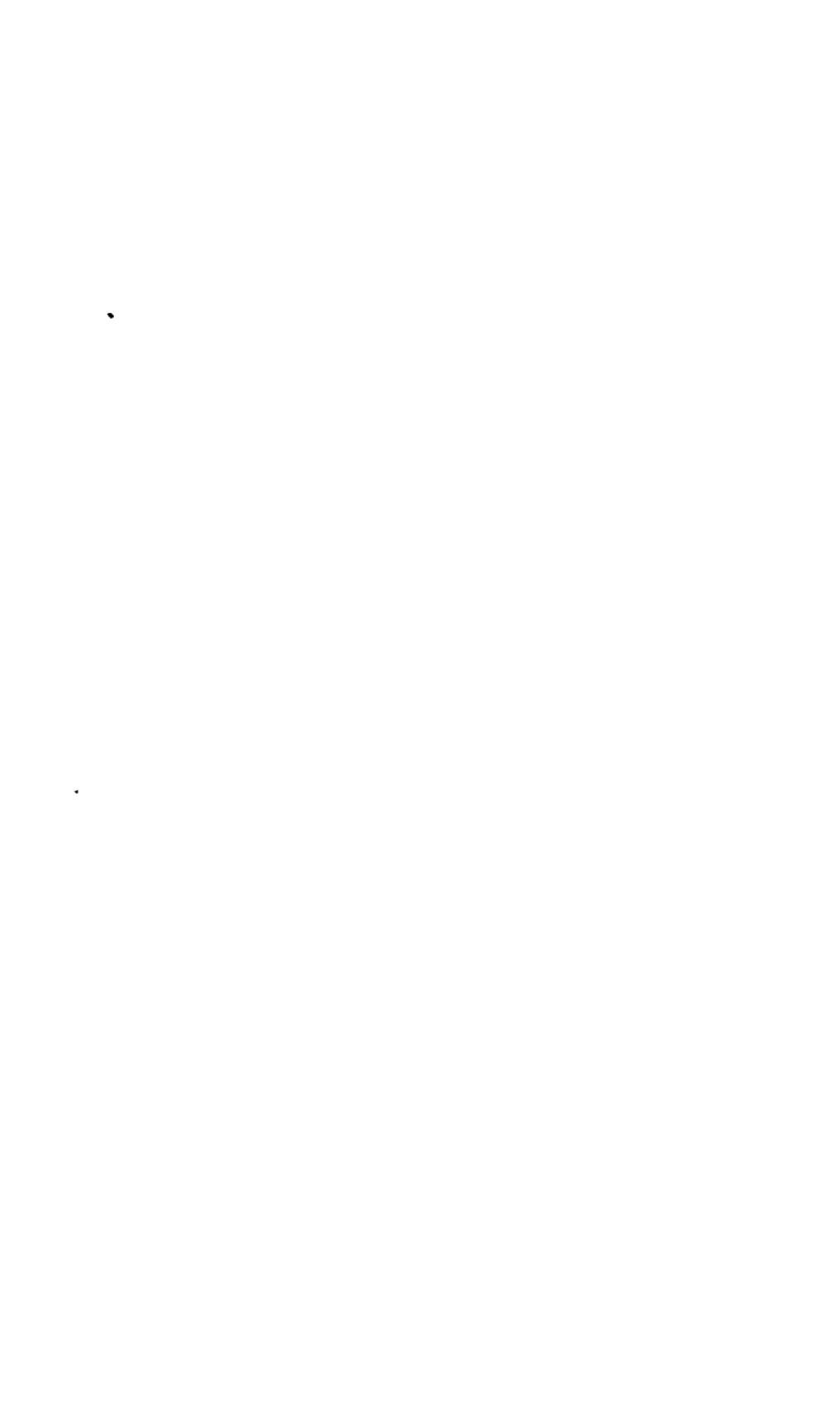
आखिर वही उस सम्बन्ध में उतना कुछ क्यों सोच रही है ? अगर मध्यान्तर में सुकेत की शक्ल न देखती तो शायद वह फिर अपने में खोई रहती। अब तो लग रहा है, सुकेत की असफलता के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है। ऊंह्-ऊं ! सिर झटकार कर उसने खुद भी भुलाना चाहा, सुकेत को अगर मालूम हो, कि मनि तो बिल्कुल कुछ नहीं देख रही है, बेकार की खुराफ़ातों में पच रही है, तो वह उसे कितना डांटेगा। अब एक नन्ही बच्ची की तरह उसने अपने को अनुशासित किया और चुपचाप तस्वीर देखने लगी।

बड़ा बाज़ार, हरिसन रोड, बैंबोर्न रोड, डलहौजी स्क्वायर, पार्क स्ट्रीट, बालीगंज···न जाने कहां-कहां से घुमाता हुआ टैक्सी ड्राइवर उन्हें घर ले आया। इतने सारे स्थान मध्य में आये, पर रास्ता कुछ पता ही न चला। कितनी-कितनी जगह ट्रैफिक की अधिकता के कारण गाड़ी को रुक-रुक कर चलना पड़ा, पर दोनों गाड़ी में जैसे जमे से बैठे रहे, जैसे दोनों ही बेहद निदासे हो रहे हों, नींद और थकान कुछ कहने-सुनने का जैसे मन ही न हो—एक अस्वाभाविक स्थिति को दोनों झेलते रहे।

टैक्सी से उतर कर गेट खोल कर कोठी के भीतर पहुंच कर ही मनीषी ने अभिभावकत्व फिर संभाला, पूछा, 'खाओगे कुछ ?'

'नहीं, कुछ नहीं, उस वक्त भूख-सी लग रही थी, अब इच्छा नहीं है तुम खा लो !' गले में बंधी टाई की नॉट खोलते हुए सुकेत ने कहा।

'मैं !!' उसे लगा सुकेत यह क्या कह रहा है ? आज तक क्या कभी उसने सुकेत को खिलाये बिना खाया है ? पर वह उस सम्बन्ध में बोली कुछ नहीं, सिर्फ़ इतना ही कहकर कि मुझे तो पहले ही भूख नहीं थी। वह रसोई की तरफ़ जाकर छुटका को मना करने चली गयी। सुकेत को मनाकर खिलाने और खुद खाने का आज उसका भी मन नहीं था।

कमरे में आकर कपड़े बदल कर कुछ देर वह बिस्तर पर बैठी यों ही कुछ पत्रिकाएं पलटती रही, फ़ेमिना में एक कहानी अच्छी दिखी तो पूरी पढ़ गयी। पत्रिका बन्द करके मेज पर रखी, तो उसे लगा कि खिड़की के

धीरे-धीरे पलंग से उतर कर फ़र्श पर रेंगने लगी थी।

सवेरे आंख देर से खुली, नींद न जाने कब आयी थी। झपट कर उठी, तैयार होकर नाश्ते के लिए सुकेत को पुकारती हुई उसके कमरे में पहुंची, तो देखा सुकेत अपने कमरे में नहीं था। मेज़ पर उल्टी-सीधी किताबें बिखरी पड़ी थीं—यों ही संभालने लगी तो किसी किताब में से एक छोटी-सी डायरी निकल कर ज़मीन पर गिर पड़ी, पृष्ठ उलट-पलटकर पढ़ने लगी, ताज़ी तारीख़ के नीचे लिखा था :

'दुःख, लज्जा और ग्लानि को छिपाने के लिये दिन भर दौड़ता रहा। अच्छा हुआ मनि को कुछ पता न चला।'

'सच!!' डायरी हाथ से छूट गयी, वह भी तो न जाने कितना कुछ भुलाने के लिए गयी रात तक कुछ और ही धुनती रही। इतना कुछ धुनने-बिनने के बाद भी व्यक्ति क्या कुछ भूल पाता है? सिनेमा हॉल में सुकेत ने अपना हाथ उसके हाथ पर रख दिया था, क्या सचसुच वह कोई सहारा ढूंढ़ रहा था—पा लेने का, कहीं पर टिक जाने का? शुचि की मां के कन्धे पर सिर रखकर वह रोया था—सुवह की तीखी स्मृति धीरे-धीरे गलने लगी।

जो कुछ कल की तिथि में घटित हुआ उसकी स्मृति को वह संजोकर नहीं रखना चाहती, याद करते ही कुछ तीखा ठण्डा-सा चुभने लगता है। जो दिन इतना कटु-कठोर होता है, वह भी गुज़र ही जाता है। चलो गुज़र गया और अच्छी तरह गुज़र गया। उसके अस्पताल जाने का समय पास खिंचता आ रहा था और सुकेत अभी नहीं आया था। दैनिक चर्या से निवृत्त होते हुए तैयार होते समय वह बराबर सुकेत के बारे में सोच रही थी—सुबह-सुबह ही कहां चला गया? जाना था तो कम से कम कह कर तो जाता, मैं नहीं उठी थी तो छुटका मां तो जग रही थी···। खिड़की में खड़ी बालों को संवार रही थी, तो सामने से सुकेत आता दिखाई दिया, साथ में एक

दूसरा लड़का था।

'मनि माशी, संजय आया है, मेरा दोस्त!' उसने पास आ
बताया।

'संजय। ठीक है, बिठाओ।' मनीषी जैसे कुछ याद करने का प्रय
करने लगी। सुकेत के लिए अब तक आतुर-कलपती-बबलती मनीषी इस
अधिक कुछ भी नहीं कह सकी। सुकेत को शायद आश्चर्य हुआ हो,
मनि ने उसके इतने सवेरे चले जाने और उसके मित्र के नाश्ते इत्यादि
सम्बन्ध में कुछ नहीं पूछा, पर अपने इस आश्चर्य को उसने व्यक्त न
किया, वह संजय को लेकर अपने कमरे में चला गया और कैरम बोर्ड वि
कर खेलने लगा।

कैरमबोर्ड पर ठकठक करते स्ट्राइकर्स की आवाज़ मनीषी अपने कम
में सुनती रही। कमरा साफ़ करती, कपड़ों को समेटती-बटोरती और अस
ताल के लिये तैयार होते हुए उसके कानों में शब्द कंकड़ की तरह बज
रहे। कुछ देर बाद वह बाहर निकली, सुकेत के कमरे के सामने क्षणभर र
कर अपने जाने की सूचना देती हुई वह गेट से बाहर निकल गयी। बस स्ट
तक पहुंचते हुए उसके कदम कई बार पीछे लौटने के लिए मुड़ने को हु
पर वह बलात् उन्हें घसीटे चली गयी : इन्हीं हालतों से इस पहले इम्तह
का परिणाम खराब हुआ है और अब फिर वही हरकतें! सिर्फ डायरी
लिख भर लेने से क्या होता है। ग़लती हर इन्सान से होती है, काम का म
चाहा फल पाना भी अपने हाथ में नहीं होता, माना; पर कम से कम अप
तरफ़ से उद्यम तो करना ही चाहिए। सुबह से उठ कर दोस्तों के यहां च
जाना और फिर साथ-साथ बांधकर ले आना—अब इतनी सोशल आ
नहीं चलेगी। अगर कुछ पाना है तो अपने को बांधना पड़ेगा। अब क
समझाये यह सब कुछ, कि किसी बड़ी उपलब्धि को प्राप्त करने के लि
खुद को तासना पड़ता है। अभी तक दोस्त-अहबाबों को मैं भी अच्छी तर
खिलाती-पिलाती रही, पर अब सुकेत को ठीक रास्ते पर लाने के लिए मु
भी अपने को कसना पड़ेगा। जो कुछ खायें खा लें, छुटका मां है तो घर पर
मैं नहीं खाकर आयी, न सही, ऐसे हाल में कुछ खाना-पीना अच्छा भी
नहीं लगता। घर से अस्पताल तक आते-आते मनीषी ने यान्त्रिक ढंग से

धीरे-धीरे पलंग से उतर कर फ़र्श पर रेंगने लगी थी।

सवेरे आंख देर से खुली, नींद न जाने कब आयी थी। झपट कर उठी, तैयार होकर नाश्ते के लिए सुकेत को पुकारती हुई उसके कमरे में पहुंची, तो देखा सुकेत अपने कमरे में नहीं था। मेज़ पर उल्टी-सीधी किताबें बिखरी पड़ी थीं—यों ही संभालने लगी तो किसी किताब में से एक छोटी-सी डायरी निकल कर ज़मीन पर गिर पड़ी, पृष्ठ उलट-पलटकर पढ़ने लगी, ताज़ी तारीख के नीचे लिखा था :

'दुःख, लज्जा और ग्लानि को छिपाने के लिये दिन भर दौड़ता रहा। अच्छा हुआ मनि को कुछ पता न चला।'

'सच !!' डायरी हाथ से छूट गयी, वह भी तो न जाने कितना कुछ भुलाने के लिए गयी रात तक कुछ और ही धुनती रही। इतना कुछ धुनने-बिनने के बाद भी व्यक्ति क्या कुछ भूल पाता है ? सिनेमा हॉल में सुकेत ने अपना हाथ उसके हाथ पर रख दिया था, क्या सचमुच वह कोई सहारा ढूंढ़ रहा था—पा लेने का, कहीं पर टिक जाने का ? शुचि की मां के कन्धे पर सिर रखकर वह रोया था—सुबह की तीखी स्मृति धीरे-धीरे गलने लगी।

जो कुछ कल की तिथि में घटित हुआ उसकी स्मृति को वह संजोकर नहीं रखना चाहती, याद करते ही कुछ तीखा ठण्डा-सा चुभने लगता है। जो दिन इतना कटु-कठोर होता है, वह भी गुज़र ही जाता है। चलो गुज़र गया और अच्छी तरह गुज़र गया। उसके अस्पताल जाने का समय पास खिंचता आ रहा था और सुकेत अभी नहीं आया था। दैनिक चर्या से निवृत्त होते हुए तैयार होते समय वह बराबर सुकेत के बारे में सोच रही थी—सुबह-सुबह ही कहां चला गया ? जाना था तो कम से कम कह कर तो जाता, मैं नहीं उठी थी तो छुटका मां तो जग रही थी···। खिड़की में खड़ी बालों को संवार रही थी, तो सामने से सुकेत आता दिखाई दिया, साथ में एक

जाने कितना कुछ सोच डाला—गेट में घुसते ही डॉक्टर शुभा दत्ता ने पकड़ लिया।

सुकेत पास हुआ है, तुमने मिठाई भी नहीं खिलायी। हम सब आज मिठाई ज़रूर खायेंगी। कल तुम न जाने कब निकल गयीं।' दोनों बातें करते हुए भीतर चली आयीं। डॉ० कुलकर्णी, डॉ० माण्डेकर, डॉ० चित्रा भट्टाचार्य सब देखते ही कीकीं :

'रोशगुल्ले दास की दुकान के ही रोशगुल्ले खायेंगे हम और कहीं की चीज नहीं चलेगी, समझ लो!'

'आप सब मिठाई मांग रही हैं तो मैं खिला दूंगी, पर आखिर मिठाई किस बात की; सुकेत का तो परिणाम कोई इतना अच्छा है ही नहीं।'

'ओह, आप क्या आशा करती थीं आखिर। लड़का बीमारी से उठकर किसी तरह इम्तहान दे आया और पास भी हो गया, क्या इतना काफ़ी नहीं है? मिठाई नहीं खिलाना चाहती हो तो न सही!'

'ओह, नहीं नहीं, मिठाई तो मैं खिलाऊंगी ही। मनीषी ने पर्स में से निकाल कर दस-दस के दो नोट चपरासी को पकड़ाये और फिर अपने कामों में जुट गयी : सच वह कितनी क्रूर हो गई है, मानवता उसमें क्या नाम मात्र को नहीं बची है? क्या उसने क्षण भर के लिए भी सोचा, कि जिस स्थिति में सुकेत ने इम्तहान दिया, वह स्थिति और वह काम मामूली नहीं था। उसके साथ सहानुभूति रखने के बदले वह उससे रूठकर चली आयी। क्या कहता होगा सुकेत, कि माशी कैसी है, उससे एक बात भी नहीं की। उसका दोस्त भी न जाने क्या सोच रहा होगा। खैर, वह समझ लेगा, कि मैं उस समय जल्दी में थी। ज़रूर सुकेत ने उसे मेरी विवशता समझा दी होगी, सुकेत कब चाहता है कि उसके दोस्तों के सामने उसकी मनि की बेइज़्ज़ती हो। पर सुकेत खुद अपने मन में क्या कह रहा होगा?

दुपहर को घर लौटने लगी तो साथिनों ने कुछ रसगुल्ले थमा दिये, 'सुकेत को भी खिलाना, उसने कहां खाये होंगे।'

'सचमुच नहीं खाये, पर मैं और भी तो मंगा सकती हूं।' मनीषी ने समझाने की कोशिश की, पर रसगुल्ले उसे लाने ही पड़े। दिनभर की दौड़-धूप और अस्पताल के हल्के-भारी माहौल ने सवेरे की उस कुढ़न-छिदन को

भुला दिया, पर गेट खोलते ही सुकेत के कमरे में दूसरा सिर संजय का दिखा तो वह फिर उद्वेलित हो उठी।

'महाशय इस समय तक बैठे हैं, आखिर क्यों ? मैं इतने समय में इतनी दूर हो आयी, पचासियों मरीज़ों को देख-भाल कर लौट आयी और इन दोनों को दीन-दुनिया की सुध ही नहीं है। नहीं, ऐसे नहीं चलेगा—उसका हृदय फिर खौलने लगा। सुपर्णा दी के सामने छोटा था, इतने दोस्त उस समय नहीं आते थे और फिर इम्तहान में हमेशा अच्छा करता था, तो किसी को कुछ कहने-सुनने की ज़रूरत ही क्या थी।

हाथ में थमे रसगुल्लों का छोटा-सा डिब्बा वह अपने कमरे में ही ले आयी। उसको देखते ही सुकेत कमरे में आया।

'तुम कुछ लायी हो ?'

'नहीं।'

'तुम सवेरे खाकर गयी थीं ?'

'नहीं।'

'अब कुछ खाओगी ?'

'नहीं।' सुकेत ने कुछ और नहीं पूछा, चुपचाप ज्यों का त्यों वापिस लौट गया। मनीषी के मन में कुछ दुखा, पर उसने अपने को संयमित कर लिया। कपड़े बदल कर वह पलंग पर लेट गयी, गेट पर कुछ आहट-सी हुई तो सिर उठाकर देखा, सुकेत संजय को विदा दे रहा था। उसका मन किया, वह उठे, दौड़कर पूछे, 'संजय ने कुछ खाया ?' पर वह प्रयत्नपूर्वक अपने को रोके रही। संजय चला गया और सुकेत अपने कमरे में लौटकर आ गया, शायद कुछ पढ़ने लगा होगा—मनि के कमरे में वह नहीं आया।

सुकेत ने उस दिन मनीषी से कुछ नहीं कहा था, मनीषी ने ही खुद छुटका से पता किया था, कि सवेरे उसके चले जाने के बाद सुकेत ने क्या खाया-पिया तो मालूम हुआ कि दोनों मित्र उसी तरह कैरम खेलते रहे थे। छुटका मां पूछने गयी तो सिर्फ़ दो कप चाय मंगाकर पी ली और फिर वही खेल। पूरे दो बजे संजय सुकेत के पास से गया था, पर बिना खाये-पिये,

सुकेत की मनि माशी से बिना कुछ कहे-सुने। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। आज संजय क्या सोचता होगा, पर संजय से अधिक चिन्ता उसे सुकेत की थी, जो मित्र के जाने के बाद से ही गुमसुम हो गया था। कितनी कठोर बन गयी थी वह स्वयं, कि उसके आकर पूछने पर भी, कि क्या वह उसके लिये कुछ लायी? उसने साफ़ इन्कार कर दिया, चारों रसगुल्ले ज्यों के त्यों फ्रिज में रखे रहे। इसी तरह वह सुकेत को ठीक ढर्रे पर लाना चाहती है? न कुछ कहना न सुनना, मुंह फुला कर बैठ जाना। नहीं-नहीं, वह सुकेत से इतना कटकर नहीं रह सकती। वह उठकर सुकेत के पास गयी, वह मेज़ पर झुका पढ़ रहा था, मनि पहुंची तो बोला:

'तुम्हारे सिर में दर्द है?'

'तुम्हें इस सबसे क्या मतलब?'

'क्यों, मुझे कोई मतलब नहीं है, क्यों?'

'तुमने अपना रवैया ज़रा भी बदला? आज सुबह उठकर ही तुम ग़ायब हो लिये और फिर आये तो एक झुनझुना लटकाकर। मैं तुमसे आज यह आखिरी बार कह रही हूं, मुझे तुम्हारे ये दोस्त अब फूटी आंखों नहीं सुहाते। इन्होंने ही तुम्हारा कैरियर ख़राब किया है और अब फिर यही···।' मनीषी का स्वर रोने-रोने को हो आया।

'देखो मनि, मैंने तुमसे पहले भी कहा है, अपने काम और भाग्य का जिम्मेदार मैं हूं, मुझे अपनी खुद चिन्ता है, तुम्हें उस बारे में कुछ भी सोचने की ज़रूरत नहीं है।'

'मैं तुम्हारी कोई नहीं हूं, मुझे तुम्हारा भला-बुरा सोचने का कोई हक नहीं है?' मनीषी का स्वर रुआंसा हो उठा।

'खूब है, खूब सोचो, पर इसका मतलब यह तो नहीं है, कि तुम खाना-पीना छोड़ दो, यों ही भागी-भागी फिरती रहो।'

'और तुमने जो सवेरे से कुछ नहीं खाया-पिया? अपने दोस्त को कुछ खिलाया-पिलाया?

'उसकी चिन्ता भी तुम मत करो।' सुकेत ने अपनी नज़र किताब पर फिर झुका ली।

'सुकेत!' कमरे से निकलते हुए मनीषी एक बार दहलीज़ पर रुकी,

चौखट पर बांह टेकती हुई बोली :

'सुकेत, तुम अपनी मनि को अपने दोस्तों के सामने नीचा दिखाना चाहते हो ?'

'क्यों, नहीं तो !' सुकेत ने सिर नहीं उठाया, सरल स्वर में छोटे-छोटे तीन शब्द कहकर ही वह चुप हो गया। उसके आगे कुछ कहने की गुंजाइश ही नहीं थी। मनीषी लौट आयी, उसे लगा अपने कमरे में पहुंच कर फूट-फूट कर रोये, पर रुलाई को रोके हुए वह चुपचाप फिर रसोई में चली गयी, मेज़ पर खाना लगाकर उसने सुकेत को पुकारा।

'सुकेत, खाना तैयार है ?'

'आया !' सुकेत का वही सहज स्वाभाविक स्वर।

हृदय पर किसी ने पत्थर सा दे मारा। अगर सुकेत भी उसकी तरह खुलकर उससे चार-छह ऊंची-नीची बातें कह लेता, मित्र को न खिलाने पर अधिकार से लड़-झगड़ लेता, तो उसे शान्ति मिल जाती, पर वह भी खुलकर सब कुछ कहां कह सकी है, सुकेत उसे कुछ कहने का मौका ही नहीं देता। क्या कहता होगा उसका मित्र, कि सुकेत के घर से वह दो बजे लौट कर जाता है और बिना खाये-पिये। आखिर उसे भी क्या भूत सवार हुआ है, अभी कौन-सी पढ़ाई शुरू हो गई है, जो अभी से कांटों की इतनी भयंकर बाढ़ लगाने की ज़रूरत है, उसे तो उल्टे सुकेत और उसके दोस्त को खूब खिलाना-पिलाना चाहिए था। जो कुछ नियति से मिला, वह तो अपने वश में नहीं, पर जो कुछ खुद दिया-लिया जा सकता है, वह स्वयं को उस से भी खींचे लिये ले रही है, आखिर क्यों ? उसे क्या हक है, कि वह सुकेत पर अपना इतना बड़ा अंकुश-अनुशासन लादे ? हर व्यक्ति अपने-अपने ढंग से काम करने के लिए स्वतन्त्र है, उस पर बन्धन क्यों बना जाये। ऊंह, यही उसकी बुद्धि में धसा है, कि अब सुकेत उसी के चलाये चलेगा, सुकेत क्या बच्चा है ? नासमझ है ? वह सच कहता है, अपना भला-बुरा वह खुद सोच-समझ सकता है। खाना खाते हुए आज पूरे समय वह कोई पत्रिका देखती रही और सुकेत अखबार। सुकेत को उसने फुलका-चावल कुछ भी लेने के लिए कहा तो उसने ले लिया, कोई आपत्ति, कोई शिकायत नहीं।

नौ

यह स्थिति तो और भी मरण-तुल्य है। शाम की ड्यूटी के लिए घर से लौट कर अस्पताल आ जाने पर भी वह बराबर सोचती रही : सुकेत चाहे कुछ न कहे, पर उसके मन में खुद ही संजय के प्रति किया गया अपना शुष्क व्यवहार इतना साल रहा है—उसका वह क्या करे ? कैसे वह उसे दुबारा बुला ले, उसे खब मनचाहा खिला दे और अपने मन के शीशे में वह चटकी हुई रेख मिटा दे, कैसे ? वह सुकेत से उसे बुलाने के लिए नहीं कह सकती, सुकेत जानता है कि उसे उसके दोस्तों का समय खराब करने आना अच्छा नहीं लगता। पर ऐसा भी क्या, कि कोई कभी उसके घर में नहीं आये। आखिर हर आदमी चाहता है, उसके घर में कभी न कभी उसके मित्र-परिचित आयें, हंसें-बोलें, खायें-पियें। क्या वे दिन अब कभी नहीं आयेंगे ? उसको कभी मौका नहीं मिलेगा कि वह···? मस्तिष्क धुनता रहा और हृदय चाक होता रहा। किसी के कुछ न कहने-सुनने पर भी कभी-कभी व्यक्ति अपनी कुचली हुई प्रतिष्ठा के प्रति कितना चिन्तातुर हो उठता है—आत्मतोष के मूल्य को मनीषी ने आज पहचाना। हमेशा जब कभी भी जो कुछ भी मन में धधका, वह उसे सुकेत के सामने उंडेलकर हल्की हो जाया करती थी, आज उस सबमें उसे अकेले जलना पड़ रहा है। क्या सचमुच संजय अब कभी नहीं आयेगा ?

सुकेत के साथ इस प्रकार की दैनिक चर्या को उसने इससे पहले कभी नहीं भुगता था। सुकेत उसका ध्यान रखता है, पर कहता कुछ नहीं। वह बहुत कुछ कहना चाहती है, पर साहस नहीं होता। यों वह सुकेत से जो कुछ कहती है, उसे वह सहर्ष मान लेता है, पर खुलकर वह कुछ भी नहीं कह सकती—अपनी व्यथा, कष्ट, वचन। उसे लगता है, उसके स्थान पर सुकेत ने अब उसका अभिभावकत्व संभाल लिया है। उसके अस्पताल से लौटने पर वह प्रायः उसके वहां खाने-पीने, काम-काज के बारे में पूछ लेता है। सुकेत स्वाभाविक-सहज है, पर उसके मन में खुद न जाने कैसी एक अपराध-

घनिष्ठ मित्र, पर उसके दूसरे मित्र अजय की तरह न वह बकवासी है न उतना सहज, तुरन्त संकोच से ऊपर उठ जाने वाला। इतना कुछ न भी होता, पर सुकेत के मित्र उसके मित्र हैं और उनमें से किसी की भी अव-हेलना करने लगना उसका अधिकार नहीं है।

खिलाने-पिलाने के सम्बन्ध कोई पूर्व-सूचना देकर वह उस चीज़ को किसी प्रकार का अनावश्यक महत्त्व नहीं देना चाहती थी, सब कुछ जल्दी-जल्दी तैयार कर लेने के बाद ही उसने सुकेत को पुकारा, 'सुकेत, चाय पी लो, संजय को बुलाओ!'

सुकेत मनि की सहज मधुर आवाज़ सुनकर चौंका होगा। उसने चाहे आवाज़ को कितना भी साधारण बनाने का प्रयत्न किया, पर उसकी आवाज़ में ध्वनित आह्लाद उसके मन में जाकर जरूर खुबा होगा। सुकेत उठ कर चला आया, पास आकर उसने कहा, 'चाय तैयार हो गई?'

'हां, उधर ही ले जाओगे, या टेबिल पर लगा दूं?' अत्यन्त साधा-रण ढंग से मनीषी ने पूछा।

'टेबिल पर लगा दो!' कह कर सुकेत जैसे किसी बड़ी जल्दी में हो, वापिस चला गया। सुकेत के जाने के बाद मनीषी का हृदय सुकेत के प्रति एक विचित्र कृतज्ञता से भर गया: सुकेत सचमुच कितना महान है, एक बार भी तो उसने नहीं कहा, कि इतना सब करने की क्या जरूरत है? जब उस दिन पानी को भी नहीं पूछा, तो आज इतने तूफ़ान-तूमार का मतलब! जैसे वह मनि की व्यथा को जानता हो, उसकी विवशता को भी और जानबूझ कर उस कोमल स्थल पर हाथ रखने से अपने को बचा रहा हो। जैसे उसने उसकी मानव-सुलभ कमज़ोरी के लिए इसे क्षमा कर दिया हो। आज तक भी तो वह उस सबके सम्बन्ध में खामोश ही रहता चला आया था, अपने जिस कर्त्तव्य को पूरा करने में एक दिन उसने इतनी बड़ी गफ़लत कर दी थी, उस सबको जैसे वह बिल्कुल ही भूल गया हो, जैसे कभी कुछ घटित ही न हुआ हो, कुछ भी—और दोनों मित्र चाय की टेबिल लग जाने पर देर तक खाते-पीते रहे—दो-एक बार जाकर उसने कुछ चीजें दीं, दो-एक बार सुकेत ने खुद उसे पुकारा, कभी चाय लाने के

लिये, कभी गर्म पकौड़ों के लिये। और सुकेत की हर आवाज़ पर उसे लगा, वह कितना बड़ा है, कितना महान्! संजय ने भी उसे पुकारा :

'मनि माशी, वैसे तो आप हमेशा ही सब कुछ अच्छा बनाती हैं, पर आज तो आपने इतने गजब के पकौड़े बनाये हैं, कि कुछ पूछो मत!' उसे लगा कि कहीं संजय समझ तो नहीं रहा, कि आज उसकी किसी प्रकार से खास मेहमानदारी की जा रही है—उसने संजय को आंख गड़ा कर देखा, वह एकदम सरल था। सुकेत की तरह हंसता-खिलखिलाता, एक सहज सामान्य तरुण—वह उसके प्रति उस दिन क्यों इतनी क्रूर हो उठी थी? एक तनिक-सी घटना घटित होने पर उस पर इतनी बड़ी प्रतिक्रिया प्रगट कर सम्पूर्ण स्थिति को अपनी इच्छानुसार मोड़ लेने का प्रयत्न वह क्यों करती रही है? सुकेत उससे कहीं अधिक समझदार है, जो सब कुछ सामान्य ढंग से लेता चल रहा है—अच्छा बुरा सब कुछ।

सब कुछ समाप्त हो जाये, मिट जाये, कुछ भी अच्छा मनोनुकूल घटित न हो न सही, अन्तर में ग्रथित स्नेहसूत्र आपस में मनुष्य मात्र को जोड़े रहे—जलन-कुढ़न, ईर्ष्या-द्वेष, मनोमालिन्य से परे स्नेह का जो एक रहस्यमय लोक है, उस तक पहुंच जाने के बाद सब कुछ कितना छोटा हो जाता है, कितना तुच्छ और हेय! उसकी आंखें भर आयीं, सुकेत और संजय में आज मनीषी को कोई भी तो अन्तर नहीं दिखाई दे रहा था। सब कुछ आज कितना नया था, कितना हर्ष-पुलक से आपूरित और कितना आह्लादक-वात्सल्य-भावना में आकण्ठ निमग्न।

वह कितनी देर तक अपने में ही खोयी रही। संजय ने कहा, 'माशी, आप इतनी देर से हमें खिला-पिला रही हैं, अब आप भी तो कुछ लें। आज क्या आप हमें बिल्कुल मौका नहीं देंगी? लीजिए, एक कप चाय मेरे हाथ से लें न!' और संजय उसके लिये चाय तैयार करने लगा। केतली में से चाय का पानी ढाल कर उसने चीनी मिलाने का यत्न किया तो सुकेत हंसकर बोला, 'पहले चीनी फिर चाय का पानी और फिर दूध—यह क्रम है, कुछ सीखो चौधरी!' और इस बार कप में दूध डाल कर

सुकेत खुद चम्मच से हिलाने लगा।

'इतना काम तो मैं भी कर सकती हूं।' मनीषी ने चाय का प्याला सुकेत के हाथ से ले लिया। अब वह सामने तिपाई पर बैठ कर चाय सिप करती हुई अजय के बारे में पूछने लगी—सुकेत का बहुत दिनों पहले का एक मित्र, जिसे उस दिन उसने बहुत लाड़-प्यार से खिलाया था।

'कहां है वह ?'

'वह भी आ जायेगा किसी दिन, वह मसूरी चला गया है।' सुकेत ने बताया।

'इतनी दूर, मसूरी ! !'

'जाने वालों के लिये कुछ दूर नहीं होता। यह बात तुम नहीं समझ सकती हो, जिसे रात-दिन अस्पताल की ही माला जपनी रहती है।'

सब खिलखिला कर हंस पड़े। मनीषी को आज कोई व्यंग्य किसी प्रकार की फबती—किसी से भी कोई आपत्ति नहीं थी।

आज इतने दिन बाद सुकेत ने उसे बताया, कि संजय परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हुआ था, वह हीनभावना से पीड़ित है और वह मित्र को हीनभावना से मुक्त करने के परीक्षण में लगा हुआ है। सुनकर मनीषी ने आज किसी प्रकार की फबती नहीं कसी, न आलोचना की, न उसे रोकने-टोकने जैसी ही कोई अन्य बात की—सुकेत की समझदारी पर आज वह हैरान और मुग्ध थी। हृदय में धीरे से कुछ और सालने लगा था; एक दिन अपनी ओर से संजय के प्रति किया गया उपेक्षा का परिताप इस क्षण फिर घनीभूत हो उठा।

दस

किसी के रहने या चले जाने से कोई बड़ा अन्तर नहीं पड़ता। एक कंकड़ी के उत्क्षेपण से शान्त जल में जैसा क्षीण-सा उद्वेलन होता है, प्रस्तुत दृश्य-व्यापारों में से किसी एक के हट जाने से बस उतना-सा ही झटका तो लगता है—उस दिन मनीषी ने यही तो सोचा था, पर आज जब सुकेत स्वयं उसके पास से चला गया है, तो उसने अनुभव किया है, कि वह झटका कितना-सा होता है।

बाल धोकर आंगन में बंधी अरगनी पर कपड़े सुखा रही है, धूप ने दरवाज़े की दहलीज़ से झांकना शुरू किया है और बीते हुए दिनों के बहुत से क्षण उसके हृदय में सुबह की गौरैयों की तरह ठुमकने लगे हैं—

—काफ़ी समझदार हो गया है अब सुकेत, अपना भला-बुरा समझने लगा है। छुटका मां पास है ही, चौबीसों घण्टे सुकेत को घेरे रहने से अब क्या लाभ! पर घेरे तो अब उसे सुकेत रहता है, वही उसके ऊपर तरह-तरह का दावा-धक्का दिखाकर अंकुशित किये रहता है। नहीं-नहीं, इस तरह का घेरा उसे भी पसन्द नहीं है। उसे भय लगता है···। चार-छह दिन में आकर कभी-कभी देख जाया करेगी, फिर सुकेत को जब ज़रूरत हो तो वह भी तो उसके पास पहुंच सकता है। अस्पताल के क्वार्टर में किसी के आने-जाने पर बन्दिश थोड़ी है। मनीषी आज की तरह उस दिन भी कपड़े सुखाने के बाद अपने कमरे में खिड़की के सामने खड़ी गीले बालों में कंघा फेरती हुई यही सब कुछ सोच बैठी थी—पीठ पर झूलते बालों से झरती बूंदों ने उसकी कमर और पीठ को भिगो दिया था। हाथ में बालों की लट को थामे वह विचारमग्न किंकर्तव्यविमूढ़ बनी खड़ी थी, तभी सुकेत ने पुकारा था···

'मनि, नाश्ता तैयार है?'

'अरे मुझे याद ही नहीं रहा।' स्कूली बच्ची की तरह आश्चर्य बिखरा फिर गृहिणी की तत्परता से उस आश्चर्यान्वित अलबेले स्वर को ढांपती कंघा कार्निस पर रख साड़ी को व्यवस्थित करती हुई वह चाय की मेज़ के पास जाकर खड़ी हो गई थी।

'सुकेत!' दूध में चीनी मिलाकर गिलास सुकेत के सामने रख टोस्ट

सुकेत खुद चम्मच से हिलाने लगा ।

'इतना काम तो मैं भी कर सकती हूं।' मनीषी ने चाय का प्याला सुकेत के हाथ से ले लिया। अब वह सामने तिपाई पर बैठ कर चाय सिप करती हुई अजय के बारे में पूछने लगी—सुकेत का बहुत दिनों पहले का एक मित्र, जिसे उस दिन उसने बहुत लाड़-प्यार से खिलाया था।

'कहां है वह ?'

'वह भी आ जायेगा किसी दिन, वह मसूरी चला गया है।' सुकेत ने बताया।

'इतनी दूर, मसूरी ! !'

'जाने वालों के लिये कुछ दूर नहीं होता। यह बात तुम नहीं समझ सकती हो, जिसे रात-दिन अस्पताल की ही माला जपनी रहती है।'

सब खिलखिला कर हंस पड़े। मनीषी को आज कोई व्यंग्य किसी प्रकार की फबती—किसी से भी कोई आपत्ति नहीं थी।

आज इतने दिन बाद सुकेत ने उसे बताया, कि संजय परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हुआ था, वह हीनभावना से पीड़ित है और वह मित्र को हीनभावना से मुक्त करने के परीक्षण में लगा हुआ है। सुनकर मनीषी ने आज किसी प्रकार की फबती नहीं कसी, न आलोचना की, न उसे रोकने-टोकने जैसी ही कोई अन्य बात की—सुकेत की समझदारी पर आज वह हैरान और मुग्ध थी। हृदय में धीरे से कुछ और सालने लगा था; एक दिन अपनी ओर से संजय के प्रति किया गया उपेक्षा का परिताप इस क्षण फिर घनीभूत हो उठा।

रहती थी, कि वह अपने कमरे में लेटी है और सुकेत उसके पास आकर बैठ गया है, उसकी उंगली या पहुंचा पकड़कर किसी चीज़ के लिए या कहीं चलने के लिए हठ कर रहा है और वह सुन ही नहीं रही है या राज़ी ही नहीं हो रही है और सुकेत उसे धकियाकर या रूठकर उसके पास से चला जा रहा है, तो वह उसके पीछे दौड़कर उसे रोक रही है, मना रही है या चुप-चाप अपने पलंग पर बैठे ही बैठे उसके दुबारा लौट आने की राह देख रही है, तरह-तरह की बात सुना रही है, प्रश्न कर रही है, बहस कर रही है, समझा-बुझा रही है···। वे बातें बहुत पुराने दिनों की थीं, शायद सुपर्णा दी के सामने की।

उसके बाद तो सुकेत धीरे-धीरे खुद ही अंकुशित होता चला था—उम्र के साथ ही उसे न जाने कौन सिखा गया था, कि मनि माशी से बात तो करो पर उसका पल्ला न छुओ, उंगली न खींचो और उस दिन के बाद भी जब एक दिन सिनेमा में बैठे-बैठे उसने अपना भारी-भरकम हाथ उसके हाथ पर रख दिया था तो कैसा-कैसा लगा था उसे। सुकेत को कुछ नया लगा होगा कि नहीं, उसे नहीं मालूम, पर उसने उस क्षण ही सुकेत के पास से चले जाने की बात सोची थी, पर तब उसके शायद दूसरे दिन ही संजय वाली घटना ने उसके मन को इतना त्रस्त कर डाला था कि वह बहुत कुछ भूल गयी थी, जैसे वह घटना एक बड़ा पत्थर हो, जिसने सहज रूप में बहती हुई नदी की एक बड़ी धारा को एकदम दूसरी ही दिशा की ओर मोड़ दिया हो, पर धार और दिशा के संतुलित हो जाने पर फिर उसके मन में एक उबाल उठा था और तभी उसने टोस्ट प्लेट में सजाते हुए किसी प्रकार उस दिन कह ही डाला था :

'मैं सोचती हूं, कि पहले की तरह अस्पताल-क्वार्टर में अपना इन्तज़ाम कर लूं और कभी-कभी तुम्हें देखने, घर को व्यवस्थित करने आती रहूं।' सुकेत के सामने किसी प्रकार उसने अपना वाक्य पूरा कर ही डाला था, पर पूरा करके भी हृदय में एक बड़ा कम्प फिर जगा था; अब हर काम के लिये उसे सुकेत से राय लेनी पड़ती है, संभल कर कहना-सुनना पड़ता है, कहीं कुछ ऐसा न हो जाये कि सुकेत को अच्छा न लगे, सुकेत अब उससे भी बड़ा हो गया है—घर का पुरखा। वह मनीषी की बात सुनकर थोड़ी

पर मक्खन लगाते हुए उसने हल्के से सचेत किया था, 'लो !' प्रत्युत्तर में सुकेत ने प्रश्नात्मक दृष्टि से उसकी ओर देखा था, फिर आगे कोई शब्द न सुनकर पूछा था, 'और तुम्हारा दूध ?'

'ले लूंगी।'

'तुम्हारे लिए मैं डालता हूं, तब तक तुम टोस्ट तयार करो !'

'जितना लेना होगा, मैं खुद ले लूंगी, यह भी कोई बात है...।'

'कि तुम टोस्ट सेंकती रहो और मैं आराम से बैठा रहूं।'

'तुम भी खूब हो सुकेत ! अपने मतलब की बात खूब पकड़ लेते हो। मैं कहने जा रही थी...।'

सुकेत ने प्रश्नात्मक मुद्रा से मनीषी की ओर देखा, तो उसे लगा था कि वह इस बार लड़खड़ा कर ज़मीन पर बैठ ही जायेगी, पूरा वाक्य सुकेत से वह कैसे कहे ?

क्या हो गया था उसे उन दिनों, जिस सुकेत को वह डांट-फटकार सकती थी, डांटती-फटकारती रही थी—उसकी छोटी-बड़ी, अच्छी-बुरी बातों पर समझाती-सुनाती रही थी, उस दिन उसी सुकेत के सामने वह इतनी क्षीण कैसे बन गयी थी, उसे आज भी आश्चर्य होता है।

उन दिनों सचमुच सुकेत पहले के दिनों से बहुत बदल गया था—उठता हुआ कद और ऊंचा हो गया था। देह भर आयी थी, स्वर में गम्भीर खरखरापन और अधिक समा गया था। हाथ-पैर खूब बड़े-बड़े दिखते थे, छाती पुष्ट, चौड़ी, चेहरा गम्भीर, विचारशील मुद्राएं सूट पहनकर तो वह एकदम अपनी उमर से बहुत बड़ा दिखने लगा था, बी० एस-सी० के बाद ही इतना परिवर्तन आ गया था। न जाने कब से उसने उसे पहले की तरह डांटना-फटकारना बन्द कर दिया था, कब से वह उसके कामों के प्रति अधिक सचेत और व्यग्र हो उठी थी, एक विशेष प्रकार से व्यग्र—उसे याद ही नहीं पड़ता। सुकेत का बचपन चुपके से सर्रा कर निकल गया था और साथ ही उसका चुलबुलापन और लापरवाही भी—मनीषी को कभी-कभी महसूस होता कि अब सुकेत से बात करने में उसे अधिक सतर्कता बरतनी पड़ती है, कई मौकों पर वह उससे उतनी सहज नहीं हो पाती, जैसे पहले

टिकाये बैठी सोचती रह गयी थी। पीछे टोस्टर में लगा हुआ टोस्ट जलकर अपनी गन्ध देने लगा, तो उसने अचानक सिर उठाया था, देखा था, सुकेत उसके सामने खड़ा है—

'मनि, मुझे माफ़ कर दो!' दहलीज़ पर ही खड़े हुए उसने कहा था।

'किसलिये?' तन कर बोलने की बारी तब मनीषी की थी।

'तुम्हें तकलीफ पहुंचाने के लिये। दरअसल बात यह है कि···।'

'तुम्हारी बात मैं समझती हूं पर···।' उसने न सुकेत को बात पूरी करने दी थी, न अपनी खुद की ही बात पूरी की थी। सुकेत उसके पास आकर खड़ा हो गया था, धीमे स्वर में बोला था :

'तुम्हें याद है, मां ने तुमसे क्या कहा था···? और उसे लगा था, वह फूट-फूटकर रो उठे, पूछे क्या तुम भी सचमुच यही चाहते हो? पर अभि-घातमक ढंग से फिर कभी पूछने की नौबत नहीं आयी थी, सुकेत ने उसी क्षण अपनी बात फिर दोहरा दी थी।

'मुझे छोड़कर तुम कहीं नहीं जाओगी।' वह कोई प्रत्युत्तर नहीं दे सकी थी, उसने उससे छूटा हुआ दूध और टोस्ट खाने के लिये भी नहीं कहा था और रुलाई न फूट पड़े इस डर से मेज़ की चीज़ों को ट्रे में समेट कर वह रसोई में चली आयी थी। सुकेत दरवाज़े पर वहीं चुपचाप खड़ा रह गया था—उसके चुप होकर उठकर चले जाने के कारण ही शायद सुकेत ने समझा था कि वह नाराज़ हो गयी है और शायद वहां रहना उसे बन्धन लगने लगा है, इसलिये उसने एक छोटी-सी चिट्ठी लिखकर खुद ही घर के लैटर-बॉक्स में डाल दी थी। पत्र की कुछ पंक्तियां उसे आज इतने दिनों बाद भी याद हैं, इस क्षण वह उन पंक्तियों को अपनी आंखों के सामने फिर देखने लगी :

'मेरी मनि,

तुम शायद मुझे ग़लत समझी हो, मैं तुम्हें ज़बरदस्ती बांध कर नहीं रखना चाहता, अगर तुम्हें मेरे पास रहने में यहां बड़ी कठिनाई हो रही है, और तुम्हें अपने सुकेत का अब कोई मोह नहीं रह गया, तो तुम खुशी से जा सकती हो। पर अगर तुम समझती हो कि मैं तुम्हें थोड़ा-सा भी स्नेह करता हूं, तो तुम कठिनाई-परेशानी झेल कर भी मुझे छोड़ कर नहीं

टिकाये बैठी सोचती रह गयी थी। पीछे टोस्टर में लगा हुआ टोस्ट जलकर अपनी गन्ध देने लगा, तो उसने अचानक सिर उठाया था, देखा था, सुकेत उसके सामने खड़ा है—

'मनि, मुझे माफ़ कर दो !' दहलीज़ पर ही खड़े हुए उसने कहा था।

'किसलिये ?' तन कर बोलने की बारी तब मनीषी की थी।

'तुम्हें तकलीफ पहुंचाने के लिये। दरअसल बात यह है कि···।'

'तुम्हारी बात मैं समझती हूं पर···।' उसने न सुकेत को बात पूरी करने दी थी, न अपनी खुद की ही बात पूरी की थी। सुकेत उसके पास आकर खड़ा हो गया था, धीमे स्वर में बोला था :

'तुम्हें याद है, मां ने तुमसे क्या कहा था···? और उसे लगा था, वह फूट-फूटकर रो उठे, पूछे क्या तुम भी सचमुच यही चाहते हो ? पर अभि-घातमक ढंग से फिर कभी पूछने की नौबत नहीं आयीथी, सुकेत ने उसी क्षण अपनी बात फिर दोहरा दी थी।

'मुझे छोड़कर तुम कहीं नहीं जाओगी।' वह कोई प्रत्युत्तर नहीं देसकी थी, उसने उससे छूटा हुआ दूध और टोस्ट खाने के लिये भी नहीं कहा था और रुलाई न फूट पड़े इस डर से मेज़ की चीजों को ट्रे में समेट कर वह रसोई में चली आयी थी। सुकेत दरवाज़े पर वहीं चुपचाप खड़ा रह गया था—उसके चुप होकर उठकर चले जाने के कारण ही शायद सुकेत ने समझा था कि वह नाराज़ हो गयी है और शायद वहां रहना उसे बन्धन लगने लगा है, इसलिये उसने एक छोटी-सी चिट्ठी लिखकर खुद ही घर के लैटर-बॉक्स में डाल दी थी। पत्र की कुछ पंक्तियां उसे आज इतने दिनों बाद भी याद हैं, इस क्षण वह उन पंक्तियों को अपनी आंखों के सामने फिर देखने लगी :

'मेरी मनि,

तुम शायद मुझे ग़लत समझी हो, मैं तुम्हें जबरदस्ती बांध कर नहीं रखना चाहता, अगर तुम्हें मेरे पास रहने में यहां बड़ी कठिनाई हो रही है, और तुम्हें अपने सुकेत का अब कोई मोह नहीं रह गया, तो तुम खुशी से जा सकती हो। पर अगर तुम समझती हो कि मैं तुम्हें थोड़ा-सा भी स्नेह करता हूं, तो तुम कठिनाई-परेशानी झेल कर भी मुझे छोड़ कर नहीं

जाओगी, मुझे विश्वास है। मुझे ज़्यादा अच्छी तरह कहना नहीं आता, इतना ही जानता हूं, कि मैं तुम्हारे विना इस घर में नहीं रहूंगा।

तुम्हारा
सुकेत'

पत्र पढ़कर वह उस दिन वुत की तरह बैठी रह गयी थी। तुरत-फुरत पढ़ कर कागज़ के उस छोटे से टुकड़े को उसने अपने लैटर पैड में डाल दिया था। नाश्ते के वाद उसने अलग से दो वार उसे फिर पढ़ा था, अस्पताल जाते हुए उसने वह कागज़ अपने पर्स में रख लिया था और रात के अन्तिम पहर में वार्ड में जव मरीज़ों की चीखा-पुकारी कुछ शान्त हुई थी, तो वह वहुत देर तक कागज़ को लिये हुए रेलिंग के पास खड़ी रही थी। खिड़की के पीछे वरामदे में रातरानी की सुगन्ध वहुत तेज़ थी, उसकी टहनियां रात के अंधेरे और फूटते उजेले की रलीमिली रोशनी में वरामदे के फ़र्श पर कांप रही थीं—उसकी वन्द पलकों से रिसते हुए आंसुओं को सवेरे की हवा सुखाती चली आ रही थी और उसके ओठ वुरी तरह पपड़िया उठे थे।

और आज सुकेत खुद चला गया है और तमाम मकान एक पूजागृह की मानिन्द खामोश रहता है—झड़ा-पुंछा, साफ़-सुथरा और अकेला। वारिश रात-दिन होती रहती है, कोठी के पीछे ढेर सारे जोहड़ों में, जिनमें नवम्वर और दिसम्वर के महीनों में काले पानी के ऊपर कमल के पत्ते और कमल पुरे रहते थे, अव सिर्फ़ लवालव पानी भरा हुआ है। सड़कों पर भी कहीं गड्ढों में पानी ठिठका खड़ा है, तो कहीं नदी-नाले वन कर वह रहा है—पानी उतर जाने पर हर ओर कीचड़ ही कीचड़ और चिपचिपाहट।

उस दिन उस पत्र को पढ़ कर रो लेने के वाद मनीषी को एक विचित्र प्रकार का भय महसूस हुआ था। सुकेत के साथ रहते हुए उस समय तक उसने स्वयं को यदा-कदा ही अकेला अनुभव किया हो तो हो, पर उस दिन अकेलेपन की एक निविड़ अनुभूति ने उसे चारों ओर से घेर लिया था—छोटी-छोटी आधारहीन आशंकाएं, द्वन्द्व और भय, सुकेत को क्या हो गया है, क्यों उससे इतने रहस्यमय ढंग से जुड़ा चला जा रहा है—सुकेत के घर को छोड़ वह

फिर भी नहीं जा सकी थी।

उस दिन अस्पताल जाने से पहले और लौटने के बाद उसने अपनी किसी भी क्रिया अथवा शब्द से सुकेत को यह बोध नहीं होने दिया था, कि पत्र के द्वारा उसमें कोई नई भावना, नई प्रतिक्रिया जगी है, अपने को एकदम सामान्य बना कर रखने के प्रयत्न ने उसे भीतर ही भीतर काफ़ी तोड़ डाला था। बहुत दिनों के बीते चित्र उन दिनों उसके चारों ओर भटका करते थे। इसी प्रकार के अकेलेपन के दंश ने उसे उन दिनों भी डंसा था: शुरू-शुरू का समय तो दिन-रात रोते या चुप्पी साधे ही बीता था। उसे शाम को घटी उस अकल्पित, अप्रत्याशित दु:खद घटना के भावी परिणाम को उतनी दूर तक आँकने में तो वह असमर्थ ही थी, पर धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों समझ आती गयी, घाव अधिक कोंचने लगा था। दो-तीन साल तक रो लेने के बाद मेडिकल में दाखिला लिया था, कितनी कठिनाइयों के बाद वह सब कुछ सम्भव हुआ था। क्या पिता ने तब यही सोचा था, कि अपने दु:ख से भारी अनगिन दु:खों को देख कर ही वह संभल जायेगी? संभली भी थी, पर तुरन्त नहीं, पूरे चार साल लगे थे। जिस व्यक्ति के साथ केवल कुछ क्षणों का स्पर्श-मात्र का ही सम्बन्ध था—उसी अनपहचाने व्यक्ति के लिए समझ आने पर वह घण्टों रोती रहती थी।

घर के सामने ही एक छज्जा था और उसके पीछे कमरा, जिसमें घटित प्रत्येक व्यापार वह अच्छी तरह देख सकती थी। वहीं वह छरहरी देह वाली नई बहू रहती थी। उसका पति अपने एकमात्र बिस्तर पर उसे कभी गुदगुदाता-हंसाता, कभी बहलाता-फुसलाता, कभी बड़ी गहरी गम्भीर मुद्रा में समझाने लगता—उसे सब कुछ बड़ा विचित्र और आह्लादक लगता और फिर धीरे-धीरे नजाने क्या होता वह फूट-फूट कर रोने लगती—ये सब बीते दिनों की बातें हैं, आज सुकेत के चले जाने पर जिस अकेलेपन के दंश से वह पीड़ित है, उसे लग रहा है यह दंश उन दिनों के दंश से कहीं अधिक भेदक है। कितने ही घरों से लड़के काम पर नौकरी के लिए बाहर विदेश तक जाते रहते हैं, सुकेत तो इसी देश में उससे केवल कुछ सौ मील की दूरी पर

ही है। तव घटनाएं याद आयीं तो आती ही चली गयीं—

वह डॉक्टरी पढ़ रही थी और मां कहा करती थीं, 'अब तुझे वाहर नहीं भेजूंगी, पढ़ कर यहीं लखनऊ में ही किसी अस्पताल में काम करने लगना।'

'हां, जैसे काम करने लगना मेरे ही हाथ में तो है न !'

'तेरे हाथ में नहीं है, पर तुम अपने किसी पढ़ाने वाले से तो कह सकती हो, क्या लखनऊ में एक लड़की के लिए भी जगह नहीं हो सकती ?'

'एक क्या दस के लिए भी जगह हो सकती है, पर सिफ़ारिश। आज की दुनिया में पीठ पर कोई हो तो कुछ भी मिल सकता है।'

मां एक लम्वी सांस लेकर रह गयी थीं—जव से पिता चले गये थे, तव से मां ने अपनी हर इच्छा को तिलांजलि दे दी थी, इस इच्छा को भी दे दी थी। वो तो कुछ संयोग ऐसा घटित हुआ, कि अनिच्छित घटित होने से पहले वे रहीं ही नहीं। काश, किसी दिन वह भी मां की तरह ही मुक्त हो पाती ! सुपर्णा दी के साथ संयोग हो जाने के वाद मुक्ति की यह भावना उसे उस प्रकार उद्वेलित नहीं करती थी—मां की स्मृति ने उस प्रकार से कचोटना छोड़ दिया था। सुकेत का दायित्व मिल जाने के वाद छह साल तक तो जव कभी कुछ याद आता, वह उसे स्मृति-पटल से सरकाने का ही प्रयत्न करती रहती।

इतने वर्षों का लम्वा समय—आज सोच रही है, तो उसे आश्चर्य होता है, सुपर्णा दी के दिवंगत हो जाने के वाद सुकेत की लम्वी वीमारी के एक-एक दिन और रात को काटना उसे कितना कठिन पड़ा था ! उस वीमारी के वाद भी उसके पूरी तरह तन्दुरुस्त होने के लिए उसने क्या-क्या भुगता था, कैसे-कैसे क्या-क्या किया था, आज याद करती है तो लम्वे वीहड़ दिनों की एक लम्वी शृंखला उसके सामने आकर टंग जाती है। अभी हाल ही के कुछ वर्षों में सुकेत समझदार हुआ है—इण्टर के वाद वी० एस-सी०, एम० एस-सी० सहूलियत से पढ़े हैं, इण्टर के वाद हर कक्षा में उच्च श्रेणी प्राप्त की है—पिता का पेशा अपना लेता तो आज इतनी दूर जाकर क्यों वैठना पड़ता।

सुपर्णा दी के सामने ही कहता था, मुझे मेडिकल लाइन एकदम पसन्द नहीं है। रात-दिन चीख-पुकार, भागदौड़, रोना-पीटना, चीराफाड़ी और

मौतें। खुद मनीषी उसकी यह फटकार कईवार सुनती रही थी—'सेवाभाव ही मुख्य था, तो गली-सड़क पर वहुत से अपाहिज दुःखी मिल जाते, ठण्डी हवा भी मयस्सर होती और रात-दिन की दमतोड़ ड्यूटी से भी मुक्ति मिलती, अखवारों में नाम अलग छपने लगता—डॉक्टर वनने से तो सोशल सर्विस कहीं ज़्यादा अच्छी है, तुम्हें यह लाइन पकड़ने की सलाह किसने दी ?'

और भी न जाने कितना कुछ कहा था सुकेत ने उस दिन। अव इतनी दूर जाकर वैठे हैं कानपुर में, डिफ़ेंस रिसर्च लेवोरेटरी में रिसर्च अफ़सर वन जाने से पूछो अव तुम्हें क्या मिल रहा है। जाते समय वड़ी समझदारी से समझा गये हैं :

'मनि, मैं जा रहा हूं तो मेरे पीछे तुम इस घर को पूरी तरह संभाल लोगी।' जैसे अपने रहते वे खुद ही तो संभालते थे। विजली-पानी के विल तक का भुगतान अस्पताल आते-जाते वह खुद करके आती थी। 'और देखो, खाना दोनों समय वनेगा, यह नहीं, कि मैं इन्टरव्यू देने गया तो दोनों एक समय खाकर सो गईं। किसी भी दिन आकर देख लूंगा। भली छुटका मां, तुम ध्यान रखना, हुं!' जैसे खुद ये अपने खाने का ध्यान रख ही लेंगे। गाड़ी हिलते-हिलते कहा था, 'मेरी चिन्ता मत करना···।' चिन्ता करना जैसे एक काम हो और वह कहने भर से ही छूट जायेगा!

गाड़ी के सरकते-सरकते हाथ हिला-हिलाकर कह गया था, 'अस्पताल टैक्सी से जाना, सीधे टैक्सी लेना और वस···।' पर प्लेटफॉर्म से वाहर आयी थी, तो टैक्सी लेना ही भूल गयी, यहां तक कि कितनी-कितनी वसें सामने से ही होकर गुज़र गयीं, और वह न जाने क्या-क्या मथती-लिथड़ती-सी यों ही चलती रही थी, हावड़ा व्रिज पूरा पार कर लेने के वाद ही उसे टैक्सी लेने का चेत आया था।

अस्पताल में सिर उठाने की भी फ़ुरसत नहीं मिली। आउटडोर पेशेन्ट्स की भीड़-भाड़—हफ्ते के पहले दिन वहुत भीड़ रहती है। इन्डोर मरीज़ों में से कितनों के आपरेशन होने थे। कितने नये मरीज़ दाखिल होने के लिये वैठे थे, चारों ओर मरीज़ों की भीड़-भाड़, चीख-पुकार, नर्सों की खटर-

खटर, मरीज़ों को व्यवस्थित रखने का प्रयत्न, दवाएं, इन्जेक्शन, चिलमचियां, पलंग, चार्ट—डॉ० माण्डेकर आज छुट्टी पर थीं, अधिकांश समय वहीं जुटी रही। अब घर लौटी है, तो सारा घर भायं-भायं करता प्रतीत हो रहा है—सुकेत तो एक ही था, पर उस एक के ही चले जाने से जैसे पूरा घर खाली हो गया हो। यों ज़्यादातर सुकेत अपने कमरे के एक पलंग पर ही पड़ा रहता था, लेकिन लगता था, जैसे घर का हर कोना उसी से आबाद हो। उसके होने पर बैडमिण्टन-कोर्ट, बागबानी ड्रॉइंगरूम, डाइनिंगरूम, बरामदे सभी तो भरे-भरे लगते थे—पहले इस भयानकता का अन्दाज लगा पाती, तो शायद वह सुकेत को रोक ही लेती। ऊंह, क्या सोच रही है वह भी, गुड़िया के खेल जैसी बातें—लड़के अपने पेशे के आगे कभी किसी के रोके रुकते हैं! अब सुकेत के चले जाने के बाद तो वह अस्पताल में जाकर रह सकती है, पर सुकेत तो जैसे पर ही कुतर गया है—जाने वाले दिन भी कह गया था :

'जाना कहीं नहीं है, अगर घर छोड़ कर कहीं बाहर रहने की बात सोची भी, तो मैं देख लूंगा।'

'ओह!' एक लम्बी जमुहाई लेकर मनीषी ने अपनी बांहें ऊपर की ओर फैला दीं—आखिर किस बन्धन से बंधी है वह इस घर से? सुपर्णा दी का वचन ही क्या उसे इस घर में रोके हुए है? शायद हां, शायद नहीं। अगर सुकेत उसे सहयोग न देता, तो सुपर्णा दी को दिया गया वचन ही क्या कर लेता? यह तो सुकेत ही है, जिसने उसने उसे इस घर में बांध रखा है। पर अब यह बन्धन कितना भयावह है—कितनी-कितनी बातें हैं, जिनसे आदमी कह-सुनकर ही मुक्ति पा सकता है, पर अब इस घर में वह किससे क्या कहे—छुटका मां है तो उससे क्या कहा जाये, वह उस बात को उस रूप में समझेगी भी क्या?

उस दिन अस्पताल से लौटी थी तो बहुत उदास थी—किसी से कुछ कहने-सुनने की इच्छा नहीं थी, तो अपने कमरे में यों ही बिना कपड़े बदले जा लेटी थी—सुकेत तभी कहीं से उसे देखकर चुपके से वहीं आ गया था।

'मनि, क्यों आज क्या हुआ? तबीयत ठीक नहीं है क्या?' किसी प्रकार का तनिक-सा भी व्यतिक्रम तो उसकी आंख में तुरन्त ही आ जाता

था। अच्छा होता, कि वह पलंग पर लेटने से पहले ही दरवाज़े की चटखनी चढ़ा कर लेटती, पर चटखनी चढ़ाने से भी क्या होता है—सुपर्णा दी के सामने एक दिन चटखनी चढ़ा कर ही तो लेटी थी, तो सुकेत ने दरवाज़ा पीट डाला था, 'खोलो मनि माशी, खोलो न ! नहीं खोलोगी तो मैं चला जाऊंगा, ढूंढ़ती रहना !' उतना समझदार नहीं था, तो भी जानता था, कि उसके रूठ जाने, छिप जाने या कहीं बाहर चले जाने पर मनि परेशान होती है। नहीं उठी थी, तो सुपर्णा दी को ही आना पड़ा था।

'ऐसा भी क्या है मनीषी, बेचारा इतना दुःखी हो रहा है और तुम हो कि दरवाज़ा बन्द किए पड़ी हो ! बच्चे पर ज़रा दया नहीं आती ?' दरवाज़ा थपथपाकर उन्होंने कहा था।

उस दिन भी दरवाज़ा खोलना पड़ा था, सुकेत की बांह थामे उसे पास बैठा कर स्वर में सुबक भर कर बोली।

'तुम ऐसा ही समझती हो, सुपर्णा दी !'

'ऐसा समझती तो तुम्हें सौंप देती अपना सुकेत ?' सुपर्णा दी की सांस भर गयी थी, आंखों में आंसू कुलबुला आये थे और वे चुपचाप लौट गयी थीं। सुकेत को थामे जड़ बनी वह स्वयं पलंग पर ही बैठी रह गयी थी। उठकर सुपर्णा दी के पीछे जाने का, उनसे कुछ कहने का, कोई उपक्रम उस दिन उसकी या सुकेत की ओर से नहीं हुआ था। आज सब कुछ याद कर रही है तो सुपर्णा दी की आखिरी वही बात फिर याद आ रही है—ठठरी बनी देह, गड्ढों में धंसी आंखें, रुके-रुके अटकते से बोल :

'सुकेत अब तेरे ही ऊपर है मनीषी ! मुझे और किसी का विश्वास नहीं है, वचन दे कि तू सुकेत को कभी नहीं छोड़ेगी !' सुकेत की ओर उसने मुड़ कर देखा था, आज का लम्बा-चौड़ा बलिष्ठ सुकेत उन दिनों कितना दुबला-पतला-लम्बा, कितना छोटा और भोला हुआ करता था—कंधे पर थोड़ी सी चिरी हुई चौखाने वाली कमीज़, हाफ़-पैण्ट और घुटने खुरच लगे, धूल से भरे हुए—सबसे पहले दिन दरवाज़े पर खड़े तेज़-तर्रार साफ़-सुथरे उजले किशोर से उस दिन की सुकेत की तस्वीर कितनी भिन्न थी।

'क्यों, कहीं गिर पड़े थे, यह क्या हुआ ?' खरहरे घुटने की धूल को हाथ से झाड़ते हुए उसने पूछा था।

'हां, बाहर गिरा था, उधर तलैया के पास।'

'क्यों, वहां क्यों गये थे ?'

'वो शुचि है न, उसका भाई विकी बहुत ख़राब है, उसी ने मेरी लूटी हुई पतंग के साथ छीना-झपटी की थी, उसी में···।' अभी तक निरीह से दिखते सुकेत ने चेहरे पर हल्का-सा बहादुरी का भाव लाते हुए कहा था।

'यही कहने तो मैं तुम्हारे पास आया था और तुमने किवाड़ लगा लिये थे।' अपने को बहादुरी का ख़िताब उढ़ाये हुए वह बिसूरता-सा चेहरा—उसे हंसी आने-आने को हुई थी, फिर स्वयं को संभालती हुई गम्भीर होकर बोली थी।

'पैसे-पैसे की पतंग के लिए लड़ना तुम्हें अच्छा लगता है ? सामने पर्स टंगा है, पैसे लेकर जितनी चाहे पतंगें ले आओ।'

'पर, पर वह तो मेरी पतंग थी, पैसे की हो या मुफ़त की। मैं दब्बू बना बैठा रहूं और···।' चेहरे पर तमतमाहट आ गयी थी और वह उठ कर जाने लगा था, उसने तब उसे रोक कर बैठा लिया था।

'मेरा मतलब है कि इस बेकार की पकड़-धकड़, छीना-झपटी में तुम अपना ही समय नष्ट करते हो, कुछ पढ़ो-लिखो, दूसरे खेल खेलो, और कुछ सीखो !'

'तुम मेरे साथ खेलोगी तो फिर मैं विकी के साथ खेलने नहीं जाऊंगा, ठीक है न !'

'ठीक है, मैं तुम्हारे साथ खेलूंगी, ठीक है अब ?' उसने सुकेत की हां में हां मिला दी थी और सुकेत सन्तुष्ट होकर चला गया था। सिफ़ उतना-सा समर्थन पाने वह उसके दरवाज़े पर आया था, जैसे उसके साथ सुकेत का कितना बड़ा रिश्ता हो।

उस दिन दरवाजा खुला था और वह चला आया, तो वह उसे कैसे रोकती और जब पास बैठ कर उसने पूछा था, 'मनि, सिर में दर्द है क्या ?' तो वह उसे क्या जवाब देती। हां कहती तो वह सिर दबाने के लिए आग्रह करने लगता, उस आग्रह को ठुकराना उसके लिए कठिन होता, इसलिये बोली थी :

'नहीं, सिर में दर्द नहीं, यों ही मन कुछ उदास है।'

'क्यों, क्या हुआ ?' किसी ने कुछ कहा-सुना ?

'नहीं, वैसे मौके आने का अवसर मैं देती ही कहां हूं !'

'तव ?'

'तव कुछ नहीं, हर वात तुम्हें वताने को ही हो, ऐसा कैसे हो सकता है !'

'क्यों ? मुझमें क्या कमी है ? मैं तुम्हारा दोस्त नहीं हूं ?'

'दोस्त हो, पर अभी वच्चे हो, उतनी वातें समझने की तुममें बुद्धि ही कहां है।'

'मुझे तुम वच्चा समझती हो, देखो जानती हो, यह क्या होता है ?' उसने अपनी वांह कोहनी से मोड़कर फुलाते हुए दिखाई थी, 'यह क्या है, जानती हो, इन्हें मसल्ज कहते हैं और जिसके मसल्ज निकल आते हैं, वह वच्चा नहीं रह जाता।'

'चलो, तुम वड़े तगड़े हो गये हो, अभी वीमारी से उठे हो, पूरी तरह तन्दुरुस्त भी नहीं हुए हो, इतनी वड़ी डींग हांकना ठीक नहीं है।'

'डींग समझती हो तो डींग ही सही, पर वह वात तुम्हें वतानी ही पड़ेगी, वोलो न क्या हुआ ?' सुकेत ने उसका मुँह यों ही हथेलियों से थाम अपनी तरफ़ कर लिया था, तव उन हथेलियों के स्पर्श में उतनी तचन कहां होती थी।

'क्या वताऊं सुकेत, उसने अनखा कर कहना शुरू किया था, 'तुममें लड़कियों जैसी आदत न जाने कहां से आ गई है, जिस वात को कोई न वताना चाहे, उसको तव तक कुरेदते रहोगे, जव तक वह मालूम न हो जाये।' उसने लड़कियों की आदत को खूव स्पष्ट कर दिया था। और दूसरा मौक़ा होता तो सुकेत लड़कियों के विशेषण को अपने साथ चिपके देख आगववूला हो उठता, पर उस समय अपना मतलव था न, इसलिये उसे अनसुना करता हुआ वोला :

'हां, ठीक है, वताओ न क्या हुआ ?' लड़की वाली वात को वह पूरी तरह पचा ही गया। 'अगर नहीं वताओगी न, तो मैं पढ़ूंगा ही नहीं, हो सकता है, फेल हो जाऊं।' वही वचकाना तर्क, पर उस तर्क के आगे वह हार गयी थी, वताने लगी तो ऐसा तन्मय होकर सुनने लगा था, जैसे

के राज़ का साझीदार बन कर वह उसका कोई बड़ा संकट काट रहा हो।

'हुं!' उसने हुंकारा भरा था।

'बात यह हुई कि आज अस्पताल में एक ऐसी औरत दाखिल हुई थी जिसने खुद को आग लगा ली थी, बुरी तरह जल गयी थी, बहुत कोशिश करने पर भी नहीं बच सकी।'

'ऐसे तो बहुत से मरीज़ आते होंगे, जिनके लिए तुम कोशिश करती होगी और वे बच नहीं पाते होंगे। उस औरत में ही क्या बात थी, क्या जलने का यह पहला केस था?'

'नहीं भइया, अस्पताल में तो जलकर आने वाले मरीज़ों का पूरा वार्ड ही है।'

'तब?'

'तब क्या?'

'तब तुम्हें उस औरत का जलना उतना बुरा क्यों लगा?'

'कहां लगा, कुछ नहीं लगा।'

'फिर वही बात। मनि, ज़रूर तुम मुझसे कुछ छिपा रही हो और जब तक छिपाओगी, तब तक समझ लेना, तुम उदास ही रहोगी, तुम्हें शान्ति नहीं मिलेगी।'

'बाबा रे, इतना बड़ा श्राप! तब तो ज़रूर डरना पड़ेगा। सुनो, वह स्त्री अभी छोटी ही उमर की थी, विधवा थी, ससुराल में रहती थी, उसकी सास उसे बहुत तंग करती थी, इसलिए उसने···।'

'ओह, तो यह बात है!' खूब गुम-गम्भीर दार्शनिकों जैसा चेहरा बना कर बैठ गया था सुकेत, फिर जैसे कुछ विचारता सा-बोला था, 'उस घर में उस स्त्री के लिये रहना क्या इतना ज़रूरी था? वह कहीं और भी तो रह सकती थी! अपने माता-पिता के घर ही रह लेती।'

'रह लेती, पर जो लोग उसे अस्पताल लेकर आये थे वे बता रहे थे, कि उसके मायके में कोई नहीं था और अगर होते भी तो लड़की को ज़िन्दगी भर रखना कितना मुश्किल हो जाता है।'

'हुं! तब उसने दूसरी शादी क्यों नहीं कर ली?' उस स्त्री की मृत्यु सुकेत के लिए—जैसे खासा सिरदर्द बन गयी हो।

'दूसरी शादी करना भी इतना आसान नहीं होता न ! कई चीज़ें होती हैं, पहले तो ऐसा आदमी ही मिलना मुश्किल होता है, जो विधवा स्त्री के साथ विवाह करने के लिए राज़ी हो जाये और फिर जो राज़ी भी हो तो विधवा स्त्री उसके साथ रहना-बसना चाहे ही, यह भी तो ज़रूरी नहीं है। और फिर कुछ पुराने संस्कार और मर्यादा की भावनाएं भी होती ही हैं, और भी सैकड़ों वातें···। चलो उठो, अव तुम पढ़ो, वेकार की वातों में सिर मत खपाओ। यह तुम्हारे मतलव की वात नहीं।' उसने पास वैठे सुकेत का गाल थपथपाकर कहा था। तव इतनी देर से अड़कर वैठा हुआ सुकेत एक आज्ञाकारी वालक की तरह चुपचाप उठकर चला गया था। चुपचाप चला गया था, पर अपनी किताव पर आंखें गड़ाए ही वह 'क्यों और क्या ऐसा नहीं हो सकता था' के जाल में उलझा घण्टों सिर झुकाये वैठा रहा होगा—यह उसने उस समय जाकर नहीं देखा था, असली वात वता देती तो न जाने और कितना मथता, उसी का मस्तिष्क सोच-सोचकर कुचला हुआ जा रहा था। जन्म और मृत्यु उसके लिए तो कितनी मामूली है फिर भी !

सचमुच नारी की सीमाएं इतनी विकट क्यों हैं ? जिस चीज़ के लिए पुरुष और स्त्री दोनों समान रूप से ज़िम्मेदार हैं, उसके लिए मात्र स्त्री ही इतना दुःखद परिणाम क्यों भुगते ? डॉ० सिन्धवानी भी डॉ० वोस के विवाह न करने पर क्या जलकर मर जातीं ? क्या सचमुच नारी उस क्षण अपना वचाव करने में इतनी कमज़ोर हो जाती है ? वह सोच रही थी, सुकेत ने आधी वात ही सही, मन से निकलवा ली थी तो सचमुच वह कुछ हल्की हो गई थी, पर आज—आज वह क्या करे ? अव तो उतने आग्रहपूर्वक पूछने वाला, वात करने वाला घर से चला ही गया है। अस्पताल के स्टॉफ क्वार्टर्स में रहती होती, तो क्या उसे इस प्रकार की कमी महसूस होती···? वह सोचने लगी।

नहीं, इसका इलाज वहां भी नहीं था, वहां के लोग इस प्रकार की घटनाओं पर वातचीत करना वेकार समझते हैं। जो चीज़ें रोज़मर्रा के कार्यक्रम में शामिल हो गई हैं, जो चीज़ें डॉक्टरी जीवन का अविभाज्य अंग वन गयी हैं उन चीज़ों के वारे में सिरदर्दी करने से लाभ ! कम से कम

बंगाली उसके लिए मर गया था···।' क्या-क्या बकती रहती थी, अब जाकर शान्ति मिली है।

डॉ० लीना तो अभी आयी है, बच्ची है, लगता है अभी दुनिया का कुछ नहीं देखा। हर चीज़ हर जगह उसे रंगहीन दिखती है। डॉ० कुलकर्णी और डॉ० माण्डेकर की तरह ही मरना-जीना उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता, पर वे दोनों तो जीवन के शाश्वत सत्य को समझ कर ही उससे मुक्त हो पायी हैं, लीना का मस्तिष्क अभी शाश्वत और नश्वरता के दर्शन को समझने में ही असमर्थ है—वह उस प्रकार के दर्शन और सार-असार के चक्कर में पड़ना ही नहीं चाहती। सब का अपना ढर्रा है, हर एक की अपनी जीवन-पद्धति।

मनीषी आज गयी रात तक न जाने क्या-क्या सोच रही थी। सुकेत होता तो इतना सोचने का मौका देता? कार्निस पर रखी घड़ी पर दृष्टि गयी, पूरे दस—सुकेत ने इस समय तक खाना खा लिया होगा? उसे आठ बजे तक खाना खा लेने की सीख दे गया था। डॉक्टर वह थी, पर तन्दरुस्ती के उसूल वह बघारता रहता था। कहीं किसी होटल में खाया होगा, न जाने कैसा-कैसा खाना खा रहा होगा···होटल का ध्यान आया तो निगाह में चौरंगी नाच गयी—कितनी रोशनी, कितने सारे सिर, टैक्सियां, बसें, ट्रामें, दुकानें, पार्कस्ट्रीट की ओर जाती हुई सड़क···रोशनी-रोशनी और रोशनी···कानपुर में अच्छे होटल तो होंगे, सुनते हैं वह भी बड़ा नगर है—इण्डस्ट्रियल टाउन।

इतनी देर बाद उसे याद आया, छुटका माँ उसे ठकाठका कर थाली आठ बजे से पहले ही उसके पलंग के पास रखी टेबिल पर टिका गयी थी—भइया की बात उसे याद रही। खाना एकदम ठण्डा हो गया था। अच्छा होता उस समय छुटका मां के साथ ही उसने भी खाना खा लिया होता, पर उस समय तो उसने छुटका मां से यही कह कर पीछा छुड़ा लिया था, कि वह बहुत थकी है और खाने की बिल्कुल इच्छा नहीं है। इच्छा अब भी नहीं थी। थाली उठा कर वह रसोई में ले गयी, कटोरियां निकाल कर फ्रिज में रख दीं और बाकी चीजें उसने करीने से जाली में चुन दीं—

अब मुंह-हाथ धोकर बिस्तर पर लेटी तो कलकत्ते का विशाल स्टेशन

उसकी आंखों में फैलता चला—स्टेशन एक विन्दु, जहां से रेलें यात्रियों को दुनिया के किसी भी कोने में ले जाकर डाल देती हैं।

ग्यारह

कानपुर से सुकेत का पहला पत्र मनीषी के नाम आया तो वह वहुत देर तक लिफाफे को उलट-पलट कर देखती रही। कुछ देर तक उसे विश्वास ही नहीं हुआ कि यह सुकेत का पत्र है। तो क्या सचमुच सुकेत उसके पास से इतनी दूर चला गया है, जहां अव केवल पत्रों के माध्यम से ही उससे मिला जा सकता है? तो क्या पत्र के ही रूप में वह उसके पास इतनी दूर चल कर आया है? हथेलियों में पत्र को दवोचे हुए वह थोड़ी देर तक सुकेत के अस्तित्व की ऊष्मा उसमें अनुभव करती रही। पत्र को खोलकर पढ़ने का, उसे देखने का, अपने आह्लाद में उसे जैसे चेत ही न रहा हो। चेत हुआ तो लिफ़ाफ़े में से निकाले हुए कागज़ पर अंकित पंक्तियों को देखने लगी, तो आंखें जैसे गड़ सी गयीं। गड़ी हुई दृष्टि भी एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति पर दौड़ती हुई जैसे फिसली पड़ रही हो।

मनि,

तुम्हारे पास से यहां किसी तरह आ ही गया, रास्ते में कई स्टेशनों पर मन किया, वापिस लौट कर चला जाऊं; क्या करूंगा वहां जाकर, रहकर? इण्टरव्यू देने आया था, तो एक कुतूहल था, सर्विस मिल जाने की प्रवल आकांक्षा। अव लग रहा है, जिसके लिए मैं भागा-दौड़ा चला आया, जिसके पा लेने के लिए इतनी ललक थी, वह सव कितना छोटा है। शायद हर चीज़ समीप आकर इतनी ही सामान्य और नगण्य हो जाती

है। वहां रहते तुम्हारे स्नेह के महत्त्व को भी तो नहीं आंक पाया था, अब लगता है इस नौकरी की मैंने कितनी बड़ी कीमत चुकायी है।

तुम्हें पत्र लिखने में देर हुई, तुम चिन्ता कर रही होगी, पर कारण का शायद तुम अन्दाज़ लगा पाओ—यहां आते ही ऑफ़िस जॉयन किया, काम को समझा, उसी शाम को एक परिचित ने मकान दिखाने का वायदा किया, उसके साथ गया भी, पर वहां मामला कुछ जमा नहीं। अब तीन-चार दिन की भागदौड़ के बाद ही कल यह मकान मिला है। आफ़िस जी० टी० रोड पर है, मकान उससे कुछ दूरी पर चल कर ही है—दो कमरे एक छोटी रसोई और बाथरूम। सिविल एरिये में होने के कारण मकान काफ़ी साफ-सुथरा है, सामने मोती झील है, पास ही अस्पताल है। मकान में सब सुविधाएं हैं, पर फिलहाल खाने का इन्तज़ाम मैंने बाहर ही रखा है।

एक बात सोचता हूं मनि, घर से आते समय सोचा था, कि नये व्यक्ति, नया काम-धाम मुझे उलझाये रहेगा, लेकिन अब सोचता हूं—विविध स्टेशन, विविध व्यक्ति, क्षणिक भुलावे में ही सहायक हो सकते हैं—क्षण की अवधि कितनी होती है, जानती हो! कल मैं न जाने कितनी देर तक यही सब सोचता रहा।

अपने खान-पान-स्वास्थ्य का ध्यान रखना, छुटका मां का भी। छुटका मां से मेरा प्रणाम कहना।

तुमने पहुंचते ही पत्र लिखने के लिए कहा था, विश्वास है, तुम नाराज़ नहीं हो।—तुम्हारा सुकेत।

मनीषी के सामने पत्र बहुत देर तक खुला पड़ा रहा। अस्पताल से लौटकर लिफ़ाफ़ा मेज़ पर पड़ा देखकर यों ही बिना उठाये ही तनिक झुक-कर उस पर अपना नाम मात्र पढ़ा था—सुकेत के हाथ के अक्षर पहचानते ही मन में एक किलक-सी जगी, चीखकर छुटका मां को पुकार कर कहने का मन किया था, कि तुम्हारे सुकेत भइया की चिट्ठी आयी है, पर अब जब पूरा खत पढ़ लिया, तो मन न जाने क्यों निढाल हो गया। छुटका मां से बिना कुछ कहे ही पत्र हाथ में थामे ईज़ी चेयर पर वह यों ही बैठी रही, न जाने क्यों हृदय पर उदासी की एक गहरी पर्त्त छा गयी। किसी ने भीतर से चीखकर कहा :

'यह स्थिति अव हमेशा के लिए वनगयी है। सुकेत को अब उस प्रकार से घर में आकर कभी नहीं रहना।' और वह चीख सुनते ही छोटे-छोटे वीते हुए चित्रखण्ड उसकी आंखों के आगे फिर तिरने लगे—सुकेत छत पर चढ़ गया है। न जाने कहां से पतंग खरीद लाया है और उड़ा रहा है, नीचे सुपर्णा दी आवाज़ लगा रही हैं :

'सुकेत वेटा, कुछ पढ़ने-लिखने की भी सुध है! ठीक दुपहरी में पतंग उड़ा रहे हो, आंखें रहेंगी या जायेंगी?' आवाज़ ने उसके ऊपर कोई असर नहीं डाला है, मांझा लिपटी चक्री ज्यों-की-त्यों पड़ी है, दृष्टि अव भी आसमान पर गड़ी है और पतंग आसमान में तनी, ज्यों-की-त्यों।

'मनीषी, देखा तूने सुकेत को। जा, ज़रा ऊपर जाकर वुला तो ला! धूप में वीमार हो गया तो और मुश्किल।'

डेढ़ वजे के वाद अभी अस्पताल से आकर खड़ी ही हुई थी—पैरों में चप्पल अटकाकर ऊपर सीढ़ियों पर चढ़ी है, तो उसकी आंखें छतपर पहुंचने से पहले ही दो-एक सीढ़ी नीचे से ही देख रही हैं, सुकेत ने मांझे की चक्री छत पर वने हुए कंगूरेनुमा मोखल में दुवका दी है, पतंग की डोर झोल खा रही है, पर पतंग अभी नीचे नहीं उतर सकी है। मनीषी को देखते ही सुकेत ने पुकारा है।

'मनि माशी, ज़रा डोर को अपने हाथ में थामकर देखो, कैसा मज़ा आता है। पकड़ो, पकड़ो तो सही!' और उसने ज़बरदस्ती पतंग की डोर मनीषी के हाथ में पकड़ा दी है। मनीषी को थामनी पड़ी। डोर थामी है तो वह लहर खाकर पतंग को वहुत दूर ले गयी है। लगता है, जैसे बस लचक-लचकाकर पतंग अभी नीचे आ गिरेगी। सुकेत देखकर हंसता है, मनीषी के हाथ से वापिस डोर अपने हाथ में लेकर थोड़ा अपनी ओर खींचकर दो-तीन वार ढील देता है और पतंग फिर आसमान को छूने लगती है—'अब पकड़ो ऐसे! उसने फिर आदेश दिया है, मनीषी असमर्थ-सी होकर डोर को फिरथाम लेती है, जैसे वह पतंग उड़ाने ही ऊपर आयी थी। मुस्कराकर आसमान में उड़ती पतंग को देखने का प्रयत्न करती है, तो आंखें मिच जाती हैं। तभी उसे याद आया वह तो सुकेत को डपटने आयी थी, नीचे उतारकर ले जाने के लिए, सुपर्णा दी से डांट पिलवाने के लिए और यहां

आकर वह खुद ही···। पतंग को हाथ में थामे हुए ही कहती है :

'लो पकड़ो, पतंग को नीचे उतारो और चलो नीचे, यहां कितनी तेज धूप है।'

'अच्छा लग रहा है न !' सुकेत उसकी डपट की चिन्ता किये विना ही पूछता है।

'हां, वहुत अच्छा लग रहा है, पर अव नीचे चलो।'

'चलता हूं, अभी चलता हूं।' और सुकेत उसके हाथ से डोर लेकर फिर अपने हाथ में थाम लेता है। वड़े स्नेह से आसमान में उड़ती विन्दु भर पतंग को देखता रहता है और फिर धीरे-धीरे डोर नीचे खींचना शुरू कर देता है।

'तुम खींचो, ज़रा देखो कितनी भारी है।' मनीषी कौतूहलवश डोर को फिर छूती है।

'उई मां !' जैसे पतंग किसी गहरी खाई-खन्दक में उलझ गयी हो। न जाने कितनी भारी हो गई है, मन दो मन की। हड़वड़ाकर मनीषी डोर फिर सुकेत के हाथ में थमा देती है।

'जल्दी करो !' सुकेत पतंग उतारकर मांझा-पतंग सव कुछ उसके हाथ में थमा देता है, कहता है, 'चलो !'

'यह अच्छी रही जैसे हम ही ने तो कहा था कि पतंग उड़ाओ। चलो, मां वुला रही हैं।'

'मां से कहना, मैं नीचे आ गया।' और वह अपने कमरे में घुसकर वैठ जाता है।

'अरे वेटा, ऊपर तचती धूप से उतरा है, कम से कम मुंह-हाथ तो धो लेता !' सुपर्णा दी को उसके उतर आने की गन्ध मिल जाती है और वे दरवाज़े पर पहुंचती है, पर दरवाज़ा भीतर से वन्द मिलता है।

'इस लड़के ने मुझे वहुत नचाया है।' सुपर्णा दी कुछ खीझियानी हुई कुछ तुष्ट-सी वापिस लौट जाती हैं।

वह खुद अपने कमरे में वैठी हुई वहुत देर तक ऊपर से लायी उलझी डोर को सुलझाती रहती है।

एक दूसरा चित्र आंखों के सामने रेंगने लगता है—

अपनी मेज़ के पास खड़ी वह कोई पत्रिका देख रही है, तभी सु
उसके पीछे आकर खड़ा हो गया है। थोड़ी देर तक वह अपने में ही
रहती है। सामने खिड़की के सरिये से खुट्टुर-खुट्टुर करती चिड़िया उस
ध्यान बंटाती है तो अचानक उसे कोई अपने पीछे खड़ा महसूस होता
गर्दन मोड़कर देखती है—'सुकेत तुम!' वह मुड़कर पीछे आलमारी में रख
पत्रिकाओं को टटोलने लगता है, जैसे कमरे में बस अभी ही घुसा हो।

'हुं!' सम्बोधन सुनकर सामने आता है, बड़े गुमसुम स्वर में कहता
है, 'कुछ रुपये चाहिए!'

'कितने?'

'कितने चाहिए, शायद पचास!'

'शायद क्यों, तुम्हें निश्चय नहीं है? कोई किताब लेनी है?'

'नहीं, किताब की ज़रूरत नहीं है।'

'तब?'

'किसी लड़के ने अपने रुपये मेरे पास रखवाये थे, कहता है पचास थे।'

'और तुमसे गुम हो गये, तुमने गिने थे?'

'नहीं, उसने कहा मैंने रख लिये।'

'हो सकता है, उसने रुपये कुछ कम दिये हों।'

'तुम्हें मेरे दोस्त पर विश्वास नहीं है मनि!' चेहरा लाल तचता हुआ
ा देखकर भय लगा था, 'नहीं, वो बात नहीं है सुकेत! मैंने तो यूं ही
कहा, कभी ऐसा हो नहीं जाता, कि हमें कोई कुछ चीज़ दे और हम उसकी
रफ़ ध्यान न दें, तो हमें अन्दाज ही नहीं रहता, कि उसने हमें कितना
या है, हमने कितना लिया है! इस तरह का भ्रम हो जाना स्वा-
विक है।'

'नहीं, मेरे दोस्त जो कहेंगे सच कहेंगे।'

'इतना विश्वास करना ठीक नहीं है, यही मैं तुम्हें बताना चाह रही हूं
कुछ नहीं। रुपये तो तुम्हारे ही हैं, जितने चाहे ले जाओ।' उसने सेफ़
ाली सामने रख दी थी, वह लौटकर जाने लगा था तो उसने उठकर
ोका था:

क्या होता है तुम्हें, रुपये चाहिए तो लो न!'

'तुमने क्यों कहा, कि रुपये सारे मेरे हैं ?'

'तो क्या झूठ कहा ?' वह खिलखिलाकर हंस दी थी। सुकेत नहीं हंसा था, मुंह बनाये गुमसुम खड़ा रहा था, रुपये निकालकर उसे ही देने पड़े थे।

सुकेत के रुपये लेकर चले जाने पर भी वह बहुत देर तक यूं ही बैठी रही थी; देखो ज़रा सी बात पर कैसा तुनक गया। क्या-क्या सोचता रहता है न जाने ! उस दिन सुपर्णा दी सब कुछ हिसाब-किताब समझाने बैठी थीं तो बता रही थीं, 'बैंक में जितना रुपया है, यह प्रोपर्टी है, सब सुकेत के नाम लिखी हुई है—पर इस सब के ऊपर अधिकार तुम्हारा ही रहेगा। अभी बच्चा है, बालिग हो जाने पर ही इसे रुपये-पैसे की अकल आयेगी। रुपये के मामले में यह पूरा बाबा वैरागी है, पर इस सब के बिना काम भी तो नहीं चलता, इसलिए देखना पड़ेगा।' और थोड़ी देर रुककर वे फिर कहने लगी थीं :

'मनीषी, मुझे तुझ पर ही विश्वास है, तू देखती-भालती रहेगी तो सब कुछ ठीक रहेगा, नहीं तो लड़कों की मत का क्या ठिकाना···।'

कैसी थीं सुपर्णा दी ! अपने बेटे से भी ज़्यादा उस पर विश्वास करती थीं—इतने दिनों बाद भी आंखों की कोरें आंसुओं से भीग उठीं। और तब उसने भी तो वैसे ही निभाया था, आज तक सुकेत के पैसे में से रत्ती भर खर्च नहीं किया था। बाहर के छोटे घरों का किराया, सुकेत की फ़ीस और उसके जेबखर्च के लिए हो जाता था, खाना-पीना और पूरे घर का इन्तज़ाम उसके अपने वेतन से चलता था—अलग रहती तब भी तो अपना ही खर्च करती। सुकेत का खर्च ? सुकेत कोई पराया है, जो उसके खाने-पीने के खर्च की बात अलग से सोचे ! कल को कमाने लगेगा, घर में अलग से रुपया आयेगा, तो देखा जायेगा।

रही छुटका मां के खर्च की बात, तो छुटका मां तो घर की पुरखा है—उसकी छत्रछाया हम दोनों के ऊपर है जैसे हम दोनों दो छोटे बच्चे हों और छुटका मां मां है—बच्चों के भले-बुरे का ध्यान रखने वाली, अपने को अलग-थलग रखते हुए भी जिसकी आंख बराबर बच्चों के सुख-दुःख पर लगी रहती है, उसकी दृष्टि में स्नेह और आशीर्वाद और उसके अमृत घुले

बोल में अधिकार और ममत्व एक साथ गुंथे रहते हैं—उस छुटका मां से मुक्ति पाने की बात सोचना ? छिः, छुटका मां एक मौन धुरी है, जिस पर घर की सम्पूर्ण बागडोर लिपटी हुई है। छुटका मां को अलग करके वह कभी सोच ही नहीं पायी थी।

आज सब कुछ विश्लेषित करने बैठी है, तो कुछ चुभ सा रहा है। सुपर्णा दी के बाद सुकेत ने सिर्फ़ मनि को ही जाना है, उसी पर पूरी तरह निर्भर रहता रहा है—अब न जाने कैसे क्या कर रहा होगा ? इतना सीधा है, कि उसे तो अच्छे-बुरे की भी पहचान नहीं है, न जाने कैसे-कैसे दोस्त बनाये होंगे, जैसे भी होंगे, उनके बारे में जो शक-शुबहा करेगा, वह उसका सब से बड़ा दुश्मन—ऊंह, कहां तक सोचा जाये, अब वह सब कुछ। जब यहां से चला गया है, तो खुद देखे-समझेगा, वह आखिर कब तक साथ-साथ बंधी घूमेगी ? उसने उसकी जन्म-जिन्दगी का ठेका तो नहीं लिया। मां-बाप भी जन्म के साथी होते हैं, कर्म के साथी तो वे भी नहीं होते। कुर्सी से उठकर उसने अंगड़ाई ली, कितनी देर से क्या-क्या सोचती रही थी। अब उसने बड़े सामान्य स्वर में पुकारा :

'छुटका मां, तुम्हारे सुकेत भइया की चिट्ठी आयी है।'

'भइया की चिट्ठी आयी है और तुमने बताया भी नहीं, हम समझीं कोई मामा-ऊमा की चिट्ठी फिर आ गयी···।'

'न-न, वो कुछ नहीं।' छुटका मां की बात बीच में ही काटती हुई वह बोली, 'लिखा है मकान मिल गया है, पर खाने का अभी घर पर कोई इन्तज़ाम नहीं हुआ है, बाहर होटल में ही खाते हैं।'

'खाने-पीने का घर में क्या बन्दोबस्त होयेगा, कहो तो हम चली जाएं। पर फिर तुम यहां अकेली रह जाओगी, तुम्हें छोड़कर हम कैसे जा सकती हैं !' सोचमग्न छुटका मां पलंग की पाटी पर कुछ देर यों ही तस्वीर बनी बैठी रही, मनीषी ने ही सन्नाटा भंग किया :

'मेरी चिन्ता मत करो छुटका मां, मैं तो कुछ दिन अस्पताल में जाकर रह लूंगी, न हो तो तुम चली ही जाओ।'

'न-न, सो नहीं होने का। भइया क्या कह गये हैं, क्या तुम भूल गयीं ? हमें और इत्ते बड़े घर को वे तुम पर ही तो छोड़ गये हैं, तुम चली जाओगी

तो भइया हम पर चीखा-पुकारी करेंगे। हम तो यूं ही कह बैठी थीं, लरिका लोग तो बाहर अपना सब कुछ कर ही लेते हैं, पर भइया की वजह से हम बिटिया को सतायेंगी क्या ? राम-राम !' छुटका मां ने जीभ काट ली, जैसे अपने किसी बड़े अपराध का मार्जन कर रही हो, फिर निर्द्वन्द्व स्वर में बोली :

'तुम भी अब भइया की चिन्ता छोड़ दो, राम सब भली करेंगे। चार दिन में बहू आ जायेगी तो अपने-आप समझेगी।' छुटका मां ने जैसे इतनी बड़ी फ़िक्र से अपने मन को एकदम मुक्त कर लिया हो। पुराने लोग किसी भी बड़ी उलझन से खुद को मुक्त कर लेना कितनी अच्छी तरह जानते थे, आज की पीढ़ी की तरह विचारों का बोझ लादकर चलना और एस्प्रो की गोली खाकर मस्तिष्क के तन्तुओं को सुन्न करके जीते रहना, उनके बस का नहीं था।

खिड़की के सरिये को थामे मनीषी की आंखें छुटका मां पर जड़ी थीं—आवेग, चिन्ता, विवशता, परिताप, बन्धन जैसा कोई भाव वहां नहीं था, क्षणांश में ही जैसे उसने अपने को पूर्ण रूप से उस महाशक्ति के हाथों में छोड़ दिया हो, ऐसा एक समाधि-भाव उसके चेहरे पर विद्यमान था—माथे पर खिंची कुछ गिनी हुई रेखाएं, स्वयं को संयमित कर लेने जैसी कुछ विशिष्ट ग्रन्थियां सरीखी दिख रही थीं।

'बिटिया, कुछ खा-पी लो, उठो चिन्ता छोड़ो ! छुटका मां ने पलंग की पाटी छोड़ कर खड़े होते हुए कहा।

'हां, खाऊंगी तो बाद में, पहले एक प्याला चाय पिऊंगी और सुनो छुटका मां, चाय मैं खुद बनाऊंगी, तुम्हारे और अपने दोनों के लिए, हुं !' और उठकर वह अपने कपड़े बदलने का उपक्रम करने लगी, पर तुरन्त इससे पहले छुटका मां कुछ प्रत्युत्तर में कहे, बोली :

'अच्छा छुटका मां, तुम खुद बना लो। मेरा मन इस समय नहाने का नहीं है।' मनीषी को ध्यान आ गया, कि छुटका मां अस्पताल से लौटकर बिना नहाये-धोये उसके हाथ की चाय पीने में उत्साह नहीं लेती।

'अभी आती है चाय, हम तो जा ही रही हैं।'

छुटका मां के जाने के बाद मनीषी थोड़ी देर खिड़की में से दूर देखती

रही। खिले हुए गुलाबों की क़तार शाम के धुंधलके में अधिक सुवासित हो उठी थी, फाटक पर खड़े मौलश्री के पेड़ों को वह अधिक देर तक नहीं देख सकी—फाटक की ओर दृष्टि जाते ही स्मृति अपने पुराने पंख और ज़ोर से खोलने लगती है—देह कुछ भारी-भारी प्रतीत हुई, तो वह पलंग पर लेट गयी, अंग-अंग थकान से भरा था—हाथ-पैर उसने अपनी पूरी लम्वाई में फैला दिये और चाय की प्रतीक्षा करने लगी।

वारह

डॉ० चित्रा भट्टाचार्य के यहां आज मनीषी समय से काफ़ी पहले पहुंच गयी थी। सवेरे ही अस्पताल में सव ने मिलकर तय किया था कि आज क्रिस-मस वाले दिन एक छोटा-सा फंक्शन ज़रूर रखा जायेगा। इस छोटे-से फंक्शन को आयोजित करने का जिम्मा लिया था डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने। 'इस वार क्रिसमस पार्टी मेरे यहां होगी, आप लोगों में से तो शायद हर एक के यहां एक वार हो ही चुकी है।' चित्रा ने कहा था।

'हो चुकी हो या नहीं, इस वार यह काम तुम्हें ही सौंपा।' डॉ० माण्डेकर ने अहसान लादते हुए कहा, 'हम लोग वीच-वीच में आती रहेंगी, अस्पताल में तो एक साथ सव को छुट्टी मिलने का सवाल ही नहीं उठता।'

'वो तो है ही, पर पार्टी, पार्टी में तो सव को एक साथ ही होना चाहिए!' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य का आग्रह था।

'हां-हां, कुछ देर के लिए देखा जायेगा।' डॉ० कुलकर्णी ने समझा दिया था और तव डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने अपने क्वार्टर में ही इस आयोजन के लिए तैयारी की थी। छोटा-सा फंक्शन धीरे-धीरे वड़ा होता चला ज

रहा था, चित्रा भट्टाचार्य ने अपने मित्रों को भी आमन्त्रित किया था।

मनीषी चित्रा भट्टाचार्य के यहां पहुंची तो उसने उसे झंझोड़ दिया, 'यू आर लुकिंग वेरी चार्मिंग टुडे !'

'सच, मुझे तो कुछ नहीं मालूम !' मनीषी के गाल गुलाबी हो उठे।

'तुम्हें मालूम होना चाहिए !' फिर कुछ विचारती-सी बोली, 'पर ट्रेजेडी यह है, कि आदमी कभी-कभी खुद को ही नहीं पहचान पाता। चलो ख़ैर, अब तुम मेहमानों को रिसीव करो। तुम आज इस काम के लिए एकदम फ़िट हो।' चित्रा भट्टाचार्य ने मनीषी की पीठ थपथपा दी।

'क्या कह रही हो, यह काम तो मेरे लिए सब से मुश्किल है।' मनीषी उसके पीछे-पीछे लपकी थी, पर इतनी ही देर में चित्रा भट्टाचार्य भीतर पहुंचकर अपने काम में उलझ गयी थी। मनीषी ने भीतर झांका, एक छोटी-सी भीड़ के साथ वह क्रिसमस ट्री सजाने में व्यस्त थी।

मनीषी को अपने पर झुंझलाहट जगी, उसे जल्दी आने की क्या पड़ी थी और वह तो आ भी नहीं रही थी, पर चित्रा भट्टाचार्य का ही आग्रह था कि उसे ज़रूर आना है। वह खुद भी अस्पताल और घर, घर और अस्पताल—इन दो-चार दीवारों में रहती हुई ऊब चुकी थी, बाहर निकलने के लिए उसका मन कब से छटपटा रहा था, आज मौक़ा मिला था तो वह स्वयं भी इसे कैसे छोड़ती। चित्रा भट्टाचार्य उसे देखकर खुश हुई सही, उन्होंने उसका हिलक कर स्वागत भी किया, पर अब यह अजनबीपन और यह बोरियत का काम ? तभी उसे सामने से डॉ० माण्डेकर और डॉ० कुलकर्णी आती दिखीं, तो उसे राहत-सी मिली, आगे बढ़कर सब से पहले उसने उन्हीं का स्वागत किया :

'लुकिंग लवली टुडे !' डॉ० कुलकर्णी ने कहा। अपने सौन्दर्य के सम्बन्ध में एक दूसरी कोमल टिप्पणी सुनकर वह फिर लजा गयी। किसी शीशे के सामने जाकर खड़े होने के लिए वह लालायित हो उठी। आखिर आज क्या बात हो गई ? उसने रोज से हटकर एकदम असामान्य ढंग से तो कुछ भी नहीं किया, करने को रह भी क्या गया है, उस जैसे फूटे भाग्य वाली के करने के लिए विधाता ने छोड़ा ही क्या है—सिर्फ सफेद सिल्कन साड़ी ही तो पहनी है, लेस अलबत्ता खूबसूरत और क़ीमती है। बालों के

पैदा कीजिए—भीड़-भाड़, हंसी-खुशी, रौनक सब होता रहेगा, अब आप सब कुछ दूसरी तरह पैदा कर रही हैं, इट मीन्स दैट यू आन्ट डिटेच्ड।'

'अच्छा, मैं तो भीतर चलती हूं, ज़रा चित्रा को उसकी मेहनत के लिए बधाई दे दूं, आप डॉ० लीना का इण्टरव्यू लीजिए, देखो ये आ गयीं !' डॉ० शुभा दत्ता डॉ० लीना को झुण्ड में शामिल करके चली गयीं तो डॉ० लीना ने कहना आरम्भ किया :

'यह किसने कह दिया, कि आदमी अटेच्ड एक ढंग से ही हो सकता है, और वह ढंग शादी कर लेना ही है। आई हेट दिस सिस्टम !'

'माई गॉड, लीना अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है और शादी का इतने ज़ोरदार शब्दों में विरोध, आखिर क्यों ?'

लीना एक क्षण चुप रही, कुछ आगन्तुक हंसते-खिलखिलाते सामने से निकले जा रहे थे, खड़ी हुई सब महिलाओं ने उनका स्वागत किया और उन्हें भीतर पहुंचने का मार्ग दिखा दिया, लीना टूटा हुआ सूत्र जोड़ती हुई बोली :

'मुझे शादी के सिस्टम में सब्जूगेशन की बू आती है, इसीलिए मुझे यह सिस्टम अच्छा नहीं लगता। वो क्या कहते हैं, यानी पुरुष अपनी पत्नी पर अपना 'बॉसिज़म' दिखाता है।'

'ठीक है, तुम पुरुष के नियन्त्रण में नहीं रहना चाहतीं, यही मतलब है न तुम्हारा ?'

'नियन्त्रण में तो रहना चाहती हूं, पर उसका स्वामित्व सहन नहीं कर सकती। आखिर स्त्री में क्या कमी है, वह तुम्हारे बराबर कमाकर ला सकती है, लाती भी है, तुम्हारे बराबर उसमें भी काम करने की ताक़त है, फिर तुम उसे अपने से नीचा क्यों समझते हो ? क्यों चाहते हो, कि वह किसी न किसी अंश में तुम्हे अपने से बड़ा माने, तुम्हारी जी-हुज़ूरी करेऔर तुम्हारी चाकरी बजाये, दोनों ईक्युअल स्टेटस पर क्यों नहीं रह सकते ? मेरा मतलब हैनपेक्ड हस्बेण्ड्स को अच्छा समझना कमी नहीं है, मेहरबानी से यह समझे रखिए !' लीना ने बड़ी अदा से अपने पीछे लटकते पल्लू को फैनाया और साथ ही अपने होठों को बुरी तरह बिदूर दिया।

कुछ अतिथिगण और पधारे थे, मनीषी उन्हें भीतर तक ले गयी थी

'देखो न, अब सुकेत साहब की एजूकेशन तो पूरी हो चुकी है और उन्हें सर्विस भी मिल चुकी है, तो उत्तरदायित्व से तो तुम्हारी हुई मुक्ति, अब ज़िन्दगी में कुछ नोवल्टी लाने की बात तो सोचो, हो गया तुम्हारा काम पूरा !'

'और काम पूरा कहां हुआ है अभी, सुकेत की शादी भी तो करनी है उन्हें।' डॉ० कुलकर्णी ने कहा।

'हां, यह भी एक काम है, वह भी हो जायेगा, पर अपनी लाइफ़ के बारे में भी सोचना है, आखिर ऐसे कैसे चलेगा। डॉ० लीना इस सिस्टम को बुरा कहती हैं। अपने-अपने व्यूज़ हैं, पर बिना इस सिस्टम के भी आखिर सब कुछ चलता तो उसी तरह है।' डॉ० माण्डेकर मुस्कराईं।

'उस तरह कहां चलता है। इस सिस्टम में वो फ्रीडम कहां है, जो इस सिस्टम को तोड़ देने में है।' लीना फिर चहकी।

'ओफ़्फ़ो वो सब बड़ा गन्दा है, घिनौना; सच्ची शान्ति और आनन्द तुम्हें कहीं नहीं मिल सकता। और सब कुछ अस्थायी है, टैम्प्ररी ! जब तक तुम यंग हो, सब कुछ चलता है, उसके बाद···?' डॉ० माण्डेकर फिर समझाने लगी थीं, पर बात बीच में ही रह गयी, भीतर बड़े कमरे से संगीत की सम्मिलित धुनें उठनी शुरु हो गई थीं—

'अरे चित्रा ने शायद बीट ग्रुप का इन्तज़ाम भी किया है, स्वीट म्यूजिक।' सब भीतर की ओर मुड़ीं, 'चलें देखें, हम सब तो अपनी बातों में इतने खो गये, भीतर बैठते ही शायद इतनी बातें न कर पाते।' भीतर पहुंचकर देखा, करीब-करीब सभी जगहें भर गयी थीं—अरे इतने लोग कब आ गये, लगता है चित्रा भट्टाचार्य के दोस्त ही ज़्यादा हैं—एक आह्लादक उमंगपूर्ण धुन बहुत तेज़ी से संगीत के साथ ऊपर उठी :

कॉंग्रेच्यूलेशन्स एण्ड सैलीब्रेशन

आय वान्ट द वर्ल्ड टु नो, आय एम हैप्पी एज़ कुड बी

मनीषी अपने में गुम हो गयी थी: क्या कह रही थीं माण्डेकर, मुझे अपनी ज़िन्दगी के बारे में सोचना चाहिए, क्या सोचूं ? वे लोग मेरी ज़िन्दगी का इतिहास कहां जानती हैं, कि मैं उस सब के लायक ही नहीं हूं, कि मैंने डॉ० माण्डेकर की राह पर ही क़दम रखा था और क़दम रखते ही···। गले में

किया है। शायद यह उसकी भावुकता ही थी, कि वह एक अजनवी नाते से बंधी बैठी रही, दुनिया में क्या इस तरह के भी कुछ अनाम नाते होते हैं, जो आधारहीन होने पर भी मज़बूती से टिके रहते हैं ? सचमुच वह अपनी भावुकता और सौजन्य से ही छली जाती रही। यदि एकदम निर्मम होकर वह ममता के कठघरे से बाहर छिटक आती, तो कोई उसे कैसे रोक सकता था। इस प्रकार के कई मौके तो उसके सामने आते रहे हैं। एक मौका मिला था उसे, उस समय जब मामा की चिट्ठी आयी थी, वे आकर उसको अपने साथ ले जाना चाहते थे, ख़ुद वहीं आकर रहने लगने का भी उनका एक प्रस्ताव था। उसी समय वह मुक्त क्यों नहीं हो गई ? पर उसने उस सम्बन्ध में भला क्या किया ? सिनेमा की रील की तरह वह दिन उसके सामने खुलता चला—वह अस्पताल से आकर ही बैठी थी, डाकिया रजिस्टर्ड ख़त लिये खड़ा था।

'चिट्ठी सुकेत बाबू के नाम है !'

'मेरे नाम, मैं भी अब इस घर का पुरखा बन गया। मेरे पास रजिस्टर्ड लैटर्स आने लगे, ओह वण्डरफुल !' कह कर सुकेत ने हस्ताक्षर कर लिफ़ाफ़ा ले लिया था, पर जिस उत्साह-ललक से उसने वह लिफ़ाफ़ा लिया था, खोल कर पढ़ने के बाद वह उतना ही हताश हो उठा था।

'आख़िर क्या बात है, किसकी चिट्ठी है, क्या लिखा है ?' गुमसुम हुए ईज़ी चेयर में धंसे सुकेत से उसने झिंझोड़ कर पूछा था।

'मामाजी की चिट्ठी है।' लिखते हैं, बहन की मौत पर हम नहीं आ सके, कुछ मजबूरियां थीं, अब आ रहे हैं। बहनोईजी ने हमसे कुछ रुपया उधार लिया था, हमने अपना फ़र्ज़ समझ कर सब कुछ किया तो अब भी हम जिम्मेदारी से पीछे नही हटेंगे। हम कोई छोटे-मोटे शहर में नहीं रह रहे, तुम्हारी पढ़ाई का पूरा इन्तज़ाम यहां बरेली में ही हो जायेगा।

'कलकत्ते का मकान तुम चाहोगे तो रखा जायेगा या बेच दिया जायेगा जैसा तुम चाहोगे वैसा ही होगा।'

इस तरह का और भी बहुत कुछ लिखा हुआ था—इस समय इतनी भीड़ के बीच में बैठी हुई मनीषी की स्मृति में वह सब धीरे-धीरे आकर धच-कोले खाने लगा।

सीढ़ि

पढ़ कर सुकेत कुछ ज़्यादा नहीं वता सका था, पूरी वात छुटका ने ही वतायी थी—'मामा-ऊमा कोई नहीं हैं, हम इनके पूरे कुटुम्व को जानती हैं। ये तुम्हारी सुपर्णा दी के कोई बुआ के लड़के हैं। वेकार अपनी टांग अड़ाये रहते हैं, समझ रहे हैं डाक्टर साव अकेले थे, कोई उनका नाते-रिस्तेदार नहीं, तो हम ही कव्जा लें सव कुछ। उस वक्त नहीं आये तो अव आने को कौन काम है। कहीं से कुछ सुन सुना लिया होगा, तो लार टपक रही है, तुम विटिया, इन्हें हरगिज़ नहीं आने देना। भइया अव समझदार हुए, इन्हीं से पूछो इनके घर में कभी कोई मामा-ऊमा आकर खड़े हुए? हमने तो इन लोगों के विपत के दिन भी देखे हैं, किसी ने फूटी कौड़ी की भी मदद नहीं की। वहूजी कुछ वसीयत-उसीयत कर गयी होंगी, वकील की पत्री की नकल भिजवा दो, सव चुप्पा हो जायेंगे।'

सुकेत ने भावविभोर दृष्टि से छुटका मां की तरफ़ देखा था।

'काहे को जी छोटा करते हो भइया, भगवान चाहेंगे तो सव ठीक होयगा।' छुटका मां ने सुकेत को समझाया था। सुकेत की करुण मुद्राएं और फिर कुछ देर वाद ही उसका तमतमाया वुलन्द चेहरा देख कर उस दिन उसे आश्चर्य हुआ था। उस दिन पहली वार सुकेत ने उससे सव चीज़ें निकाल कर दिखाने के लिए कहा था—सव चीज़ें निकाली गयी थीं, पढ़ी गयी थीं, उस वसीयतनामे की नकल वनवायी गयी थी, वह नकल उस समय भेजी नहीं गयी थी, पर सुकेत ने एक वड़ा-सा पत्र लिख कर भेजा था, जिसमें सव से मुख्य वात यही थी, कि अव वह समर्थ हो गया है और उसे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है। और फिर सव से अन्त में कि अव वे उस उद्देश्य से आने का कष्ट न करें। उसकी पढ़ाई खूव चल रही है, पढ़ाई समाप्त होने पर वह खुद ही पहुंच कर दर्शन करेगा। पिता के उधार के प्रसंग में वसीयतनामे का हवाला देते हुए और उनके आदेश पर उसे भेज देने की वात लिखते हुए सुकेत ने लिखा था, कि वह पिता के उधार को चुका सकता है, वे पत्र लिखें, कितना कुछ देना है? प्रत्युत्तर में कोई पत्र नहीं आया था।

उस दिन भी वह चुप रह गयी थी, सुकेत ने उससे साफ़ कह दिया था 'मनि मासी, तुम्हें कहीं जाने की ज़रूरत नहीं है। तुम मुझे जितना समझती

हो, उतना कोई नहीं समझता। मां मुझे तुम्हारे ऊपर छोड़कर गयी थीं, तुम मां की बात बार-बार क्यों भूल जाती हो ?'

'ओफ़्फ़ो, आज की इस भौतिकवादी दुनिया में भी वचन का तनिक-सा बन्धन उसे किस बुरी तरह पकड़कर बैठ गया है, उसे आश्चर्य होता है जैसे वह एक मकड़ी का जाला हो, जिसमें से निकलना अब मकड़ी के लिए ही मुश्किल हो गया हो, कैसे बंधती चली गयी वह ? अब उस जाले को तोड़ने का प्रयत्न कर रही है, तो क्या यह सम्भव हो पा रहा है ? उस दिन सुकेत के पत्र डाल देने के बाद भी मामा के पत्र को ही लेकर वह कितने दिन तक न जाने क्या-क्या मथती रही थी : क्या उसके वहां होने से ही ये सब उत्पात हो रहे हैं ? वह न होती तो क्या सुकेत मामा का संरक्षण स्वीकार कर लेता ? शायद यह सम्भव हो ही जाता, आखिर अकेले लड़के को सर-परस्त की ज़रूरत तो होती ही—वह इसके मध्य कहां से आ गयी, क्यों आ गयी ?

इतने दिन से उसने सुकेत के पत्र का जवाब नहीं दिया, नाता तोड़ने का यह भी कोई ढंग है ? जिस दिन पत्र मिला था, तो वह किस तरह घंटों उसमें घुसी बैठी रही थी। अपने पत्र का मसौदा उसने कितनी बार बनाया था, यह लिखूंगी, ऐसे लिखूंगी, दो पूरे पृष्ठ तो उसने लिख भी डाले थे, फिर उन्हें मुचोड़कर फेंक दिया था, इतनी भावुकता में डूबकर लिखने की भला क्या ज़रूरत है, इतनी दूर बैठा लड़का और परेशान हो उठेगा। कुछ दिन बाद ठण्डे मन से नपी-तुली बात लिखना ही उचित है—मन को ठण्डा होने देने के लिए ही वह काफ़ी दिन ख़ामोश रही थी, फिर दो पंक्तियां अपने कुशल-क्षेम की लिखकर भेज दी थीं; एकदम पत्र न पाने पर भी तो लड़का परेशान हो सकता है। पत्र में दूसरा लम्बा पत्र जल्द लिखने का आश्वासन देकर भी उसने आज तक फिर कोई पत्र नहीं लिखा था। सुकेत के पास से भी उसने दूसरा पत्र नहीं पाया था—इसी तरह धीरे-धीरे सुकेत खुद को नयी तरह ढालने में समर्थ हो जायेगा और उसे छुट्टी मिल जायेगी।

छुट्टी वह चाह ही क्यों रही है ? क्या सिर्फ़ मामा के कारण ही ? इस कारण तो उसे सुकेत को और भी नहीं छोड़ना है—इसी प्रकार तो नाते-

रिश्तेदार नाबालिग बच्चे की माल-जायदाद को हड़प लेते हैं और बच्चे को ज़िन्दगी भर भटकने के लिए छोड़ देते हैं। सुपर्णा दी ने उसे इस सम्बन्ध में पहले ही सचेत कर दिया है। वैसे भी उसे यहां क्या दुःख है ? आराम से अकेली फैले-फूटे घर में रह रही है, एक बड़ी-बूढ़ी स्नेहिल स्त्री उसका अभिभावकत्व संभाले हुए है, वह जैसे चाहे, रहे-बसे, उसे कोई बाधा देने वाला नहीं है, तब ? सुकेत उसे क्यों बोझ लगने लगा है ? बोझ कहां ? बोझ ही तो नहीं है सुकेत ? सुकेत···। और गले को जैसे फिर किसी ने भीतर ही भीतर जकड़ लिया हो, आंखों में आंसू उमड़ने-उमड़ने को हुए, अपनी भावुकता पर उसे फिर झुंझलाहट आयी, तभी बीट ग्रुप का संगीत थम गया—तालियों से पूरा वातावरण गड़बड़ा उठा—इतनी देर उसके चारों ओर जो संगीत मन्थर गति से अलग-थलग बह रहा था, उसे किसी ने भी नहीं देखा।

पार्टी के लिए सब लोग पिछले लॉन में पहुंचने लगे थे, जहां बिजली के प्रकाश की व्यवस्था थी, मेजें सजी हुई थीं और बैरे इधर से उधर दौड़ रहे थे। डॉ० चित्रा भट्टाचार्य और डॉ० शुभा दत्ता वहां खुद आमन्त्रित अतिथियों से आपस में एक-दूसरे का परिचय करवाने में व्यस्त थीं—

'डॉ० कश्यप, माई ओल्ड क्लासफ़ैलो, नाउ ऐट चण्डीगढ़ पी० जी० आई हॉस्पिटल वेरीकेपेबल एण्ड रिनाउन्ड डॉक्टर। छुट्टी पर आये हैं, कुछ दिन ठहरेंगे। ठीक परिचय दिया है मैंने ?' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने डॉ० कश्यप की ओर देखकर मुस्कराते हुए पूछा था। आकर्षक और सम्भ्रान्त वेशभूषा में अत्यन्त स्मार्ट व्यक्तित्व वाले डॉ० कश्यप ने प्रत्युत्तर में हल्के से मुस्करा कर चित्रा भट्टाचार्य के शब्दों का स्वागत किया था। अपने साथ की अन्य डॉक्टरों का परिचय चित्रा भट्टाचार्य ने अलग-अलग आरम्भ किया। मनीषी का परिचय करवाने लगी, तो वह संकुचित हो उठी, बाद में उसे पश्चात्ताप हुआ—इतनी पढ़ी-लिखी, पेशे से डॉक्टर और कामकाजी महिला होकर उसे घरू औरतों की तरह झेंपू बनने की क्या ज़रूरत थी, क्या कहते होंगे डॉ० कश्यप ! वह सोच ही रही थी कि डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने दूसरा परिचय आरम्भ किया :

'आप हैं मिस्टर जोसेफ़, यहां पोलेटिकल इन्स्टीट्यूट के इन्चार्ज बन

कर आये हैं। आप हैं मिस्टर घोष और मिसेज़ घोष, टाउन के वेलनोन इन्जीनियर, वो उधर हैं मिस झुनझुनवाला, यहां के गर्ल्स कॉलेज की प्रिंसिपल, आप हैं मिस्टर तेजवानी और मिसेज़ तेजवानी···। शुभा दत्ता कुछ अतिथियों का दूसरी ओर खड़ी परिचय करवा रही थीं। मनीषी ने प्रत्युत्तर में न जाने कितनी बार हाथ जोड़े होंगे, मुस्कराकर देखा होगा, मन में सोच रही थी : कब खत्म होगा यह व्यर्थ का तांता, अच्छी मुसीबत है। दूसरे सब लोग कितने खुश हैं, जैसे हर व्यक्ति परिचय के साथ ही उनका अपना बनता चला जा रहा है, एक वह है, जैसे परिचय की समाप्ति के साथ ही उसने उस व्यक्ति से हमेशा के लिए विदा ले ली हो। इतनी अन्तर्मुखी प्रकृति वाले व्यक्ति का तो इस पेशे में आने का कोई मतलब ही नहीं था। ओह ! तभी डॉ० कुलकर्णी उससे कहती रहती हैं, 'मिस इन्द्रजीत, यू आर मोस्ट अनसोशल बीइंग !'

परिचय के साथ-साथ ही खाना-पीना चलता रहा, पार्टी के बाद आतिशबाज़ी का कार्यक्रम था। लोग बड़ी रुचि से हर चीज़ में हिस्सा ले रहे थे, डॉ० माण्डेकर और डॉ० कुलकर्णी दोनों ही सीनियर डॉक्टर बच्चों की तरह किलक रही थीं। आतिशबाज़ी के कार्यक्रम के लिए लोग खाना खाने के बाद गोलाकार एकत्रित हो गये थे, सामने छुटते अनार की फुलझड़ियां बहुत ऊंचे तक आसमान को रंगीन बनाती चली जा रही थीं। दर्शक प्रायः आगे की कतार में निकलने की कोशिश कर रहे थे, मनीषी पीछे होती चली जा रही थी। इतनी देर तक घर से बाहर रहना अब उसे अच्छा नहीं लग रहा था। सुकेत होता तो कभी उसे इतनी देर इस प्रकार बाहर रहने की इजाज़त नहीं देता। अचानक उसने अपने पीछे कुछ सरसराहट सी अनुभव की, गर्दन मोड़कर देखा, डॉ० कश्यप सिगार थामे खड़े थे। वह कुछ संकुचित हो उठी, लगा वे बहुत पहले से खड़े थे। उसने अभी तक ध्यान ही नहीं दिया था, अब देखा तो बोले, 'होप यू आर एन्जोइंग।'

'ओह यस !' उसने संकुचित होते हुए कहा, उसे हैरानी हो रही थी, डॉ० कश्यप ने खड़े होने के लिए वही जगह क्यों चुनी ?

'आप आगे आएंगे ?', उसने धीरे से पूछा।

'नो-नो, आय एम क्वाइट कम्फ़र्टेबिल हियर।' सिगार में से धुआं छोड़ते हुए डॉ० कश्यप ने कहा। वह फिर तटस्थ हो गयी, सामने की ओर वह फिर ध्यानपूर्वक देखने का नाट्य करने लगी। अपने प्रति डॉ० कश्यप का रुचि लेना उसे अच्छा लगा। वह पीछे नहीं देख रही थी, पर पीठ पीछे खड़े डॉ० कश्यप की आकृति, उसके सामने थी—क्लीन शेव्ड चेहरा, ऊंची उठी हुई नासिका, छोटी किन्तु पैनी चमकदार आंखें, घुंघराले बाल, सूट में आवेष्टित चौड़ा मज़बूत वक्ष, लम्बी मजबूत बांहें, चौड़े-चौड़े हाथ और उंगलियों में उलझा हुआ सिगार, जो उनके सटे हुए से ओठों के साथ जुड़ा था—उसकी आंखें जैसे इस समय पीछे की ओर हों, वह सिकुड़ी-सिमटी डॉ० सीमा बोस से चिपटी खड़ी थी।

'डॉ० बोस, इट्ज़ टू लेट!' वह थोड़ी देर बाद बुदबुदाई।

'आप क्यों चिन्ता करती हैं? कलकत्ते का चप्पा-चप्पा मेरा देखा हुआ है, आप सब को मैं गाड़ी में छोड़ कर आऊंगा।' शायद डॉ० कश्यप ने सुन लिया था।

'नहीं, वह कुछ नहीं।' मनीषी बुरी तरह झेंप गयी।

'सर्दी काफ़ी तेज़ हो गयी है, इज़िन्ट इट?'

'नहीं-नहीं, वह कुछ नहीं।'

'शिमला में तो इसके मुकाबले इतनी कड़ी सर्दी पड़ती है कि···। बाइ द वे हैव यू एवर बीन टु शिमला?' वाक्य को बीच में ही तोड़ते हुए डॉ० कश्यप ने पूछा।

'नहीं, मुझे अफसोस है, आय विश आय कुड!' मनीषी ने किसी प्रकार कहा।

'तब चण्डीगढ़ आइये, सब मिलकर प्रोग्राम बनाइये, वहां से सब शिमला चलेंगे। तय कर लेंगी तो कुछ भी मुश्किल नहीं होगा।' डॉ० कश्यप एक सांस में कहते रहे।

'जी!'

'वहां आप इतने सुन्दर दृश्य देखेंगी, कि लौटकर आना नहीं चाहेंगी। यू शैल फ़ॉरगेट केलकटा! इट्ज़ ऑल वेरी लवली।' डॉ० कश्यप ने लम्बा कश लिया। हवाई और चकई हवा में सुर्र की आवाज़ करते हुए बहुत दूर

चली जा रही थीं, आसमान लाल-लाल घेरों से रंगता चला जा रहा था। डॉ० कश्यप ने अपने अमेरिका प्रवास के बारे में बताना आरम्भ कर दिया था। क्लीवलैण्ड में जिस हॉस्पिटल में हम ट्रेनिंग ले रहे थे, उसे कोई एक बार देख ले बस···। हम लोग शाम को झील पर चले जाते थे, हॉस्पिटल की कांच की खिड़कियों से दूर झिलझिलाता पानी इतना खूबसूरत लगता था···।' इधर-उधर वाक्य जोड़ते-तोड़ते वे बारी-बारी से वहां की धुन्ध-ठण्ड-क्लब-रेस्त्रॉं-झीलें-बाज़ार इत्यादि का विस्तृत ब्योरा देने लगे थे। कुछ लोग बीच में ट्विस्ट कर रहे थे। डॉ० कश्यप का भाषण जारी था; सुनना और सुन कर उसमें रस लेना आवश्यक हो गया था।

'अब यह काफ़ी हो चुका, इट शुड कम टु स्टॉप नाउ!' डॉ० कश्यप का स्वर धीमा होता चला जा रहा था—लगभग फुसफुसाता-सा, जैसे कोई बहुत पास आता चला जा रहा हो।

डॉ० कश्यप ने अपने वायदे के अनुसार सबको अपने-अपने स्थान पर छोड़ा, विदा लेते समय मनीषी ने गाड़ी से उतर कर डॉ० कश्यप को धन्यवाद देते हुए कहा, 'आइये किसी दिन!' आमन्त्रण मात्र औपचारिक था, पर गेट बन्द कर मुड़ते हुए उसे भय लगा, कहीं सचमुच डॉ० कश्यप आ ही न जायें।

कमरे में आकर वह कुछ देर बिना कपड़े बदले हुए ही ड्रेसिंग टेबिल के सामने खड़ी रही। जाते समय शायद उसने खुद को उस दृष्टि से नहीं देखा था, कुछ जल्दी में थी, कुछ मन इधर-उधर भटक रहा था, इस समय देखने लगी तो अपने सम्बन्ध में कहे गये बहुत से रिमार्क उसके कानों में इस समय फिर गूंजने लगे। डॉ० चित्रा भट्टाचार्य का अपनत्व भरा स्वर, 'यू आर लुकिंग वेरी चार्मिंग टुडे।' और फिर डॉ० माण्डेकर और डॉ० कुलकर्णी के रिमार्क···। सचमुच कौन कह सकता है, कि उसकी उम्र बत्तीस बरस है। कन्धे से साड़ी का पल्लू नीचे ज़मीन तक गिराते हुए उसकी दृष्टि अपने वक्ष पर केन्द्रित हो गयी, खुले गले के ब्लाउज़ में से सफ़ेद मोतियों की माला चमचमा उठी, कानों में सफेद ही कर्णफूल थे और जूड़े

में एक बड़ा-सा सफ़ेद गुलाब—इतनी-सी ही सज्जा ने उसे आकर्षक बना दिया था, डॉ० कश्यप भी क्या उसके प्रति इसीलिए आकृष्ट हुए थे? साड़ी उतार कर उसने नाइट गाउन पहन लिया, पर जूड़े का गुलाब यों ही खुंसा रहा। रात को जूड़े के साथ वह कैसे सोयेगी, चुभेगा नहीं? उसने सफेद गुलाब जूड़े में से निकाल कर सामने रखे फूलदान में लगा दिया और उसे देर तक देखती रही!

डॉ० कश्यप भी क्या थे! जूड़े को खोल कर बाल उसने पीठ पर छितरा लिये, फिर तमाम बालों की एक वेणी बना मुंह-हाथ धोकर वह बिस्तर पर लेट गयी। डॉ० कश्यप कब उसके पीछे आकर खड़े हो गये होंगे, वह सोचने लगी और एक हल्की-हल्की सिहरन उसे गुदगुदाने लगी।

'शिमला पहुंच कर यू शैल फ़ॉरगेट केलकटा! तय कर लेंगी तो कुछ मुश्किल नहीं होगा!' खाने की टेबिल के पास खड़े डॉ० कश्यप काफी अच्छे दिख रहे थे, सिविल सर्जन डॉ० बालेन्दु चटर्जी से भी कहीं दबंग ऊंचे परिष्कृत स्मार्ट—डॉ० कश्यप ने उसे उस समय भी कनखियों से देखा था, वह आंखें बचा गयी थी। आमने-सामने आंखें मिला कर देखना उसे अच्छा नहीं लगता, शायद डॉ० कश्यप को भी न लगता हो। बैरा सर्व करने आया था, तो कैसे धीरे से उन्होंने कहा था, 'लेडीज़ फ़स्र्ट!' और उसकी तरफ़ चुपके से संकेत कर दिया था, डॉ० कश्यप गम्भीर होते हुए भी उतने सीधे नहीं हैं, जितने वे दिखते हैं। सच, कहीं कल सचमुच आ गये तो? क्या बेकार की तबालत मोल ले ली उसने भी! डॉ० कश्यप को तो वह सचमुच आमन्त्रित नहीं करना चाहती थी, इतने बातूनी आदमी से वह क्या बात करेगी? सब के सामने फिर उसकी भद्द पिटेगी! ओह, सब को भी वह कहां बुलाना चाहती है, वह तोएकान्त चाहती है—एकदम खाली पड़े रहना और सोचते रहना, हृदय में कुछ फिर लहराया, उसे यह मीठी-मीठी हाल अच्छी लगी, बत्ती बुझा देने पर उस काले अन्धकार में अनार, चकई, हवाई सब फिर छूटते रहे, ऊंचे और ऊंचे पहुंच कर आसमान को रंगते रहे।

तेरह

आज अस्पताल में पहुंच कर मनीषी ने डॉ० चित्रा भट्टाचार्य को बधाई दी, 'फंक्शन सचमुच बहुत सफल रहा तुमने भी गज़ब की मेहनत कर डाली, भट्टाचार्य ! आनन्द आ गया।'

'और डॉ० कश्यप कैसे लगे ?' डॉ० भट्टाचार्य ने छूटते ही पूछा।

'डॉ० कश्यप, ओह, यस ही इज़ अ परफ़ेक्ट जेन्टलमैन। क्यों, तुम इस तरह क्यों पूछ रही हो ?' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य के मुंहफटपन पर उसे आश्चर्य और झेंप दोनों हुई।

'भई, मैं क्या जानूं, वही तुम्हारी तारीफ़ किये जा रहे थे।'

'सच !' मनीषी के गले में कुछ अटका, गाल गुलाबी होने-होने को थे, बड़े प्रयत्न से उसने अपने को स्वाभाविक बनाते हुए कहा, जैसे डॉ० कश्यप की टिप्पणी ने उसे छुआ ही न हो, फिर कुछ गम्भीर बनती हुई बोली, 'आज तुम उन्हें लेकर आ रही हो न ?' फिर वही बेवकूफ़ी, उसे अपने पर गुस्सा आया, पर कुछ कहना भी ज़रूरी ही था। डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने बड़े स्नेह से उसे देखते हुए कहा, 'डार्लिंग, नाट टूडे। आज तो मैं बहुत थकी हुई हूं बहीन।' और फिर कुछ बनावटी ढंग से खांसते हुए बोली, 'इन्तज़ार का फल मीठा होता है !' मनीषी चित्रा भट्टाचार्य की नज़र बचा गयी।

मनीषी ने चैन की सांस ली। सवेरे से आंख खुलने के समय से ही वह शाम की तैयारी करने के लिए चिन्तित थी। एक बड़ा बोझ सिर से उतर गया, पर जब वह वार्ड में पहुंच कर मरीज़ों को देखने लगी, उससे उनकी बीमारी के बारे में बातचीत करने लगी, तो डा० चित्रा भट्टाचार्य के न आने की बात को लेकर हृदय में कांटा-सा गड़ने लगा, क्या बुरा था अगर डा० भट्टाचार्य आज आ ही जातीं ! किसी ने मन में कहा, 'डा० भट्टाचार्य या डा० कश्यप ?' ऊंह-ऊंह, हुं ! सिर झटक कर उसने वह सब कुछ भुला देना चाहा, लग रहा था, उसके हृदय में एक बड़ा वेक्यूम बनता चला जा रहा है।

...व्यर्थ की बातें, क्या हो गया है उसे भी, व्यर्थ की चीज़ों को लेकर

है। यों सामान्यतः मैं ठीक ही हूं—शाम को करीव पांच-छह वजे तक ऑफ़िस से लौटता हूं, उधर से ही जो कुछ सम्भव होता है, खा-पी आता हूं, घर पर जाकर फिर कम से कम खाना खाने के लिए वाहर नहीं निकलता। धुंधलका हो जाने पर सिर्फ़ घूमने निकलता हूं, कुछ देर तक पार्क में टहलता हूं, फिर मोती झील के किनारे आ वैठता हूं, वहुत देर तक पानी की छाती पर आसमान के झिलमिलाते सितारों को देखता रहता हूं, पानी में तारों का प्रतिविम्व मुझे अच्छा लगता है। हैलेट हॉस्पिटल यहां से पास ही है, तो फिर न चाहने पर भी वहुत कुछ तुम्हारे अस्पताल के वारे में सोचने लगता हूं, कभी सोचता हूं, तुम्हें इस अस्पताल में जगह मिल जाये तो कैसा रहे, पर तुम शायद इधर न आना चाहो। तुम्हें मैं वहां बहुत सताता था न? वहुत वन्धन रखता था, देर से आने पर कितना कुछ कहता था—याद है न मनि वह सव तुम्हें? तुम्हें उस सव से छुटकारा मिल गया, तुम खुश हो न?

अगले महीने शायद मैं दो-चार दिन के लिए आऊं—यहां की ज़िन्दगी कैसी है, उस सव के सम्वन्ध में अभी कुछ नहीं लिखूंगा, आया तो मैं खुद ही हूं, शिकायत किससे करूं।

पत्र तुरन्त देना, मैं प्रतीक्षा कर रहा हूं।

तुम्हारा ही
सुकेत

मनीषी ने पत्र पढ़ कर मेज़ पर छोड़ दिया, कुछ देर पन्ने यों ही फर्र-फर्र उड़ते रहे: सुकेत क्या सचमुच दुःखी है? वह क्या सचमुच यहां के वारे में इतना सोचता है? क्या वह सचमुच मेरे वहां पहुंच जाने के सपने रखता है? मैं वहां चली जाऊंगी तो वहां भी क्या ज़िन्दगी का ढर्रा उसी प्रकार चलने लगेगा, उसी प्रकार कैसे? यहां तो कुछ देर पढ़ कर सुकेत वापिस घर आ जाता था, ज़्यादा से ज़्यादा किसी अपने मित्र के यहां चला गया, वहां तो सुवह नौ वजे जाकर शाम को छह वजे ही लौटेगा, मनि के लिए प्रतीक्षा करने की फ़ुर्सत ही उसे कहां मिलेगी? और जैसे वह खुद उसकी प्रतीक्षा में ही वैठी रहेगी? उसका पूरा समय तो अस्पताल में ही वीतेगा, यहां तो कुछ सुविधाएं भी मिल गयी थीं। फिर भी सुवह-शाम आते-जाते तो वह सुकेत को देख सकेगी, यहां के समान ही उसकी चिन्ता

कर सकेगी। लिख दिया, खाने-पीने की चिन्ता न की जाये, यह भी हो सकता है ? तुमने लिख दिया और यहां वैसा ही होने लगा।

···मोती झील के पानी में इतनी देर तक सितारे देखता हुआ वह सोचता होगा ? मुझे ब्रूड करने के लिए मना करता है, खुद जो ब्रूड करता रहता है ! इस तरह कैसे चलेगा ? मुझे वहां बुला रहा है, काश, ऐसा हो सकता ! क्या बुराई है, शायद वहां जगह मिल ही जाये, हृदय में एक हल्की गुदगुदाहट जगी, फिर आकस्मिक धक्का—

'क्या हो जाता है तुझे भी ! यहां उससे दूर भागकर अस्पताल में जाकर रहने की बात सोचती थी और अब खुद वहीं भाग कर जाना चाहती है। छि: छि: ! रहने दोअकेला, ज़िन्दगी में क़दम-क़दम पर मुश्किलें आयेंगी, आख़िर उन सब का सामना उसे अकेले ही तो करना है। मैं क्या···?'

तभी छुटका मां उसके सामने आकर खड़ी हो गयी। बोली, 'बिटिया, बाहर कुछ लोग खड़े हैं, आज तो तुमने लौट कर कुछ खाया-पीया भी नहीं है !'

'कौन हैं ?' मनीषी ने ड्रॉइंगरूम की खिड़की से झांक कर देखा, गेट के पास से डॉ० चित्रा भट्टाचार्य डॉ० कश्यप के साथ धीरे-धीरे चलती चली आ रही थीं। 'अरे, डॉ० कश्यप !' हृदय में एक बड़ी हाल-सी जगी और एक हल्की-सी चीख उसके मुंह से निकल पड़ी। जल्दी-जल्दी वह खुले बालों को जूड़े के रूप में संभालती हुई बाहर आ गयी।

'अरे चित्रा, तुम !'

'तुम्हें सचमुच ताज्जुब होगा, मैंने सवेरे मना कर दिया था न ! अब इन्हीं से पूछो !' डॉ० कश्यप की तरफ़ मुंह करके चित्रा भट्टाचार्य ने कहा, यही महाशय मुझे घसीटकर लाये हैं। कहने लगे, मुझे तो मिलना ही है।

'नहीं, मिस इन्द्रजीत, इन्हें सीधी बात कहना नहीं आ रहा।' चित्रा भट्टाचार्य को बीच में ही रोकते हुए डॉ० कश्यप ने कहना आरम्भ किया, 'एक तो मैंने आप से वायदा किया था कि आऊंगा, दूसरे मुझे दो-एक दिन में ही शायद वापिस जाना पड़ जाय और तीसरी और आखिरी बात यह है, कि मुझे आपसे मिलना ज़रूरी था···।

'देखो, अब आ गये न अपनी सही बात पर। मैं भी तो यही कह

रही थी।'

'आप मेरी पूरी बात सुनेंगी भी या यूं ही···।'

'ओफ़्फ़ो, आप लोग भीतर आइए न, भीतर बैठकर बात कीजिए!' चेहरे पर हल्की झेंप लिये हुए मनीषी ने दोनों को भीतर आमन्त्रित किया।

'मनीषी, तुम तो थकी ही होगी, क्योंकि अभी अस्पताल से लौटी हो, तुम्हारे चेहरे से दिख रहा है, पर मैं भी कम थकी हुई नहीं हूं।' सोफ़े में धंसते हुए चित्रा भट्टाचार्य ने कहा। डॉ० कश्यप पास की कुर्सी पर बैठे।

'आप इधर आराम से बैठें।' मनीषी ने डॉ० कश्यप को डनलप की गद्दी वाली कुर्सी की ओर संकेत किया। उसे ध्यान आया, डॉ० कश्यप ने उसे मिस इन्द्रजीत के नाम से सम्बोधित किया था, यह सब उन्हें किसने बताया? और वे यह सब जानने के लिए उत्सुक ही क्यों हुए? डॉ० कश्यप सामने दीवार पर लगा डॉ० द्विवेदी का फ्रेम किया हुआ बड़ा फोटो देख रहे थे।

'यह फोटो डॉ० द्विवेदी का ही है न!' सहसा डॉ० कश्यप ने पूछा।

'जी यही है।' जवाब चित्रा भट्टाचार्य ने दिया, फिर जोड़ा 'कहिए!'

'और यह फोटो?' अब डॉ० कश्यप की दृष्टि सुकेत के फोटो पर थी। मनीषी के हृदय में कुछ सिहरा।

'ये उन्हीं के साहबजादे हैं, मिस्टर सुकेत। आजकल कानपुर में डी० आर० एल० एम० में काम कर रहे हैं। मैंने आपको बताया था, पर आपको कुछ याद नहीं रहता।' चित्रा भट्टाचार्य कहती हुई स्वयं अत्यन्त गम्भीर होकर सामने लगी तस्वीरों को देखने लगीं। मनीषी मन ही मन कांपी, क्या-क्या बता दिया है भट्टाचार्य ने? दोनों के चेहरों को वह शंकित होकर देखने लगी, देखती रही। थोड़ी देर ठिठककर चित्रा भट्टाचार्य ने कहा, 'हां तो मनीषी!'

'यस मिस इन्द्रजीत!' सामने की कुर्सी पर बैठे डॉ० कश्यप ने भी मनीषी की ओर घूरते हुए सम्बोधित किया। मनीषी सकपका गयी, बोली, 'मैं अभी आयी, आप लोगों के लिए कुछ चाय-वाय का इन्तज़ाम तो कर आऊं!'

'ओह, यस।' पर हमने तुम्हें इसलिए नहीं पुकारा था।'

'ठहरिए, अभी आयी।' और मनीषी बिना कुछ कहे-सुने तुरन्त कम से बाहर निकल गयी।

'हाउ स्वीट ऑफ़ यू ! शी इज़ रियली अ चार्म···।' चित्रा भट्टाचा ने पीठ पीछे मुस्कराते हुए कहा।

'तुम इन्हें कब से जानती हो ?' डा० कश्यप ने पूछा।

'कब से क्या, जब से ये हॉस्पिटल में आयी हैं तभी से। शी इज़ वेरं ऑनेस्ट एण्ड इन्नोसेण्ट गर्ल।'

'हुं !' तभी मनीषी ने ट्रे में स्कॉच के छोटे-छोटे गिलास लिये हु प्रवेश किया।

'पहले ये कोल्ड लीजिए, चाय हम लोग थोड़ा ठहर कर पियेंगे।'

'बैठिए, बैठिए, इस सब की कोई जल्दी नहीं थी।' डॉ० कश्यप ने ट्रे से कांच का गिलास उठाते हुए कहा।

'तुम भी लो मनीषी, बहुत थकी लग रही हो !' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने डॉ० कश्यप जैसे स्वर में अफ़सोस व्यक्त करते हुए जोड़ा, हम लोगों ने तुम्हें बहुत बुरे समय डिस्टर्ब किया।'

'ओफ़्फो, इतनी फार्मेलिटी और मुझसे ! आप नहीं जान सकतीं, आप लोगों को देख कर मुझे कितनी खुशी हो रही है।'

'चलो, तब ठीक है।' चित्रा भट्टाचार्य ने शीतल पेय को ओठों से लगाते हुए कहा।

'हां तो मिस इन्द्रजीत, मैं तो दरअसल आपको चण्डीगढ़ इन्वाइट करने आया था।'

'मुझे !' मनीषी ने आश्चर्य व्यक्त किया।

'हां, इन सब मे भी मैंने कहा है, ये भी आयेंगी। डॉ० कश्यप ने मानो चित्रा भट्टाचार्य को ही अस्पताल की सब डॉक्टरों का प्रतिनिधि मान लिया हो।

'हमें क्या रुचि है, हम क्यों आयेंगी ?' चित्रा भट्टाचार्य ने पेय समाप्त कर गिलास को सामने सेन्ट्रल टेबिल पर रखते हुए कहा। मनीषी भी प्रश्नात्मक मुद्रा में डॉ० कश्यप की ओर देखती रही।

'आपको क्या इन्ट्रेस्ट हो सकता है ?' डॉ० कश्यप विचारपूर्ण मुद्रा में कुछ क्षण खिड़की के पार लॉन में देखते रहे, फिर बोले, 'देखिए आपके इन्ट्रेस्ट की चीज़ एक तो वहां पी० जी० आई० हॉस्पिटल है, जहां मैं हूं। यह हॉस्पिटल आपके देखने की चीज़ है, दिल्ली के सफ़दरजंग मेडिकल इन्स्टीट्यूट की टक्कर का है—यह तो हुई आपके इन्ट्रेस्ट की बात, अब रही मेरे इन्ट्रेस्ट की बात, वह यह है, कि मुझे आप सब की मेहमानदारी का मौका मिलेगा। आप चाहेंगी, तो आपको चण्डीगढ़ के क़रीब की दूसरी दर्शनीय चीज़ें भी दिखाई जा सकती हैं, वैसे चण्डीगढ़ खुद अपने में एक दर्शनीय जगह है। डॉ० कश्यप सहसा रुक गये, फिर कुछ सुनने जैसी मुद्रा में बैठ कर कर उन्होंने लाइटर बाहर निकाला, सिगार जलाने से पहले क्षण भर को देखा तो भट्टाचार्य ही बोलीं :

'हमें कोई आपत्ति नहीं है, आप बखुशी अपना शौक फरमा सकते हैं। क्यों मनीषी, ठीक है न ?'

'भई, घर मनीषी का है और इजाजत मैं दे रही हूं। यह खूब रही।' कहकर डॉ० चित्रा भट्टाचार्य खुद ही झेंप गयीं, तो मनीषी ने उसे उबारा, 'कैसी बात करती हो ! आपको पूरा अधिकार है।'

'ओह, थैंक्यू !' चित्रा भट्टाचार्य ने अर्थपूर्ण दृष्टि से डॉ० कश्यप की ओर देखा, डॉ० कश्यप ने मुस्कराते हुए सिगार ओठों से लगा लिया।

छुटका मां चाय रखने आयी, तो सब खामोश थे। छुटका मां के जाने के बाद मनीषी ने चाय प्यालों में ढालनी शुरू की, नाश्ते की प्लेटों को व्यवस्थित किया और दोनों को सम्बोधित करती हुई बोली, 'लीजिए।'

'देखिए, कहने के लिए हम लोगों का पेशा बहुत पॉयस है, हमें अपनी ड्यूटी के प्रति वफ़ादार रहना चाहिए वग़ैरा-वग़ैरा। जो लोग अपना काम मुस्तैदी और ईमानदारी से करते हैं उनके लिए मेरे मन में जगह भी बहुत है।' कुछ थोड़ा ठिठकते हुए डॉ० कश्यप ने कहा, 'पर मुझे लगता है, आपने अपने पेशे को ज़रूरत से ज्यादा गम्भीरता से ले लिया है।' मनीषी को बड़ी बारीकी से घूरते हुए डॉ० कश्यप ने कहा।

मनीषी चौंकी, वह सब के सामने प्लेटें व्यवस्थित करने के बाद अब चाय अपने प्याले में ढाल रही थी, डॉ० कश्यप का यह वाक्य किसके लिए है, वह एकाएक समझ नहीं पायी, डॉ० कश्यप की तरफ़ देखा तो वे उसकी ही तरफ़ देख रहे थे।

'मैं आपसे ही कह रहा हूं।' डॉ० कश्यप ने दृष्टि मिलाते हुए कहा।

मनीषी झेंप गयी। बोली, 'क्यों, मुझसे ही क्यों?'

'अब अपना-अपना अन्दाज़ ही तो है, आप यह कह दीजिए कि मेरा अन्दाज़ ग़लत है, आप अपने पेशे के प्रति, अपने कर्तव्य के प्रति ईमानदार नहीं हैं?' सिगार एक तरफ़ रख चाय का प्याला थामते हुए डा० कश्यप उत्तर सुनने के लिए बहुत गम्भीर हो गये, जैसे उन्होंने एक बहुत बड़ी बाज़ी लगा रखी हो, और अब वे उसका परिणाम निकलने की प्रतीक्षा में हों।

'यह तो कोई भी नहीं कह सकता, यहां तक कि जो व्यक्ति सचमुच बेईमान है, वह भी खुले आम यह नहीं कहेगा।'

'माने आप बेईमान नहीं हैं, आपने अभी खुद तसलीम किया है, मेरा मतलब यही है।' डॉ० कश्यप मुस्कराये, जैसे हारते-हारते अन्तिम बिन्दु पर वे अपनी बाज़ी जीत गये हों।

'मेरे खुद के तसलीम करने से क्या होता है! व्यक्ति खुद अपनी कितनी भी डींग हांक ले, उससे क्या फ़र्क पड़ता है, बात तो तब है जब दूसरे लोग उसकी तारीफ़ करें।'

'आप ठीक कह रही हैं, मेरा खुद का अन्दाज तो था ही, दूसरे लोगों से भी मुझे यही रिपोर्ट मिली है, कि आप बेइन्तहा मेहनत करती हैं।'

'मेहनत करना क्या बुरा होता है, मैं तो मेहनत से ही आज तक बची हूं।'

'यही मैं आपको समझाना चाहता हूं, कि आप मेहनत करें, ईमानदारी से अपना काम भी करें, पर सब कुछ अपनी तन्दुरुस्ती को देख कर। उस हालत में कई बार आपको अपने काम की उपेक्षा भी करनी पड़ सकती है।'

'काम की उपेक्षा, यानी? मैं समझी नहीं?' सन्देहास्पद प्रश्नात्मक

मुद्रा में मनीषी ने कहा, उसकी आंखों की भौंहें काफ़ी ऊंची चढ़ गयी थीं।

'बहुत सीधी सी बात है, आपके लंच का समय हो, डिनर का या रैस्ट का, मरीज़ों का वश चले तो आपको चौबीसों घण्टे डोर में कसे बैठे रहें, अब आप भी अगर उनसे उलझे रहें तो फिर सब कुछ चौपट हो जायेगा या नहीं ? आखिर आप भी इन्सान हैं, आपकी भी कुछ भावनाएं, कुछ इच्छाएं, कुछ आपके पर्सनल काम हो सकते हैं, बहरहाल आप पूरे समय मरीज़ों से वास्ता नहीं रख सकते। आपको अपनी इच्छा के सामने उनको भूलना होगा। अपने मन को समझा लेना पड़ेगा कि...'

'कि हमारा फ़र्ज़ इस समय उस मरीज़ को देखना नहीं है, पड़ा है तो पड़ा रहे, मरता है तो मरे, यही न ! लेबर रूम में एक औरत पड़ी तड़प रही है, लेकिन हमारे लंच का समय हो गया है, तो उसे ठहरना होगा, क्योंकि यह हमारे लंच का समय है, यही न ?'

'बिल्कुल यही। समझदार डाक्टर जब अपना ख्याल रखता है, तो उसे मरीज़ों के लिए जीना भी तो है।'

'ठीक है, आपके सिद्धान्त अलग हो सकते हैं, पर आप चाहे कितनी गोल-मोल भाषा में बात करें, मैं आपके साथ सहमत नहीं हो सकती। अ पेशेन्ट शुड नाट डाइ एट द कास्ट आफ़ अ डाक्टर।' मनीषी का चेहरा तमतमा उठा था। अभी तक नाज़ुक सौम्य-सी दिखने वाली मनीषी का रूप इस समय दूसरा ही था, उसमें एक सजग-चेतन-दायित्वपूर्ण अपने मरीज़ों के लिए चिन्तित लेडी डाक्टर स्पष्ट दिखने लगी थी।

'मनीषी को आप नहीं बदल सकते, किसी भी हालत में नहीं !' इतनी देर से चुप बैठी चित्रा भट्टाचार्य बड़े भरे कण्ठ से बोलीं।' आपको मालूम होना चाहिए, सिविल सर्जन भी डॉ० मिस इन्द्रजीत का ही सबसे ज्यादा विश्वास करते हैं।' उन्होंने डॉ० कश्यप को सम्बोधित किया।

'ओह !'

'उनका कहना है, मिस इन्द्रजीत कैन नेवर बी केयरलेस।'

'चित्रा, तुम बेकार चढ़ाने वाली बात तो करो मत !' मनीषी अपने में फिर लौट आयी थी, तनी हुई मुखमुद्राएं कोमल हो उठी थीं, तमाम शिराओं से खिंच आया खून फिर गुलाबी आभा में परिवर्तित हो गया था।

एक छोटी बच्ची की तरह अत्यन्त भोलेपन से वह मुस्करा रही थी जैसे डॉक्टरी और शल्यचिकित्सा जैसी चीज़ों से उसका कभी कोई वास्ता न रहा हो।

'आप लोगों ने तो कुछ लिया ही नहीं।' एक घरू तरुणी आतिथेय की तरह वह प्लेटों को उठा-उठाकर बारी-बारी से दोनों के सामने बढ़ा रही थी।

'वह सब सही है। ऐसा तो नहीं है, कि मैं कुछ समझता ही नहीं हूं,' प्लेट के किनारे से बिस्किट उठाते हुए डॉ० कश्यप ने कहा, 'आखिर मैं भी हमपेशा हूं, मरीज़ों के दुःख-दर्द और अपने पेशे की इम्पोर्टेन्स मुझे मालूम है, फिर भी मैं इन्सानियत के सामन इन्सान को ज़्यादा महत्त्व देता हूं।'

'और वह इन्सान आप स्वयं हैं। क्या कह रहे हैं आप डॉक्टर!' मनीषी का स्वर फिर परिवर्तित हो गया, जैसे उसे डॉ० कश्यप की बुद्धि पर तरस आ रहा हो।

'डोण्ट बी सो रेश! ट्राई टु अण्डरस्टैण्ड मी। मैं आपको समझाता हूं,' डॉ० कश्यप ने सामने रखी प्लेट दूर सरका दी, सिगार उंगलियों में उलझा लिया और टाई की नॉट को ठीक करते हुए पैरों को मेज़ के नीचे फैलाते हुए बोले, 'देखिए, आर्मी का ही एक्ज़ाम्पेल ले लीजिए, जिस समय वहां हमला होता है, तो कोशिश यह की जाती है, कि आफ़िसर को बचाया जाए, सिपाहियों की एक बटैलियन नष्ट भी हो जाये, तो कोई बात नहीं।'

'आप यह भूल गये कि कितने अफ़सरों ने अपने जवानों से आगे बढ़ कर अपने मुल्क की प्रतिष्ठा के लिए बिना किसी सोच-ग़म के अपनी जान होम दी। हमारा पेशा हमारी प्रतिष्ठा है, मेरी राय तो यह है कि कुछ भी हो, पेशे की शान की रक्षा करना, हमारे लिए ज़रूरी है, इसीलिए यह पेशा बदनाम हो गया, कि हम लोगों ने इसकी पवित्रता का ध्यान रखना छोड़ दिया।

'आप यह क्यों नहीं समझती हैं मिस मनीषी, चूंकि सैकड़ों मरीज़ों की जान का ख्याल डॉक्टर को रखना है, इसलिए उसे अपना अस्तित्व रखना

जरूरी है, मैं यही कहना चाहता हूं, सिर्फ इतना ही।' इस बार डॉ० कश्यप ने मनीषी को उसके नाम से सम्बोधित किया, पर मनीषी को इस बार अपना नाम सुनकर झटका नहीं लगा, वह कहती रही···

'पर बेईमानी से नहीं। बच्चे को समझा-बुझा कर जब मां कोई काम करती है तो बच्चा उसमें बाधक नहीं बनता, वह जान लेता है उस हालत में मां उसे उसी प्यार करती रहती है, वह जो भी कर रही है, वह उसके भले के लिये ही है। मरीजों के प्रति हम क्रूर न हो जायें, यह ध्यान रखना हमारे लिये जरूरी है, चाहे कैसी भी स्थिति हो···।' मनीषी रुक गयी।

'आपको मालूम है आपके मरीजों की कैटेगरी में किस-किस तरह के लोग शामिल हैं, हाइली एजूकेटेड आदमी से लेकर एकदम अनपढ़ जाहिल आदमी तक। आप उन लोगों के साथ सख्ती नहीं बरतेंगी, तो आप उन्हें कैसे समझा लेंगी, वो तो आपके दरवाजे तोड़ डालेंगे, आपके कपड़े फाड़ डालेंगे। इसलिए आपको उनकी हद निश्चित कर देनी होगी; किये बिना काम नहीं चलेगा।' गम्भीर और दार्शनिक बनने की मुद्रा में डॉ० कश्यप ने कहा।

'सब कुछ ठीक है, लेकिन मरीजों के लिए हमें अपने दिलों में प्रेम-मोहब्बत दया रखनी होगी, उन्हें समझना होगा, मैंने कहा, किसी भी हालत में। मैं अब भी यही कहती हूं, भले ही यह पागलखाना न हो, पर हमें हर मरीज को मैन्टल पेशेन्ट की तरह ट्रीट करना चाहिए, यह मेरा अपना सिद्धान्त है। मरीज के रोग को समझने के लिए हमें उसकी परिस्थितियों, उसके माहौल को जानना बहुत जरूरी है और सबसे जरूरी है, उसके साथ हमदर्दी रखना, उसकी स्थिति को समझना-समझाना—प्यार की भाषा तो जानवर भी समझता है, इन्सान नहीं समझेगा? मेरी तो नर्सें भी ऐसी ही हैं, मैं उन्हें हमेशा समझाती रहती हूं···।'

'मुझे खुशी है—मिस इन्द्रजीत!'

मनीषी 'आय एम सॉरी!' शब्दों की अपेक्षा कर रही थी, 'मुझे खुशी है।' शब्दों ने उसे चौंकाया, बीच में ही वह विस्मय से डॉ० कश्यप की ओर देखने लगी।

'मुझे खुशी है, कि हममें से कम से कम एक डॉक्टर तो ऐसा है, जो

अपने काम में लग जाता है, या चक्कर काटता रहता है—डा० मनीषी अपने वाले लोगों में से हैं, इतना ही हम जाने थे, यह क्या मालूम था कि इस सबके पीछे डा० मिस इन्द्रजीत की एक फ़िलोसफ़ी है. कुछ अपने सिद्धान्त हैं···।

'डा० चित्रा, प्लीज डोन्ट बी फार्मल, सच मेरी कोई फ़िलोसफ़ी नहीं है यानी मैंने इन चीज़ों पर कभी गौर ही नहीं किया था. गौर करने का मौका तो आज मिला, आय एम वेरी ग्रेटफुल टु यू डा० कश्यप!' डॉ० कश्यप की ओर देखकर मनीषी मुस्करायी, फिर बोली, इस पेशे को अपनाते हुए शुरू-शुरू में यही सोचा था, कि सेवा करने के लिए इस पेशे से बढ़कर कोई जगह नहीं है और सेवा मैं करना चाहती थी. परमात्मा ने इसके लिए ज़मीन पहले ही तैयार कर दी थी, मुझे उस तरह की मुसीबतों में डालकर, झेला भी तो झेलने की ही तरह जाता है, पर जब कोई उस सबके लिए भी दुश्मन बन जाये, बीच में रोड़ा खड़ा हो जाये···।' अचानक मनीषी रुक गयी, उसे लगा वह बहुत आगे बढ़ती जा रही है, चित्रा भट्टाचार्य ने टोकना चाहा, फिर ख़ामोश रह गयी, बीच में प्रश्न करके वातावरण को फिर से गम्भीर बनाने की उनकी इच्छा क़तई नहीं थी। उधर डॉ० कश्यप का भी संकोच था, कहीं मनीषी उनके सामने कुछ भी न बताये, बुरा मान जाये, पर चित्रा भट्टाचार्य यह जान गयी थी, कि मनीषी के हृदय में कोई कांटा गहरे में धंसा है।

डा० कश्यप कहना चाहते थे, 'शुरू-शुरू में इस पेशे में हममें से ज़्यादा लोग आदर्शवाद के पगड़ बांध-बांधकर ही आते हैं, थोड़े-से ही लोग होते हैं, जिनका उद्देश्य शुरू-शुरू में महज़ चांदी बनाना ही होता है, स्थिति यां और ज़रूरतें इन पगड़ों को उतरवाती रहती है और फिर हम सब महज़ एक मशीन बनकर रह जाते हैं, जिसमें दिल नाम की कोई चीज़ नहीं रह जाती···।' पर डा० कश्यप ने कहा कुछ नहीं, उठते हुए बोले :

'अच्छा, डॉ० मिस इन्द्रजीत, धन्यवाद! आपने हमारी काफ़ी ज्ञान-वृद्धि की।'

'ज्ञानवृद्धि नहीं ज्ञान झाड़न किया, अभी तक आपकी ज्ञानवृद्धि धूल से ढकी पड़ी थी, मनीषी ने उस पर जमी गर्द झाड़ दी, अब आंख खोलकर

चला कीजिए।' चित्रा भट्टाचार्य ने तिरछी दृष्टि से देखते हुए कहा।

'अपन की तो आंख वन्द नहीं है, चिपक गयी है, देर में खुलेगी।' डॉ० कश्यप ठठाकर हंसे।

'होप यू डोन्ट माइन्ड, मिस इन्द्रजीत!' डॉ० कश्यप उठकर आगे-आगे चले, चित्रा भट्टाचार्य पीछे थीं।

'आप लोग तो चल ही दिये, कुछ देर और वैठते! खाना खाकर ही जाते!' मनीषी के स्वर में स्निग्धता थी।

'फिर आयेंगे, अव तुम आराम करो, तुम्हारी कल है न नाइट ड्यूटी?'

'हां, कल ही है।' मनीषी ने कहा फिर डॉ० कश्यप से बोली, 'फिर आइए!' मनीषी गेट तक पहुंचाने के लिए साथ-साथ चल रही थी।

'देखिए, अव तो मेरा इन्वीटेशन स्टैण्ड करता है, प्लीज़ डोन्ट डिस-एपोयण्ट मी!' दोनों गेट से वाहर निकलकर सामने वाली सड़क पर मुड़ गये। मनीषी की दृष्टि दूर तक देखती रही। कुछ देर फाटक विना वन्द किये ही फाटक के कोने पर वह चुपचाप टिकी खड़ी रही, आसमान में ढेरों तारे छिटक आये थे, हवा के ठण्डे झोंके ने चेताया: यहां तो सर्दी पड़नी अभी शुरू भी नहीं हुई है, कानपुर में तो अव तक काफ़ी सर्दी हो गई होगी। इतनी देर से वह कहां थी, जैसे किसी दूसरे लोक से लौटकर आयी हो। उसे भी क्या हुआ था, डॉ० कश्यप के सामने अचानक इतनी मुक्त वह कैसे हो सकी, इतनी सारी वातें इतने खुलकर वह इतनी देर तक कहती रही, चित्रा भट्टाचार्य जो इतनी वातूनी हैं, वे भी चुप रहीं और वह वोले गयी, कुछ तो उसे ख्याल करना चाहिए था—विस्मय और पश्चात्ताप उसे अव हुआ। डॉ० कश्यप उसके वारे में क्या सोचते होंगे। वैसे भले-से आदमी हैं। 'एक तो मैंने वायदा किया था, मैं आऊंगा।' कितनी वेतकल्लुफ़ी से कह रहे थे! अच्छी आदत है, वायदा रखना तो अच्छी आदत है, सव कुछ मानते चले, जैसे वे सचमुच अपराधी हों। इतनी देर वैठे, पर वह तो उनकी कुछ ख़ातिर ही नहीं कर सकी, वहस करने में लगी तो यह भी भूल गयी, कि वह अपने घर में वैठी है और मेहमानों के सामने व्यर्थ वनते रहने से लाभ! उसने तो अपनी वात कही थी, वह कहती ही कम है, पर जव कहने पर आती है तो कहती ही चली जाती है यह तो उसकी पुरानी आदत है, वावू भी यही कहा

करते थे, मां डपटती थीं, 'लड़की जात होकर ज्यादा चपर-चपर करना अच्छा नहीं है।' बाबू टोकते थे, 'तो क्या करे, मुंह सिले रहे, सही बात भी न कहे।'

'हां, न कहे! पराये घर में जाकर नाक कटायेगी। बेटी को चुप्पा रहना ही सुहाता है, हजार सुने बोले एक।'

'अब तुम अपना यह टोटकेनुमा भाषण तो छोड़ो, और हम लोगों को खाना खिलाओ।'

'हम लोगों को क्या, यह भी तुम्हारे साथ खायेगी? मैं बनाऊंगी तो यह खिलायेगी, न कि लड़कों की तरह यह भी खाने बैठ जायेगी तो…।'

'तो क्या हो जायेगा? लड़की है, तो कभी आराम न उठाये, चक्की में पिसती रहे, मैं अपनी बेटी के लिए यह कभी नहीं चाहूंगा। ऐसा घर देखूंगा कि बेटी राज करे।' ऐसा ही घर देखा था बाबूजी ने। मनीषी गेट बन्द कर वापिस बरामदे की तरफ लौटने लगी, राज करने जैसा ही घर था वह, पर क्या हाथ लगा? एक दिन भी पूजा-अर्चना करने-करवाने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ, गाली-धक्कों से भर्त्सना की गयी, 'ऐसी अभागन आयी, कि दहलीज पर पैर रखते ही घर का मलियामेट कर दिया, हमारे सोने से लाल को खा गयी।' किसी ने एक बार भी मुंह खोल कर नहीं कहा, कि उसने अपना भाग्य बचा कर कहां रखा है, उसके कपाल में पड़े हुए अंगारों को किसने देखा था, ओह!

मनीषी ने बरामदे की सीढ़ी पर पैर रखा, रातरानी किनारे पर ही गंधा रही थी।

'रजनीगन्धा का फूल! मनि, यह फूल कितना छोटा होता है और कितना सफ़ेद और सुगन्ध कितनी तेज…!'

'गन्धराज की सुगन्ध इससे भी तेज होती है।' उसने कहा था।

'गन्धराज का फूल होता भी तो कितना बड़ा है, सुगन्ध बड़ी हुई तो क्या! इस नन्हे से फूल को देखो!' सुकेत ने फूल उसकी हथेली पर रख दिया था, गोरी-गदली कोमल हथेली और उस पर रखा हुआ छोटा-सा सफेद फूल, जैसे गुलाबी रंग की मखमल पर किसी ने सफेद मोती टांक दिया

हो। थोड़ी देर तक वह फूल को देखती रही थी, फिर उसी फूल को डंगी समेत उसके जूड़े में खोंसने की कोशिश की थी, सुकेत का चेहरा खिल उठा था...। क्या कर रहा होगा सुकेत ? शायद सो गया हो, शायद जग रहा हो, कलाई पर बंधी घडी को उसने देखा, घड़ी की छोटी चमकीली सुइयां दस बजा रही थीं। ओफ़, कितनी देर बैठे ये लोग, समय मालूम ही नहीं पड़ा। ये लोग न आते तो वह क्या करती, सुकेत के बारे में ही सोचती रहती। इतनी देर तो वह सुकेत के पत्र के बारे में भूली ही रही।

ड्राइंगरूम की खिड़कियां दरवाज़े बन्द करने लगी तो छुटका मां आकर खड़ी हो गई, 'बिटिया, आज तो तुमने कुछ खाया ही नहीं, अभी आकर बैठी थी, कि ये लोग आ गये। कौन थे ये दोनों ? इस डाक्टरनी का आदमी होगा, मैंने तो इन दोनों को पहले देखा ही नही।' गैलरी दोनों ने साथ पार की अपने कमरे का दरवाजा खोलती हुई वह हंसी :

'तुम भी खूब हो छुटका मां, कुछ का कुछ कहने लगती हो। ये दोनों दोस्त हैं, दोनों साथ-साथ पढ़ते थे। चित्रा को तुमने पहले भी कभी देखा होगा।'

'हमें याद नहीं।' छुटका मां ने निरपेक्षता प्रगट की। 'चलो, अब खाना तो खा लो।

'तुमने खाया छुटका मां ?'

'हम अकेली कैसे खा लेतीं। भइया थे तो दूसरी बात थी, तुम दोनों खा लोगे, हम सोच लेती थीं, पर अब हम तुम्हें अकेली छोड़ कर कैसे खा लेंगी !'

'हय छुटका मां, तुम मेरी वजह से इतनी देर तक भूखी रहीं, चलो मैं आ रही हूं तुम खाना परसो !' खाना परस कर आज छुटका मां बाहर ही ले आयी। बाहर बरामदे में आसनी बिछा कर दोनों बैठीं तो मनीषी की दृष्टि छुटका मां के चेहरे पर बनी झुर्रियों को देखने लगी; कितनी अच्छी हैं छुटका मां, हर जगह समझौता, कोई चीज पत्थर की लकीर नहीं, तभी न इतने बरसों मे निभ रही हैं यहां, निभ क्या रही हैं, सब कुछ छुटका मां का ही हो गया है। थाली में रखी रोटी का कौर तोड़ती हुई मनीषी सोचने लगी।

कैसे हुई थी, रुक्मिनीजी की सादी भी ऐसे ही हुई थी, पर वो पुराने जमाने की वातें हैं, भगवान किरसनजी की वातें हैं, पर विटिया, हम तो आजकल भी ये ही देखते हैं, हिन्दू-मुसलमान तक की सादी हो रही है।'

'हां छुटका मां, वो पुराने ज़माने की वातें हैं।' मनीषी ने एक लम्वी सांस लेकर कहा, छुटका मां का आखिरी वाक्य जैसे उसने सुना ही न हो।

'दोनों इसके वाद चुपचाप खाना खाती रहीं। छुटका मां वड़े मनोयोग से चवला कर खाना खा रही थी, जैसे उसने कोई विशेष वात कही-सुनी ही न हो। और मनीषी, वह अपने में ही गुम थी, वह सुकेत के आने के वारे में सोच रही थी, लगता है सुकेत को गये हुए एक युग वीत गया है, जैसे सुकेत यहां कभी रहता ही न हो। पर एक महीने में ही आने की वात सुकेत ने कैसे सोच ली, इतनी जल्दी कौनसी छुट्टियां हो रही हैं? छुट्टी लेकर आना चाहता है क्या? कुछ भी तो नहीं लिखा है सुकेत ने, वस भावुकता की वातें, शायद कानपुर पहुंच कर सुकेत कुछ ज़्यादा ही भावुक हो गया है...।

विस्तर पर लेट कर भी वह काफ़ी देर घुलती-मथती रही—'डॉ० कश्यप उसके सामने आकर फिर खड़े हो गये, खूब आदमी हैं। चित्रा भट्टाचार्य के यहां इतने अतिथि आये थे, कोई तो इस तरह चिपट्ट नहीं हुआ। आखिर इन्हें मुझमें क्या रुचि हो सकती है? इतनी सारी दूसरी भी डॉक्टरनियां थीं, पर मुझ पर इतनी मेहरवानी, कोई कम वात तो नहीं। इसमें कोई शक नहीं कि डॉ० कश्यप अच्छे आदमी हैं...।' नींद के चरम विन्दु पर सुकेत और डॉ० कश्यप एक दूसरे में गड्डमड्ड हो गये, उसकी आंखें वेतरह झुकने लगीं, कल सुकेत को पत्र ज़रूर लिखना है। क्या लिखेगी,? सोचती हुई वह नींद में कव गुम हो गयी, उसे पता ही नहीं चला।

मनीषी सोकर उठी तो दृष्टि सीधे खिड़की से वाहर चली गयी; क्यारी में डेलिया का एक नया फूल खिला हुआ था, वह थोड़ी देर टकटकी लगाये उसे देखती रही। सव ओर एकदम सन्नाटा, डेलिया का एक वड़ा-सा साफ़ फूल और कुछ चिड़ियों की चहचहाट। वहुत दिनों वाद आज उसके मन

में एक पुलक जगी थी, एक अनाम पुलक, कहीं मन की गहराई में कुछ अच्छा-अच्छा-सा लग रहा था और यह भी लग रहा था कि यह पुलक बहुत देर रहने वाली नहीं है, जल्दी ही कुछ ऐसा घटित होगा कि यह बेनाम की गुदगुदी कहीं गहरे में ही खो जायेगी और फिर वही सीधी-सपाट नपी-तुली जिन्दगी, जिसमें कहीं कोई मोड़ या कभी कुछ नया घटित होने को नहीं है।

बिस्तर पर यों ही बैठे-बैठे अंगड़ाई ली, दृष्टि बाहर से कट कर भीतर बिस्तर पर फिसल गयी, एकदम सफेद नई-निकोर चादर, लगा कहीं वह भी तो एक मरीज नहीं ? मरीज और उसकी चादर में थोड़ी कम-बहुत सफेदी और नये-पुराने का ही तो अन्तर है, मरीजों की चादर कई दफ़े धुलने के कारण कमजोर और कम सफेद रह जाती है, उसने यह चादर अभी कल ही बिछायी है, एकदम सफेद बुर्राक, कफ़न ऐसा ही होता है न ! इस स्थिति में वह कौनसा कफ़न ओढ़ेगी ? सफेद कफ़न तो आदमी ओढ़ते हैं, विवाहिता स्त्रियों को मरने पर खूब सजाया जाता है···मन में कुछ तड़का, नहीं कल से वह सफेद चादर नहीं बिछायेगी—रंगीन बिछायेगी—रंगदार चौखाने वाली, जो डॉ० कुलकर्णी उसके लिए पिछले महीने मद्रास से लायी थीं, सुकेत सफेद चादर नहीं बिछाने देता था, शायद वह उसकी सफेदी से तंग आ गया था :

'क्या हुआ है मनि तुम्हें, सुबह से शाम तक सफेदी में रहते तुम्हारा मन नहीं भरता ? अस्पताल जाओगी तो सफेद साड़ी पहन कर, घर लौटोगी तो सफेद साड़ी बदल लोगी और रात में फिर वही सफेद चादर में घुसकर लेट जाओगी। न-न, यह नहीं चलेगा। मां कितनी अच्छी साड़ियां पहनती थीं, हमेशा रंगीन। तुम भी अपने लिए रंगीन साड़ी खरीद कर लाओ न मनि !'

'ले आऊंगी।' और शायद सुकेत का मन रखने के लिए ही वह घर पर पहनने की साड़ियां रंगीन ले आयी थी, रंगीन और सस्ती।

'अरे मनि, मां के बक्स में इत्ती अच्छी-अच्छी साड़ियां रखी होंगी, तुम उन्हें निकाल कर क्यों नहीं पहनती ? मैं तो कहना ही भूल गया था।' सुकेत ने उस दिन उसकी साड़ी का पल्लू छूकर कहा था।

'मा की साड़ियों का क्या होगा, सब काम आ जायेंगी। तुम्हें
चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है, मैं कुछ नहीं भूली हूं।' सुनकर
बड़ी सीधी सन्तोषपूर्ण दृष्टि से उसे ताकता रहा था, मनीषी के
उनका भी किसी दिन उपयोग हो जायेगा, शायद इस विचार ने उसे
तोष दिया था। उस दिशा मे और कुछ ज़्यादा समझने की उस समय उस
पास बुद्धि ही नही थी, अपनी बात पर मनीषी ही खुद चौंकी थी, उस
सुना था विधवा स्त्रियो के कपड़े सधवा स्त्रियों के लिए पहनना वर्जि
है, पर कीमती रेशमी साडियां जो वे अपने सधवापन में पहनती थीं
या जो उन्होंने कभी खोलकर भी नहीं देखीं, उन्हें तो पहना जा सकता
है। पर यह सब कुछ वह अपने बारे में कहां सोच रही है—उसके हृदय
में कुछ किरकता रहा, एक हल्की-सी रिड़क, जैसे एक बहुत बेमालूम नन्हा-
सा कांटा इतनी बड़ी देह मे कही है, जिसका अहसास कभी नहीं होता,
कभी होता भी है तो बहुत हल्के-से, बिलकुल एक आलपिन के चुभने जैसा
और फिर सब खत्म।

एक नन्ही चिड़िया रोशनदान के कांच पर आकर झूली तो उसे याद
आया, कि उसे जाना है और जल्दी जाना है और वह अभी आराम से बैठी
है। ड्रेसिंग टेबिल के आगे खड़ी होकर बिखरे बालों को जूड़े के रूप में
लपेट कर वह पिन खोंसने लगी, तो हृदय में कुछ ठक्क से बजा, उसकी
अपनी मा कितनी अच्छी साडिया पहनती थीं, हमेशा रंगीन—मां भाग्य-
शालिनी थी, मरते दिन तक भी रंगीन साड़ियां पहनती रहीं। साड़ी रंगीन
नही होती थी तो चौड़ा बार्डर रंगीन होता था, बहरहाल रंग उनकी देह
के साथ लगा चला था—सगे-सम्बन्धियों ने समझाया था, 'तुम्हारे देवर हैं,
देवर के बेटे है, परमात्मा उन्हे राज़ी रखे, तुम्हें हाथों से चूड़ियां उतारने
की बात ही कुछ नहीं है। ऐसे में बिन्दी और मांग का ही निषेध होता है,
बिछुआ, रंगीन धोती तुम बराबर पहनोगी!'
उसमे तो कोई कुछ भी कहने वाला नहीं था, मां उसे देख-देख कर
टसुर रोती थी और उसके तो कोई था ही नहीं, न बेटा न भाई, उधर
र सूत्र छिन्न ही हो चुका था।
वयां कहती हैं, पति न रहने पर नारी का नूर झड़ जाता है, हाथ-

फिर सब कुछ रहते हैं, बस वही कुछ नहीं रहता, वही कुछ, जो देह को चमक देता है, एक खास रंग देता है!' सुकेत छोटा था तो कहता था, 'मनि मासी, तुममें क्या है, पता ही नहीं चलता, तुम कितनी प्यारी लगती हो।' और कहते-कहते कभी उसकी उंगलियों को मोड़ने-खोलने लगता, कभी उसके बालों में उंगलियां डाल कर लहराता, कभी···। उसमें क्या वह 'नूर' अब भी है ? सधी-बंधी सानुपातिक देह पर एक पूरी नज़र फिसल गयी, छोटी बांहों के ब्लाउज़ में से गोरी गोल बांहें, खूब गहरे छंटे गले में झांकता हुआ ललाई लिये गोरा उभरा वक्ष और बालों का ढेर हट जाने से साफ़ समूची दिखती हुई कमर एकदम सुडौल-सुदृढ़ होती हुई भी लचीली और कम चौड़ी—उसकी देह के स्टेटिस्टिक्स क्या होंगे? छिः, क्या सोच रही है वह? क्यों सोच रही है ? वह तो एक दूसरे कगार पर खड़ी है जहां से दूर-दूर तक फैला हुआ सिर्फ़ पानी ही पानी दिखता है, केवल पानी, पानी की छाती पर एक डोंगी तक भी नहीं।

रास्ते में चलते हुए इतने सारे सिरों के बीच में एक सिर फिर सामने आकर रुक गया, डॉ० कश्यप का सिर। ऊंह ! आंखें बन्द कर उसने उस विचार को झटकना चाहा, वह अपने मरीज़ों के बारे में सोचने लगी, उसका अपना वार्ड सामने आ गया—क़तार में बिछे पच्चीस पलंग एक तरफ़, पच्चीस दूसरी तरफ़—बीच में छोड़ी हुई गैलरीनुमा जगह और उस पर खटखटाते ढेरों क़दम—डॉक्टरों के, नर्सों के, वार्डबॉय जमादार और दूसरे आने-जाने वाले लोगों के—पी० जी० आई० अस्पताल में भी ऐसा ही होगा क्या ? '···जहां मैं हूं वह हास्पिटल आपके देखने की चीज है।' कुछ शब्द ठकठकाने लगे, कुछ बोल, कुछ दृष्टियां, कुछ मुद्राएं—कितनी पागल है वह भी, क्या-क्या सोच रही है ! पी० जी० आई० हास्पिटल में भी ऐसा ही होगा? अरे सब अस्पताल क़रीब-क़रीब एक-से ही होते हैं, इस बात को क्या वह नहीं जानती ? जहां वह पढ़ी है···। अचानक बस रुक कर खड़ी हो गई—बस पर सामने लगे बोर्ड पर लिखा था, भवानीपुर। भवानीपुर से वह दूसरी बस ले लेगी, देखा जायेगा···। बस चल रही थी, बैठने के लिए जगह नहीं

मिली थी, बस के बीच की रॉड थामे वह खड़ी थी, अगले स्टाप पर वह ऊपर चली जायेगी, वहां जगह होगी, सब लोग एकदम नीचे ही तो भर जाते हैं, ऊपर की मंज़िल में जाने वाले लोग थोड़े ही होते हैं···।

चौदह

'डॉक्टर गुड मॉर्निंग !'

'गुडमॉर्निंग ! रजिस्टर कहां है ? तुमने चार्ट देखे ? स्रिंज तैयार की ?'

'डॉक्टर, बैड नं० १७ रात भर आपको याद करती रही, पूरी रात उसे तकलीफ़ रही है, इंजेक्शन के लिए स्रिंज तैयार कर रही हूं।'

'तुम आओ, मैं वार्ड में राउंड लेने जा रही हूं।'

'जी डॉक्टर ! और हां, डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने आपसे कहलाया है, जाने से पहले आप उनसे मिलकर जायेंगी।'

'डॉ० चित्रा भट्टाचार्य से, क्यों ?'

'वह कुछ नहीं मालूम डॉक्टर ! इतना ही मैसेज भेजा था उन्होंने।'

'अच्छा, ठीक है। तुम आओ !' कुछ सोचती हुई मनीषी वार्ड की ओर बढ़ गयी। विशाल हॉल के बीचों-बीच लगी मेज़ तक पहुंचते-पहुंचते न जाने कितनी दृष्टियां उस पर टिकीं और एक ख़ामोशी और इन्तज़ार बिछता सा चला गया, जैसे सांस रोक कर सब उसके इन्तज़ार में ही हों।

'डॉक्टर जी !' उसने दृष्टि फेरी, एक सौम्य-सी दिखने वाली लड़की अपने बिस्तर पर बैठी उसे पुकार रही थी।

इतना दबंग मरीज़ तो आज तक कोई नहीं दिखा, स्वर के साथ वह

दिखा गया।

'कहो!'

'इधर आइए न डॉक्टर!'

'अरे ऐसे पुकार रही है, जैसे सहेली को पुकारते हैं।' और उसे क्या हुआ, सहेली की तरह ही उसके पास तक खिचती चली गयी।

'तुम नई मरीज दिखती हो!'

'जी, मैं रात ही तो आयी हूं।'

'इमर्जेन्सी केस में।'

'जी!'

'तुम्हें क्या हुआ, अच्छी-भली तो हो!'

'अच्छी-भली दिख रही हूं मैं डॉक्टर?'

'और क्या, तुम्हें क्या हुआ है?'

'आप बताइए डॉक्टर, मुझे क्या हुआ है?'

'तुम्हें मालूम है मैं इस समय राउण्ड पर हूं और तुम मुझे बेकार डिस्टर्ब कर रही हो! तुम्हारा कार्ड यह है, मैं देखती हूं!'

'आय एम सॉरी डॉक्टर, लीजिए, मैं खुद ही बताये देती हूं। आप कुछ मत देखिये!' बिस्तर पर ही थोड़ा मचकते हुए उसने कहा, 'मैंने कल जहर खा लिया था।'

'जहर खा लिया था, क्यों?'

'जहर क्यों खा लेते हैं लोग?'

'तुम फिर मुझसे पहेली बुझाने लगीं, अपनी बात कहो!'

'डॉक्टर, मैं बताती हूं, लोग ज़हर क्यों खा लेते हैं—इतनी बड़ी दुनिया होती है न, यह और इतने सारे छोटे-छोटे लोग, दुनिया के धक्कों से मजबूर होकर वे बाहर भाग जाना चाहते हैं, जहां अंधेरे जैसी कोई चीज़ न हो, सब एक-दूसरे को पहचानते हों, सबकी ज़रूरत एक-दूसरे को मालूम हो—यहां के अंधेरे से घबड़ा कर ही मैंने ज़हर खा लिया था, पर जीना था, आपको देखना था, तो बच गयी। ऐन मौके पर घरवाले यहां उठा कर ले आये।'

'अब तो तुम ठीक हो न!'

'ठीक कहां हूं डॉक्टर, बच गयी, यही दुःख है।'

'अभी तुमने कहा था, जीना था, मुझे देखना था, तो तुम बच गयीं। इतने निराश होने से कैसे चलेगा ?'

'डॉक्टर, निराश इसलिए हूं, कि मैं हमेशा अकेली रहूंगी। काम मेरे लिए कुछ है नहीं, वोलो, क्या धन-सम्पत्ति होने से ही कोई खुश रह सकता है ?

'अकेली क्यों रहोगी ? तुम्हारे सामने अभी लम्बी ज़िन्दगी है, तुम्हें अभी बहुत कुछ मिलने को है। डोन्ट वी सो पेसीमिस्ट !'

'डॉक्टर, आप मेरी कहानी नहीं जानतीं। सुनेंगी तो आप कहेंगी, मैंने ठीक किया था।'

'मैं तुम्हारी कहानी सुनूंगी, ज़रूर सुनूंगी, पर एक बात तुम यह जान लो, कि हर खुशी पूरी हो जाने से भी कोई आदमी पूरी तरह सुखी नहीं हो सकता।'

'डॉक्टर,आप तो फिलोसफ़ाना बातें करने लगीं। खुश तो कोई आदमी ज़िन्दगी में पूरी तरह कभी नहीं हो पाता, कोई न कोई कांटा उसके मन में रड़कता ही रहेगा, पर कुछ देर के लिए तो खुशी और सन्तुष्टि हासिल की जा सकती है। डॉक्टर, आप पूरी तरह खुश हैं न, ज़रूर होंगी, आपके चेहरे से लगता है !'

'अभी तुम कह रही थीं, पूरी तरह खुश कोई नहीं हो सकता चाहे···।' अच्छा, मैं फिर आऊंगी, तुम आराम करो और खूब खुश रहो, कुछ न मिले, तब भी। हुं !' और एक स्नेहयुक्त हुंकारे के साथ मनीषी आगे बढ़ गयी, घड़ी पर नज़र डाली, पूरे दस मिनट वह एक मरीज़ के पास रही। इतनी देर में कम से कम चौथाई मरीज़ों से मिल सकती थी, पर उसे बुरा नहीं लग रहा था।

मरीज़ों को देखने के बाद वह एक बार उस लड़की के पास फिर गयी, पर उस समय लड़की सो रही थी। जगाना ठीक नहीं है···। कुछ देर वह उसके चार्ट को खड़ी देखती रही—उम्र पच्चीस वर्ष, बलडप्रेशर १२५ टैम्पप्रेचर १००, भोजन, दलिया, दूध और जूस। लड़की फिर भी नहीं जगी थी। उसके पास से हट कर वह अपने कमरे में चली आयी और देर तक

उनके बारे में सोचती रही :···इतने अच्छे घर की लड़की ने ज़हर क्यों खा लिया ? कहती है, सम्पन्न है, रुपये-पैसे की कोई कमी नहीं, पर अकेली है। अकेले होने की वजह से भी कोई ज़हर खा सकता है क्या ? हृदय में एक कंपकंपी-सी जगी, कुछ देर गुमसुम यों ही बैठे रहना अच्छा लग रहा था, तभी डॉ० कुलकर्णी आकर खड़ी हो गयीं. 'हैलो मनीषी, एप्पीयरिंग थौटफुल ! ठीक तो हो न !'

'ठीक हूं बिलकुल ठीक, अभी चित्रा भट्टाचार्य ने बुलाया था तो सोच रही थी, पर जाने से पहले यह काम भी निपटा लूं ।'

'काम निपटाने-जैसी बात नहीं है, चित्रा ने मुझे भी बुलाया है, हम दोनों ही तुम्हारा इन्तज़ार कर रहे थे । वक़्त ख़त्म हो जाने के बाद भी आध घंटा हो गया तो सोचा मैं ही तुम्हें बुला लाऊं । सोचा था, शायद कोई ख़ास बात होगी , कोई ख़ास केस, पर तुम यों ही ख़ाली बैठी हो !

'ओह डॉक्टर, मुझे बड़ा अफ़सोस है, आपको इतनी दूर आना पड़ा । मैं तो आ ही रही थी, एक कप चाय पी लें न !'

'नहीं, नहीं, मेरे कमरे में चाय एकदम तैयार है, भट्टाचार्य भी वहीं हैं ।'

'कोई और भी है ?' सहसा मनीषी को कुछ और याद आ गया ।

'नहीं, और कोई नहीं है । हम दोनों हैं और कुक है, वही रोहिणी, तुम उसे जानती तो हो !'

मनीषी आश्वस्त हुई । डॉ० कुलकर्णी के साथ पहुंची तो सचमुच वहां कोई नहीं था । दोनों की प्रतीक्षा करती हुई डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ही ड्राइंग-रूम की खिड़की से झांक रही थीं । दोनों को देख कर उनकी आंखों में चमक आ गयी, उल्लसित स्वर में वे बोलीं, 'मैंने समझा तुम भूल गयी और घर चली गयीं !'

'तुम्हारी बात भूल सकती हूं मैं ? कहो क्या हुक्म है ?' मनीषी ने मुस्कराते हुए आदाब बजाया ।

'हुक्म, हां हुक्म ही है आज तो, और इसके लिए गोलमोल छल्लेदार बात करने की ज़रूरत भी नहीं है । तुम्हें यही कहने बुलाया है, कि डॉ० [illegible] ने तुम्हारे लिए प्रपोज़ल भेजा है ।'

'प्रपोज़ल, मेरे लिए ? तुम्हारा दिमाग तो ठीक है न !'

'मैं ठीक कह रही हूं, चाहे डॉ० कुलकर्णी से पूछ लो।' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने घबड़ा कर डॉ० कुलकर्णी की ओर देखा।

'मुझे किसी से कुछ नहीं पूछना। अगर आप लोगों ने मुझे इसी काम के लिए बुलाया है तो मैं अब चलती हूं, काम मैंने जान लिया है, थैंक्यू!'

'बच्चों की तरह एक्ट करने की ज़रूरत नहीं है मनीषी, बात समझने की कोशिश करो।' डॉ० कुलकर्णी ने उसे हाथ पकड़ कर बैठा लिया।

'देखो, मैं तुम्हारे बारे में भी खूब अच्छी तरह जानती हूं और कश्यप के बारे में तो जानती ही हूं, इसलिए सोचती हूं तुम्हारा मैच अच्छा रहेगा।' इस बार डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने साहस करके फिर कहा।

'मेरे बारे में तुम अच्छी तरह जानती हो, इसका दावा तुम क्या मैं खुद भी अपने बारे में नहीं कर सकती। डॉ० कश्यप से कहना, वे किसी मुग़ालते में न रहें।'

'तुम सच कह रही हो, आदमी की ज़िन्दगी इतनी काम्प्लीकेटेड होती है, कि कोई भी अपने बारे में पूरी तरह नहीं जानता, पर कई मौके ऐसे आते हैं, कि हमें अपने को उन मौक़ों के साथ फिट बैठाना पड़ता है।' चित्रा भट्टाचार्य ने एक लम्बी सांस लेते हुए कहा, डॉ० कुलकर्णी ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया, वे कहती रहीं।

'देखो, जैसा कि तुमने खुद बताया है तुम्हारे कोई खास सम्बन्धी नहीं हैं। एक सुपर्णा दी थीं, जो तुम्हारी कुछ चिन्ता रखतीं, तुम्हारी ज़िन्दगी का आगा-पीछा सोचतीं, वे भी अब नहीं रहीं। कल को सुकेत की शादी हो जायेगी, अब तुम्हीं सोचो, तुम्हारे बारे में सोच करने वाला कौन रह जायेगा? कहो सुकेत; तो इन लड़कों को हम जानती हैं, बीवी के आ जाने पर इनसे किसी भी तरह की उम्मीद करना बेकार है। कश्यप अच्छे आदमी हैं, हमपेशा भी हैं, ज़िन्दगी अच्छी तरह कट जायेगी। जल्दबाज़ी की बात नहीं है, शान्त मन से सोचो, तुम समझ लोगी हम लोग ग़लत नहीं कह रहे।'

मनीषी चुप रही। स्टैथस्कोप अनजाने ही उसके गले में झूलता चला आया था, उसे हटा कर उसने बैग में रख लिया और सामने दीवार पर लगी मरियम की तस्वीर को देखने लगी—जानी-पहचानी, अनेक बार देखी,

सुन्दर सौम्य नारी-आकृति, गोद में एक छोटा-सा प्यारा-सा शिशु—ईशु ।

'हां तो इस बात पर तुम गौर करो, तुम सोच रही होगी कि दूसरी लड़कियां भी तो हो सकती हैं, तो यह भी सुन लो, तुमसे ही क्यों कहा जा रहा है—पहली बात तो यह है कि डॉ० कश्यप तुम्हें ही बेहद पसन्द करते हैं । दूसरी बात यह कि हम लोगों को भी तुम अच्छी लगती हो, तुमसे हमें निजी हमदर्दी है, हमारा दूसरा कोई स्वार्थ नहीं है मनि, सच मानना !' डॉ० कुलकर्णी ने यह सब कुछ इतने सादे-भोले स्वर में कहा, कि एकाएक सब को हंसी आ गयी । मनीषी ने हंसते-हंसते ही पूछा :

'भट्टाचार्य क्यों नहीं कर लेतीं ?'

'कश्यप इसे पसन्द ही कहां करता है ।' कुलकर्णी ने यों ही चित्रा को झकझोरते हुए कहा । चित्रा भट्टाचार्य गम्भीर हो गयीं, 'दरअसल बात यह है कि मैं ही कश्यप के साथ शादी नहीं करना चाहती । मैं या तो अपने वर्ग के आदमी से शादी करूंगी या उससे करूंगी जो कॉस्मोपोलिटन हो—हिन्दू-मुस्लिम, ब्रह्मसमाजी, शैव-शाक्त सब का मिश्रण । कश्यप में मुझे वो नहीं दिखाई देता, बस इतनी सी ही तो बात है ।'

'भट्टाचार्य तो एकदम मूर्ख है, महामूर्ख; इसने न जाने कितने मौके इसी तरह खो दिये हैं, बस यह समझ लो मनीषी, कि मौके खोते रहना इसकी नियति हो गयी है । मैं इस सम्बन्ध में इससे पहले ही पूछ चुकी हूं ।'

'चलो, अब तुम यही समझ लो ।' चित्रा भट्टाचार्य के चेहरे पर उदासी उभर आयी, शान्त स्वर में बोली, 'अब तुम इस सम्बन्ध में मेरी बात उठाओ ही मत, अपना-अपना भाग्य सब के साथ है । हां, यह जरूर है कि डॉक्टर कश्यप अच्छे आदमी हैं, चेहरा-मोहरा तुमने देख ही लिया है, यह जरूरी थोड़ी है, कि क्योंकि मैं कश्यप को जानती हूं, इसलिए मैं ही शादी कर लूं । आप मनीषी से पूछें, बात उसी के सम्बन्ध में चल रही थी । डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने बड़े शान्त स्वर में कहकर बात खत्म कर दी ।

मनीषी चुप रही, दोनों के बीच में इस सम्बन्ध में कुछ कहना उसे ठीक नहीं लग रहा था । वह कुछ सोचने लगी थी, डॉ० कुलकर्णी ने अनजाने ही उसकी शंका का निवारण किया ।

'मैं कश्यप को उतना कहां जानती हूं, जितना ये चित्रा जानती हैं, पर

इन चार-छह दिनों में कश्यप को मैंने जितना देखा है, उससे ये अच्छ आदमी लगे हैं। पता चला, रिश्ते बहुत आये, पर मन पर कोई नहीं चढ़ा, अब तुम्हें पहली ही नज़र में पसन्द कर लिया है, तो उसका क्या किया जाये। तुमसे इतना कुछ इसीलिए कह रही हूं, क्योंकि चाहती हूं, कि तुम अकेली न रहो। सच, तुम्हें सुखी देखना ही हम सब की इच्छा है, तुम भी तो सुकेत को सुखी देखना चाहती हो न ! उसके लिए भी लड़की ढूंढ़ो और अपने कर्त्तव्य से मुक्त हो जाओ, बस फिर कोई झगड़ा नहीं रहेगा।' डॉ० कुलकर्णी समझाने के स्वर में कह रही थीं।

'जी !' मनीषी के ओंठ बेमालूम ढंग से बुदबुदाये तो डॉ० कुलकर्णी को लगा, मनीषी विचारमग्न है। उन्हें प्रोत्साहन मिला, बड़े स्नेह से पीठ थप-थपाती हुई बोलीं, 'हां, विचार कर लो, कोई जल्दी थोड़ी है। हर आदमी अपने सुख के लिए कोशिश करता है, क्या बुरा है...।' फिर चित्रा भट्टाचार्य की ओर मुंह करके बोलीं :

'तुम भी कहो न कुछ ! तुम तो कश्यप के बारे में मुझसे ज़्यादा ही जानती हो।'

'नहीं, आपने काफ़ी कुछ कह तो दिया है।' चित्रा भट्टाचार्य ने तटस्थ स्वर में कहा तो डॉ० कुलकर्णी को भ्रम हुआ, बोलीं, 'तुम मुझसे नाराज़ हो ?'

'नहीं, बिल्कुल नहीं; मैं कुछ और सोचने लगी थी। आप तो हम सब की हमदर्द हैं, नाराज़ी की बात ही क्या है।' चित्रा भट्टाचार्य ने सहज स्वर में कहा तो वातावरण फिर सम हो गया।

चाय पीकर मनीषी बाहर निकली तो बत्तियां जल चुकी थीं। सुबह सोचकर चली थी कि लौट कर आने का मौका मिलेगा, तो सुकेत को पत्र ज़रूर लिखेगी, पर अब मन नहीं हो रहा था। बाहर लॉन में काफ़ी झुट-पुटा घिर आया था, मौलश्री के पेड़ के नीचे कुर्सी डाल कर वह बहुत देर तक बैठी रही।

पन्द्रह

सुनील का पत्र फिर आ पहुंचा—

'मनि,

मैं समझ ही नहीं पा रहा, आखिर तुम्हें हो क्या गया है ! क्या मेरी किसी बात से रुष्ट हो ? मैं अब तक दो-तीन पत्र डाल चुका हूं और तुम्हारा अब तक सिर्फ एक पत्र मिला है, वह भी दो-तीन पंक्तियों का। मनि, क्या तुम्हें अब मेरी कोई चिन्ता नहीं रही ? वहां रहते हुए मैंने कभी सोचा भी नहीं था, कि एक दिन तुम मेरे प्रति इतनी रूक्ष हो जाओगी।

आश्चर्य यह है कि तुम्हारी ओर से इतनी शुष्कता होने पर भी मेरा मन एक क्षण को भी तुमसे अलग नहीं होता, तुम्हें कैसे विश्वास दिलाऊं। यही समझ लो कि मैं यहां आकर कुछ अधिक ही भावुक हो गया हूं। तुम शायद यही सोच भी रही होगी। एक बात बताओ, तुमने अपने उस छोटे-से पत्र में क्या लिख दिया, कि मैं सुखी रहूं, इससे अधिक तुम्हें मुझसे कुछ नहीं चाहिए। क्या इसी तरह मैं सुखी रहूंगा? कभी-कभी तुम कितनी दुःख-दायिनी हो जाती हो ! यद्यपि यह ठीक है, कि मैं कुछ भी देने या करने योग्य नहीं हूं, फिर भी मैं तो तुमसे सदा पाने की ही आस लगाये रहता हूं। तुमने मुझे कितना स्नेह दिया है, इस अजनबी धरती में भी अपने प्रति तुम्हारे स्नेह का अनुभव करता हुआ मैं कितना मग्न और पुलकित रहा करता हूं, यह न पूछो ! मैं तो सदा यही कल्पना किया करता हूं, कि मैं कहीं भी रहूं, तुम्हारा स्नेह अविरल रूप से मुझे मिलता रहेगा। समय और स्थान की दूरी मेरे इस प्राप्तव्य में कुछ भी बाधा नहीं पहुंचा सकेगी।

मैं कभी भी यह नहीं सोच सकता, कि मेरे यहां रहने या न रहने पर तुम्हारे मन या भावनाओं में मेरे प्रति कुछ भी अन्तर आया है, फिर भी पत्र न पाने पर मन खिन्न हो जाता है। तुमने कभी मुझसे कहा था, कि मेरे जीवन में क्या ऐसा परिवर्तन होगा, जो मैं तुम्हें भूलूं। मुझे कुछ पता नहीं ऐसा होगा या नहीं—यही प्रार्थना कर रहा हूं, कि कभी मुझे भूलना नहीं, कभी घृणा नहीं करना। अगर कहीं दोषी भी होऊं तो परिस्थिति या अज्ञान समझ कर भुला देना। कहीं भी और कभी भी मेरी भावनाओं में

परिवर्तन भी पाओगी, तो वह अस्थायी या भ्रम मात्र होगा, मैं सदा वही हूं, जिसे तुमने बहुत पास से देखा है और पाया है।

पत्र की आशा करूं या नहीं? शायद मैं बहुत कुछ बहक गया हूं, पर इसका कारण तुम्हारी चुप्पी ही है, मुझे तुम्हारी बहुत-बहुत चिन्ता है, जल्दी पत्र देना।

तुम्हारा ही
सुकेत।'

पत्र पढ़ कर मनीषी फफक कर रो उठी। सचमुच सुकेत के प्रति वह कितनी क्रूर हो उठी है। सुकेत के जाते समय वह कहां जानती थी, कि उसके चले जाने के बाद भी वह यहां आराम से रहती रहेगी और उसकी तनिक चिन्ता नहीं करेगी। तब तो सुकेत के जाने के क्षण उसकी आंखों के आगे अंधेरा छा गया था, यह सोच कर कि सुकेत के बिना वह इस घर में किस प्रकार रह सकेगी? अब कम से कम सातवें-आठवें दिन अपनी कुशल-क्षेम देकर उसे निश्चिन्त तो रखना चाहिए था, और वह है कि उसके प्रति एकदम आश्वस्त हो गई है। सोच ही नहीं पा रही, कि वहां सुकेत किन-किन कारणों से दुःखी हो सकता है।

पर अपने बारे में वह लिखे भी क्या? क्या जानबूझ कर ही उसने लिखना छोड़ दिया है? लिखने के लिए उसकी उंगलियां क्यों नहीं उठतीं? उसे भी क्या सूझी, कि उस दिन वह डॉ० चित्रा भट्टाचार्य के यहां फंक्शन में जा पहुंची, उसके बिना वहां कौन-सा काम रुक जाता। अब यह अच्छी बला गले पड़ गयी। सुकेत के बिना तो वह कुछ भी नहीं कर पायेगी, पर आखिर सुकेत को वह लिखे भी तो क्या? आज की चर्चा के बारे में? अपनी शादी के बारे में? क्या वह सचमुच डॉ० कश्यप से प्यार करने लगी है? क्यों सोचने लगी है वह यह? क्या प्यार के बिना शादी हो ही नहीं सकती? क्या हर विवाह के पीछे प्रेम का एक लम्बा इतिहास छिपा है? पागल है वह, डॉ० कुलकर्णी और डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ठीक ही तो कह रही थीं, यहां कौन बैठा है उसका, जिसकी वजह से वह यहां अटकी रहे? सचमुच कितनी अकेली और खाली हो गई है वह अब तो!

सुकेत था तो सत्तर काम थे, आने-जाने की व्यस्तता के अलावा सुकेत

के पच्चीसों आदेश-शिकायतें और बन्धन, उसके वाद घर-वाहर के सैकड़ों काम, अस्पताल के भीतर की व्यस्तता—पर अव अस्पताल की व्यस्तता के अतिरिक्त सव समाप्त हो गया है, शेष वची है तो एक यही सिरदर्दी। सुपर्णा दी के साथ इतना लम्वा अटकाव न होता, तो शायद यह सिरदर्दी वहुत पहले आरम्भ हो गयी होती, और तव शायद कुछ निर्णय भी हो ही जाता, पर अव तो कुछ भी निर्णय करना कितना कठिन हो गया है। अच्छा ही हुआ, सुपर्णा दी के कारण इतने दिनों वह इस सिरदर्दी से वची रही। आज सोच रही है तो क्या कर पा रही है? अपने 'व्यतीत' को भी आख़िर वह कव तक वैठी सोचती रहेगी। डॉ० कश्यप के सम्वन्ध में आखिर वह फ़ैसला क्यों नहीं कर पा रही? डॉ० कुलकर्णी और डॉ० कश्यप ने आज उसे कितना कुछ तो समझाया है! 'हर आदमी अपने सुख के लिए कोशिश करता है, क्या वुरा है···।' डॉ० कुलकर्णी कह रही थीं।

···पर डॉ० कश्यप के वारे में गम्भीरता से वैठकर सोचने लगती हूं, तो भीतर-ही-भीतर फिर कुछ टूटने-सा लगता है: उनके और मेरे सिद्धान्तों में ज़मीन-आसमान का अन्तर है, कौन कह सकता है समय के साथ यह अन्तर और नहीं वढ़ेगा। पर घट भी तो सकता है? मेरी वातों के साथ वे कैसे सहमत होते चले जा रहे थे, हर वात का समर्थन, प्रशंसा और लगाव। पर लगता है, सव कुछ ऊपरी-ऊपरी है और फिर किसी की वात से सहमत होते चलना दूसरी वात है, अपनी मूल धारणाएं वनाये रखना दूसरी वात। अपने व्यक्तिगत विचार तो उनके वही हैं···अपने अस्तित्व को वनाये रखने के लिए दूसरों की हत्या भी कर डालने में उन्हें कोई वुराई नज़र नहीं आती; क्योंकि अस्तित्व वनाये रखकर वह व्यक्ति आगे चलकर वहुतों का भला कर पायेगा। अच्छी फ़िलोसफ़ी है! ठीक है, कुछ नियम-वन्धन रखना ज़रूरी है, पर एक निरुपाय घायल व्यक्ति को छोड़ कर तुम आंखें मूंदे वैठे किस प्रकार रह सकते हो? दूसरों के हित के लिए कई वार समय और स्वार्थों का हनन भी करना पड़ेगा, पर उनका कहना है कि कई वार स्वार्थों की रक्षा भी करनी होगी—हम दोनों के मध्य मूल अन्तर इन्हीं मान्यताओं को लेकर है। अव वह सुकेत को इस सम्वन्ध में लिखे भी तो क्या? वह तो स्वयं ढुलमुल स्थिति में है, काश उसने

आरम्भ में ही मां-बाबू का कहना मान लिया होता ! ऊंह, मां-बाबू का कहना ही तो माना था उसने, और वह कहीं भी नहीं पहुंच सकी थी।

इस सबके बारे में तो मुझे अब सोचना ही चाहिए—सुपर्णा दी ने कहा था...। सचमुच सुकेत की चिन्ता ही मेरे लिए सर्वोपरि है। सुकेत की चिन्ता, उसका सुख, क्या है वह ? इतनी दूर बैठे तो मैं उसके लिए उतना कुछ कर भी नहीं सकती हूं और जितना कुछ कर सकती हूं, वह अपनी परिवर्तित स्थिति में कहीं भी कर पाऊंगी, मुझे विश्वास है। क्या चीज़ रोक रही है मुझे आखिर ? कितने व्यक्ति ऐसे हैं, जिनके विचार आपस में पूरी तरह मिल ही जाते हैं ? बाहरी स्थिति तो देख भी ली जा सकती है, पर भीतर की प्रकृति कितने लोग समझ पाते हैं। मैंने समझ लिया है तो मैं सब कुछ को अपने अनुकूल भी तो बना सकती हूं।

...एक दिन तो मैं खुद ही कहीं दूर चले जाने की इच्छा कर रही थी, अब मौका आया है, तो मैं इतने पसोपेश में क्यों पड़ी हूं ? मुझे छल कर किसी को क्या मिलेगा ? कभी-कभी क्यों सोच बैठती हूं मैं, कि चित्रा भट्टाचार्य का यह षड्यन्त्र है। उनका षड्यन्त्र भी क्या होगा ? बात स्पष्ट है, वे स्वयं विवाह कर नहीं सकतीं, करना नहीं चाहतीं। डॉ० शुभा दत्ता तो इतनी धर्मान्ध और जातिप्रेमी हैं, डॉ० माण्डेकर और डॉ० कुलकर्णी का प्रश्न ही नहीं उठता। रही लीना, उसके तो विचार ही इतने क्रान्तिकारी हैं, कि उसकी अक्ल में कुछ भी धंसाने के लिए अभी समय लगेगा, फिर सबसे बड़ी बात तो यह है, कि डॉ० कश्यप ने मुझे खुद पसन्द किया है, इसमें किसी की बात ही क्या है !

मनीषी बहुत देर तक गुम बैठी सोचती रही—सुकेत का पत्र सामने खुला रखा रहा...। इतनी देर बाद उठकर खड़ी हुई तो किनारा साफ़-साफ़ नहीं दिख रहा था, पर डोंगी तैयार थी—कल वह सुकेत को पत्र लिखेगी, उसका परामर्श लेगी। सुकेत को भला क्या आपत्ति हो सकती है, वह तो खुद उसके सुख का अभिलाषी है, उसकी स्वीकृति पर अपनी मोहर लगा देना उसके लिए आसान रहेगा, इसलिए अपनी सहमति उसे लिखनी ही होगी। पर कैसे ? यह तो उसने सोचा ही नहीं था, संकोच की पर्त्त ने उसे चारों ओर से ढांप लिया। छुटका मां से कहूं ? छुटका मां के विचार तो

इतने प्रोग्रेसिव हैं, पर छुटका मां मेरी ज़िन्दगी के बारे में उतना कुछ जानती भी कहां हैं, जानें भी तो मुझे विश्वास है, छुटका मां कुछ बुरा नहीं मनाएंगी। क्या सुकेत जानता है, मैं कौन हूं ? कहां से आयी हूं ? मेरा पिछला इतिहास, सब कुछ ? उसने मुझसे इसका ज़िक्र कभी नहीं किया, पर मैं जानती हूं सुकेत को मालूम है। कितनी ही बार तो सुपर्णा दी से बात करते हुए सुकेत पास बैठा रहता था, उसे छोटा लड़का जान उसकी उपस्थिति को किसी ने गम्भीरता से लिया कहां था। तब ? पहले छुटका मां से कहना ही ठीक रहेगा। पर छुटका मां तो इस समय कीर्तन में गयी हैं, उनसे ही कहूंगी, पर कल सवेरे।

मनीषी ने कुर्सी बरामदे में खिसका ली और खुद मुंह-हाथ धोने, कपड़े बदलने भीतर जाने ही वाली थी कि अचानक शुचि ने गेट से पुकारा, 'डॉक्टर दीदी, आपका फ़ोन आया है !'

'फ़ोन आया है, मेरा, कहां से ? उसे लगा फ़ोन सुकेत का ही होगा, दौड़कर गयी तो फ़ोन चित्रा भट्टाचार्य की ओर से था—कल सुबह दिल्ली जाने वाली गाड़ी से डा० कश्यप दिल्ली जा रहे हैं, वहीं से वे वापिस चण्डीगढ़ जायेंगे; सी-आफ़ करने आ रही हो न ? मैंने तुम्हारे लिए यहां मेडिकल सुपरिन्टेन्डेन्ट से कह दिया है, कि तुम्हें आज अस्पताल पहुंचने में कुछ देर हो सकती है।'

मनीषी क्या कहती, ज़्यादा देर ठिठके खड़े रहना उसे अच्छा नहीं लगता था, 'हां आऊंगी।' कहकर उसने फ़ोन बन्द कर दिया। फ़ोन का चोंगा छोड़कर हटी तो उसे पता ही नहीं चला, वह कहां खड़ी है, क्या कह चुकी है—वह मना भी तो कर सकती थी···। चिन्तामग्न मुद्रा देखकर शुचि की मां ने पूछा :

'किसका फोन था ?

'चित्रा भट्टाचार्य का, मेरे साथ अस्पताल में हैं न ? वही डॉक्टर'

'क्यों, कोई सीरियस बात थी क्या ?'

'नहीं, कोई ख़ास बात तो नहीं थी। कल उन्हें [illegible] विदा करने जाना है, सो मुझसे साथ चलने के लिए कह रही थीं। मैं सोचने लगी थी···।'

नी

एक अधूरा/पूरा-सा वाक्य कहकर वह वापिस आ गयी। शुचि की मां की बात उसे अच्छी नहीं लगती। उस दिन सुकेत उनके कन्धे पर सिर रख कर रोया था, भला क्यों? आज भी जब कभी याद आती है तो हृदय में कुछ तीखा-सा बज उठता है। वह क्यों भूल जाती है कि कोई बड़ा धक्का लगने पर प्रथम उबाल में व्यक्ति की प्रतिक्रिया कुछ भी हो सकती है, उस समय किसी के लिए भी संतुलन रखना कठिन हो जाता है; सुकेत तो लड़का ही था और फिर उस समय वह घर पर थी भी कहां।···तो वह कुछ कह थोड़ी रही है, ठीक है, क्या बुरा हुआ? फिर भी एक बेमालूम-सी गांठ मन के कोने में बैठी रहती है। न जाने क्यों?

अपने कमरे में लौट कर उसने अभी-अभी उगे विचार को मसल कर मिटाना चाहा—वह डॉ० कश्यप को विदा देने कल स्टेशन जाने के बारे में सोचने लगी: अब कह दिया है तो जाना ही पड़ेगा, पर किसी को भी विदा देने का काम कितना मुश्किल है! फिर डॉ० कश्यप की ओर से तो उस प्रकार का प्रस्ताव भी मेरे सामने है। सामान्य बात होती, कुछ घटित न होता, तो बात दूसरी थी; पर अब तो कितनी झेंप आयेगी, फिलहाल कुछ निर्णय भी तो नहीं कर पायी हूं। हालांकि लग रहा है, कि सब कुछ अब निर्णीत ही है, तब भी विचित्र प्रकार के द्वन्द्वों-आशंकाओं ने मस्तिष्क को क्यों घेर रखा है। क्या करूं, कहां जाऊं, किससे पूछूं—एक ओर हल्की-हल्की पुलक जगती है, तो दूसरी ओर मडूबना-डूबा जाता है, कहीं जो कुछ होने जा रहा है, वह सब गलत तो नहीं।

एक बार विधाता ने जो उल्टा-पुल्टा कर दिया, उससे मन शायद सदा सदा के लिए शंकालु बन गया है: डॉ० कश्यप ने खुद मुझसे खुलकर बात क्यों नहीं की? अब हम लोग बच्चे तो नहीं, जिन्हें जोड़ने के लिए नाई-बामन की ज़रूरत होती है, बालिग़ लोग तो अपने बारे में काफी कुछ खुद ही सोच सकते हैं। पर यह भी शायद डॉ० कश्यप की शालीनता ही है, कि इतने शिक्षित इतने बड़े होने पर भी खुद बातचीत नहीं कर सके। मेरे इतने विवाद-तर्क-वितर्क से भी उन्हें कोई चोट नहीं पहुंची, मैं तो सोच रही थी···।

अगर नहीं गयी तो वे क्या सोचेंगे? क्या ज़रूरी है, कि तुम शादी

करो ही, पर शालीनता भी तो कोई चीज़ होती है। और अगर शादी करनी ही है, तब तो जाना और ज़रूरी है और नहीं करनी तो भी; जिससे वे कुछ अन्यथा न समझ लें, कुछ गलत। कितनी देर तक वह खुद अपने से झगड़ती रही; कभी-कभी बाहर की अपेक्षा भीतर-भीतर लड़ाई लड़ते रहना ज़्यादा सरल होता है, पर कितना सन्तापकारी और घुटनपूर्ण। नहीं-नहीं, अब उसे उस सबके सम्बन्ध में बिल्कुल कुछ नहीं सोचना है—वह जायेगी। डॉ० कश्यप खुद वचन के कितने पक्के हैं, कह दिया था, इसलिए उससे मिलने आये···।

आज उसने रंगीन साड़ी पहनी थी। क्यों पहनी थी, वह खुद नहीं जानती थी; कभी-कभी व्यक्ति अनजाने ही क्या कुछ करता रहता है। चलते-चलते एक नज़र उसने शीशे में अपने को हर कोण से देखा, थोड़ा मुस्करा कर, थोड़ा तिरछी दृष्टि से, थोड़ा गम्भीर होकर—क्षणांश को उसकी स्मृति में सुकेत कौंधा था, आज लौट कर वह उसे पत्र ज़रूर लिखेगी, उसने सोचा, जैसे घुप अंधेरे में कोई बिजली दमक उठे और फिर वह तुरत-फुरत बाहर निकल आयी। घर से बाहर निकलने पर काफ़ी दूर तक चलते रहने पर भी टैक्सी नहीं मिली तो वह चिन्तित हो उठी। दर्पण में स्वयं की एक ललित छवि देखकर भी अभी कुछ देर पहले उसके मन में आया था, कि सवारी नहीं मिलेगी तो अच्छा ही होगा, पहुंच पाने में असमर्थ रहने का उसे एक बहाना मिल जायेगा, पर अब सवारी न मिलने पर वह सचमुच उद्विग्न हो उठी—कोई न कोई सवारी उसे मिलनी ही चाहिए, उसे लगने लगा, जैसे कोई अनमोल वस्तु उसकी हथेली से फिसली चली जा रही हो और उसे कसकर पकड़े रहना ज़रूरी हो।

टैक्सी मिल ही गयी। सामने से आती हुई एक खाली टैक्सी उसके पास आकर ही रुक गयी, जैसे बस उसकी इच्छा की ही देर थी और इसीलिए इतनी देर से टैक्सी नहीं आ रही थी। पीली छत वाली छोटी टैक्सी में बिना कुछ देखे-कहे वह धप्प से दरवाज़ा खोलकर उसमें धंस-सी गयी। 'स्टेशन!' उसने बेमालूम स्वर में अपने भीतर-ही-भीतर उचारा, जैसे ड्राइवर उसके

गन्तव्य को जानता ही हो और उस सम्बन्ध में उससे कुछ भी कहना अनावश्यक हो। ड्राइवर बिना किसी प्रतिक्रिया के चुपचाप स्टीयरिंग व्हील को घुमाता रहा—मनीषी की आंखें हावड़ा ब्रिज को और उसको पार करके स्टेशन की ओर जाने वाली चौड़ी सड़क को ही देख रही थीं। लम्बे रास्तों को काटती हुई टैक्सी आखिरकार जब हुगली नदी के दोनों विशाल पाटों के बीच अधर में तने खड़े वृहद् हुगली पुल से धीरे-धीरे सरकने लगी, तो उसे कुछ सन्तोष हुआ—इतनी देर से वह इसी स्थान की प्रतीक्षा में जैसे सांस रोके हुए बैठी हो: ऐसी बेकली उसे क्यों हो रही है? डॉ० कश्यप के प्रति उसके मन के तन्तु क्या उसके अनजाने में ही उलझ चुके हैं? हृदय में कुछ कोमल-सा बजा और फिर एक वैक्यूम, यों ही···।

स्टेशन पर पहुंच कर टैक्सी से उतरी तो हृदय में किसी अलक्षित थिरकन के होते हुए भी संकोच की एक प्रतिच्छाया उसे हल्के-हल्के फिर जकड़ने लगी थी—उसे लगा, अपनी सम्पूर्ण शिक्षा के बावजूद वह बहुत कमज़ोर होती चली जा रही है। इतने भयंकर-भयंकर रोगों और बड़े महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्वों के सामने तनकर खड़ी रहने वाली वह परिपक्व महिला-डॉक्टर इस समय खुद को एक डरी-सहमी बच्ची की तरह महसूस कर रही थी, थिर रहने के लिए जिसे मात्र एक नन्हे से सूत्र की अपेक्षा हो, जिसके बिना वह मुंह के बल गिर ही तो जायेगी।

अच्छा हुआ, अभी कोई नहीं पहुंचा था; स्वस्थ-संतुलित होने के लिए उसे कुछ समय मिल जायेगा। डॉ० चित्रा भट्टाचार्य और डॉ० कश्यप तीन-चार लड़कियों के साथ दो-तीन मिनट बाद आये तो उसे अच्छा लगा; बहुत देर अकेले खड़े रहने की तवालत ही थी। चित्रा भट्टाचार्य उसे देखते ही चीखीं:

'हैलो मनीषी, तुम तो हमसे भी पहले आ पहुंचीं, चलो ठीक है!'

'चलो ठीक है!' ओठों को दबा कर कहा गया चित्रा भट्टाचार्य का यह स्वर क्या ध्वनित कर रहा है? उसका जल्दी आ जाना कहीं डॉ० कश्यप को देख लेने की उसकी व्यग्रता का सूचक तो नहीं हो गया? शब्दों के तल में यह भाव भी तो निहित हो सकता है, कि वह उन्हें विदा देने के लिए उत्सुक है?···आजकल वह हर बात की बाल की खाल क्यों निकालने लगी

है ? वात को वह सीधे-सच्चे-सरल ढंग से क्यों नहीं ले सकती ? इन दिनों उसका मस्तिष्क सचमुच ख़राव हो गया है।

चित्रा भट्टाचार्य सामान उठवा कर कुली के साथ-साथ वड़े सहज़ ढंग से आगे वढ़ने लगी थीं, लड़कियां कार से उतर कर अपने बालों और कपड़ों को सहलाती-व्यवस्थित करती पीछे हो गयी थीं, तभी डॉ० चित्रा भट्टाचार्य का साथ करने के लिए आगे वढ़ती मनीषी के पास पहुंच कर डॉ० कश्यप ने कहा, 'आपने वड़ी तकलीफ़ की।'

'अरे, इसमें तकलीफ़ की क्या वात है, मुझे तो आना ही चाहिए था।' मनीषी संकुचित हो उठी, वह फिर फंस गयी थी : आना ज़रूरी क्यों था ? क्या दूसरी कोई और डॉक्टर डॉ० कश्यप को विदा देने आयी है ? तव उसी के लिए यह क्यों आवश्यक था ? कुछ कहने से पहले कम से कम उसे एक क्षण सोच तो लेना चाहिए। जल्दी-जल्दी चलती हुई चित्रा भट्टाचार्य, तव तक चौड़े प्लेटफ़ार्म पर पहुंच चुकी थीं और वहीं से जल्दी आने के लिए हाथ हिला रही थीं। अव तक लड़कियों ने डॉ० कश्यप को घेर लिया था और वे साथ-साथ जुड़कर चलने लगी थीं—मनीषी ने स्वयं को उवरा हुआ अनुभव किया, इस बार वह लड़कियों का निरीक्षण वारीकी से करने लगी—लड़कियां स्कर्ट, शिफ़ट और खुले पायजामों में थीं। उनके कुर्ते तथा ब्लाउज़ काफ़ी गहरे गलों वाले और रंगीन थे। वाल प्रायः सवके कटे हुए थे और एक-दो लड़कियों ने सिर पर स्कार्फ़ बांधे हुए थे। एक लड़की के वाल अत्यन्त घुंघराले थे और सुवह के समय भी उसने वहुत वड़ा काला चश्मा लगाया हुआ था।

'कलकत्ते का स्टेशन सपाट है. हर तरफ़ से, एक मंज़िला और चिकना। सिर्फ़ फ़र्स्ट क्लास वेटिंगरूम दूसरी मंज़िल पर है, जो वहुत वड़ा है—कमरों के सामने वरामदे में खड़े होकर दूर-दूर तक फैली कलकत्ते की सड़कों और उन पर रिंगती अनगिन टैक्सियों और गाड़ियों की कतार को देखा जा सकता है...।' लड़कियां डॉ० कश्यप को अंग्रेज़ी में स्टेशन की इन्हीं सव खूवियों से परिचित करा रही थीं, जैसे डॉ० कश्यप को कलकत्ते के सम्वन्ध में कुछ मालूम ही न हो, वे पहली वार ही आये हों—मालूम नहीं डॉ० कश्यप उनकी पूरी वातें सुन पा रहे थे या नहीं, पर उनकी मुद्राएं हास्य-

पूर्ण और चंचल थीं। डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने उन्हें इस प्रकार धीरे-धीरे मटरगश्ती और अठखेलियां करते हुए आते देखा, तो अभी-अभी चलकर पहुंचीं मनीषी से वोलीं,'डॉ० कश्यप ने इन लड़कियों को काफ़ी शह दे रखी है, इसीलिए ये इतनी शैतान हो गयी हैं। अव वताओ, गाड़ी का समय होता जा रहा है, पर इनको अपनी वातों से छुट्टी नहीं मिल रही···' और इसी टिप्पणी के साथ मुंह के पास हथेली को गोलाकार करते हुए उन्होंने जोर से पुकारा :

'रन चिल्ड्रेन रन, वक्त वहुत कम रह गया है।' लड़कियों में से कोई भी अठारह-बीस वरस से कम की नहीं थी, मनीषी को 'चिल्ड्रेन' शव्द सुनकर हंसी आयी। लड़कियों ने सिर्फ़ यह देखा, कि डा० चित्रा भट्टाचार्य कुछ कह रही हैं, वे क्या कह रही हैं, यह शायद वे नहीं समझ पायीं; वे सव डॉ० कश्यप को ढकेलती-सी ले आयीं और सव एक साथ डिव्वे में चढ़ गयीं। डॉ० कश्यप नीचे रहे, चलते समय मनीषी और चित्रा भट्टाचार्य से वात न कर पाने के कारण शायद वे लज्जित थे।

'वैठना आपको चाहिए था, वैठ ये गयीं!' चित्रा भट्टाचार्य ने मुस्कराते हुए कहा।

'अव यही चली भी जायेंगी।' डॉ० कश्यप ने लड़कियों की ओर कन-खियों से देखते हुए कहा।

'हां, प्लीज़, हमें टिकट ला दीजिए, वी विल फ़ील ओव्लाइज़्ड!' खिड़की की ओर वैठी लड़की ने खिड़की से टिकी डॉ० कश्यप की बांह को थपथपाते और उस पर चिकोटी काटते हुए कहा; चित्रा भट्टाचार्य और डॉ० कश्यप के संवाद को उन्होंने सुन लिया था।

'हां तो मिस इन्द्रजीत, आपने वड़ी तकलीफ़ की! कहिए, आप ठीक तो हैं।' डॉ० कश्यप ने प्रत्युत्तर में लड़कियों को एक वार फिर कनखियों से देखा और मनीषी से फिर वही कह वैठे, जिसे वे अभी थोड़ी देर पहले कह चुके थे। सम्भवतः हड़वड़ी में डॉ० कश्यप को कोई दूसरी वात कहने को मिली ही नहीं, या वे भूले ही रहे कि वे प्रश्न की आवृत्ति कर रहे हैं—और प्रश्न का दोहराव भी स्थिति को देखते हुए सम्भवतः न खलता, पर मनीषी को इस वार प्रश्न में अशालीन हाव की जो गन्ध आयी, उससे उसे

मतली-सी होने लगी। वह तो चित्रा भट्टाचार्य से लड़कियों के सम्वन्ध में पूछने वाली थी, कहना चाहती थी कि जव डा० कश्यप को विदा करने इतने सारे लोगों को आना ही था, तो उसे क्यों तकलीफ़ दी गयी। पर सवके आसपास घिरकर आ जाने के कारण, वह उस प्रकार का कोई प्रश्न नहीं कर पायी। लड़कियों की उपस्थिति ने उतना नहीं, जितना अपनी निरर्थकता ने उसे असंतुलित वना दिया था—किसी को चुपचाप अकेले विदा देने की अनुभूति की सुकोमलता से वह परिचित थी—डॉ० कश्यप के प्रश्न का वह इस वार कोई उत्तर नहीं दे सकी। प्रश्न के दोहराव के साथ उत्तर का दोहराव उसे वहुत भोंडा प्रतीत होने लगा था, यद्यपि अपनी चुप्पी भी उसे उस क्षण सहज नहीं वना पा रही थी। अपने को सहज करने हेतु वह लड़कियों की ओर उन्मुख हुई, उनकी धींगा-मुस्ती, निःसंकोच हंसना-वोलना उसे सुरुचिपूर्ण नहीं लग रहा था, फिर भी वह मुस्कराती रही।

'अच्छा तो अव आप वैठिये चलकर और पहुंचते ही लैटर दीजिए!' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने सीटी सुनकर डॉ० कश्यप से कहा। सीटी के साथ ही लड़कियां गदर-पदर करती डिव्वे में से नीचे उतरने लगीं, डॉ० कश्यप नीचे से डिव्वे में चढ़ रहे थे, आखिरी उतरती हुई लड़की का स्कार्फ़ उन्होंने झटके से खींचा और अपनी गर्दन में लपेट लिया। 'ओह, दैट्ज़ चीटिंग। दैट्ज़ चीटिंग!' नीचे खड़ी हुई लड़कियां चिल्लायीं, जैसे दो पार्टियों के मध्य अभी तक कोई खेल चल रहा था और उसमें डॉ० कश्यप ने अचानक कोई वेईमानी कर डाली हो। जिस लड़की का स्कार्फ़ खींचा गया था, वह खूव खिलखिला रही थी, अपनी स्कर्ट को संभालती हुई वह गाड़ी से प्लेट-फार्म पर धप्प से कूद पड़ी और फिर हाथ वढ़ा कर वोली, 'किस मी, वट डोन्ट टेक अवे माई स्कार्फ़! प्लीज़, हरीअप!' डॉ० कश्यप ने स्कार्फ़ वाहर उछाल दिया, वोले, 'दूसरी चीज़ ड्यू रही!'

'ह्वाट्ज़ दिस नोन्सेन्स!' मनीषी वुदवुदायी, उस ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। गाड़ी हिल चुकी थी और अव सरकने को ही थी। डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने मुस्करा कर डॉ० कश्यप के खिड़की से वाहर निकले हाथ पर अपना हाथ रख दिया, 'विश यू हैप्पी जरनी!' उसने कहा और अपने पर्स में रखे रूमाल को हिलाने के लिए ढूंढ़ने लगी। डॉ० कश्यप ने

हाथ मनीषी की ओर बढ़ा दिया, मनीषी का हाथ बस थोड़ा चंचल होकर रह गया, पूरे प्रयत्न के बावजूद डॉ० कश्यप के हाथ का स्पर्श कर लेने के लिए वह बढ़ ही नहीं पाया। गाड़ी सरक रही थी और सब लड़कियां अपनी बांहों को खूब ऊंचा उठाकर हिला रही थीं, प्लेटफार्म से गाड़ी ओझल होने पर सब वापिस मुड़ीं तो वही लड़की, जो डिब्बे में सबसे पीछे रह गयी थी, अपने स्कार्फ़ को खोल कर सिर पर बांधती हुई बोली, 'व्हाट् अ नाटी ब्वाय !'

बाहर खड़ी कार तक आते हुए लड़कियां डॉ० चित्रा भट्टाचार्य से चिपट गयीं, 'आंटी, डॉ० कश्यप इज़ अ फ़ाइन फैलो नो डाउट !'

'हुं ! चलो, जल्दी-जल्दी आगे चलो ! देखो ड्राइवर कहां है ?' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने लड़कियों को आगे बढ़ाया, खुद मनीषी से बोलीं, 'डॉ० कश्यप जितने दिन रहे, इन लड़कियों ने नाक में दम कर दिया उनका। और डॉ० कश्यप को क्योंकि इनकी गाड़ी की गरज़ थी, सो बेचारे सब कुछ सहते थे—उस रात तुम इसी गाड़ी में घर गयी थीं, याद है ? उधर अस्पताल के पास ही तो रहते हैं ये लोग, डॉ० कश्यप इनके पेयरेन्ट्स को जानते हैं।' मनीषी ने याद करना चाहा, पर सब कुछ गड्डमड्ड होता चला जा रहा था, शायद उसका मस्तिष्क कुछ याद करना ही नहीं चाहता था।

'अब सीधे अस्पताल चलेंगे न हम !' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने इसके बाद कहा, तो मनीषी बोली, 'मैं थोड़ा ठहर कर आऊंगी, छुटका मां मेरा इन्तज़ार कर रही होंगी।' मनीषी की अन्यमनस्कता को डॉ० चित्रा भट्टाचार्य पहचान गयी थीं, इसलिए चुपचाप लड़कियों के साथ गाड़ी में बैठ गयीं, 'चलो तुम्हें घर छोड़ देंगे।' चलते-चलते उन्होंने फिर कहा, पर इससे पहले, कि लड़कियों में से कोई कुछ प्रस्ताव करे, मनीषी संकेत से अस्वीकार करती हुई दूसरी ओर मुड़ गयी।

सोलह

मनीषी दूसरी टैक्सी से घर पहुंची और जाते ही बिस्तर में लेट गयी। छुटका मां के दो बार बुलाने पर भी वह उठी नहीं, आंखें मूंदे-मूंदे ही उसने कहा, 'छुटका मां, तुम भी खा-पी लो, मैंने कुछ उधर ही खा लिया था। अब नहीं खाऊंगी, प्लीज़!' छुटका मां 'प्लीज़' शब्द से परिचित थी, यह भी जानती थी, कि मनीषी उस शब्द का प्रयोग उस समय ही करती है, जब वह कुछ और अधिक नहीं कहना चाहती। छुटका मां के लिए यह एक प्रकार से चले जाने का ही संकेत होता है—दरवाज़े के पल्लू फेर कर वे चुपचाप बाहर निकल आयीं। खाना खाने के लिए उसकी भी इच्छा नहीं हुई, तो उसने खाना उठा कर रख दिया और पीछे आउटहाउस में रहती मालिन की लड़की को कुछ देर खिलाती रही और फिर वहीं बरामदे में खटिया डाल कर लेट गयी।

मनीषी ने छुटका मां को हटा दिया, लेकिन मस्तिष्क पर छाये विचारों के बादलों को वह नहीं हटा सकी। ये विचार नहीं थे, भिन्न तस्वीरें थीं, जो उसकी आंखों के सामने बलात् आ-आकर टंग जाती थीं, गड्डमड्ड एक दूसरी के ऊपर। और मस्तिष्क की दीवार, जैसे उनके बार-बार हटने और टंगने से लहूलुहान हो चुकी थी। क्यों गयी वह स्टेशन पर यह सब देखने के लिए? न जाती तो और भी बुरा होता, वह वे दृश्य देख ही नहीं पाती, जिन्होंने उसे भीतर तक छील दिया है।

'डॉ० कश्यप को उनकी गाड़ी की गरज थी, सो बेचारे सब कुछ सहते थे।' 'लड़कियां शैतान थीं, पूरे समय डॉ० कश्यप का नाक में दम किये रहीं...।' चित्रा भट्टाचार्य के अनेक वाक्यों के बावजूद उसके दिमाग़ में मोटी बताशे वाली कील बड़ी बेरहमी से ठोंकी जाती रही। लड़कियां क्रिश्चियन थीं, शैतान थीं, पर अपनी गरज़ के लिए क्या व्यक्ति अपने को इतना सस्ता बना सकता है? क्या वे अपनी संस्कृति, अपने चलन के बारे में बिल्कुल भूल गये? डा० कश्यप की रंगीन प्रकृति उनकी इन हरकतों से

साफ़ झलक रही थी—नहीं, मनीषी इस सब को सहन नहीं कर पायेगी। अच्छा हुआ, उसने वो सब अपनी आंखों से देख लिया। वह उन स्त्रियों में से नहीं है, जो पति की हर आदत को तरह देकर चल सकती हैं और फिर यह आदत ! मनीषी के मन के कांच को जैसे किसी ने पत्थर मार कर चूर-चूर कर डाला हो। उसे लगा एक नन्ही-सी बिना पंख वाली चिड़िया को दो-चार चिड़ीमारों ने एक बड़ा कपड़ा डाल कर दबोच लिया है और सब उसको भीतर-ही-भीतर मसले चले जा रहे हैं। झड़े हुए पंखों वाली कुचली हुई उस चिड़िया को लेकर जैसे सबने, फिर एक साथ ऊपर उछाला है और वह एक बड़े गहरे नाले में जाकर गिर पड़ी है, अधमरी नहीं, प्राणहीन बन कर।

सुकेऽऽत ! ! वह ज़ोर से चीखना चाहती थी पर आवाज़ उसके गले से बाहर ही नहीं निकल पा रही थी, उसे लग रहा था, जैसे उसने अपने सुकेत के तईं कोई बड़ा भारी छल कर डाला हो और उसके छल का ही उसे यह दण्ड मिला हो। बेचारी वह ! क्या समझ कर लोगों ने उसे छलना चाहा ? सुकेत दूर चला गया है इसीलिए उसके सीधेपन का नाजायज़ फायदा उठाया गया क्या ? और वह स्वयं पर तरस खाती हुई एक निरीह बच्ची की तरह हिल्की भर कर रो उठी। बहुत देर तक रोती रही और रोते-रोते सो गई। जगी तो उसे आश्चर्य हुआ, वह क्यों रोई थी ? डा० कश्यप उसके थे ही कौन ? उनके व्यवहार-चरित्र से उसे क्या लेना-देना ! वह तो अच्छी-खासी अपने घर में रह रही है, कुछ लोगों ने उसे फंसाना चाहा था, वह नहीं फंस सकी, अच्छा ही हुआ।

सुपर्णा दी उस पर एक उत्तरदायित्व डाल गयी हैं, उसे वही निभाना है, निभाते रहना है, आखिर उसे किस चीज़ की कमी है ? अस्पताल की नर्स वासन्ती उसकी आंखों के आगे घूम गयी—चार-पांच कुलबुलाते बच्चों को छोड़कर उसका आदमी न जाने कहां चला गया है, आज तक पता नहीं। कुछ दिन लोग कहते रहे, फौज में भरती हो गया है, फिर किसी ने बताया, उन्होंने उसे आसनसोल स्टेशन पर किसी कैन्टीन में काम करते देखा है—वासन्ती इधर-उधर छटपटाती उसे ढूंढ़ती फिरी, कुछ हाथ नहीं लगा और चुप होकर बैठ गयी। अब अपने नन्हे-मुन्नों के लिए रात-दिन खटती

रहती है।

एक हैं डॉ० कुलकर्णी, होंगी सुखी, दूसरों को तो कुछ इसी प्रकार के भाषण झाड़ती रहती हैं; पति से मिलने, उन्हें ही हर छठे महीने बंगलौर जाना पड़ता है, कौन जानता है वहां पति हैं भी या नहीं।

...और उस दिन वह ज़हर खाने वाली लड़की बता रही थी कि उसके माता-पिता में कभी नहीं बनी। उसके पैदा होते ही पिता दूसरे शहर में चले गये थे, मां के जापे के दिनों में ही उनका किसी विधवा स्त्री से सम्बन्ध चल गया था। उसे ही अपने साथ लेकर वह दूर चले गये थे। मां को कुछ रुपया भेज देते थे—बस इतना ही। मां के चार बच्चे इसी हालत में हुए। क्या फ़ायदा ऐसे दाम्पत्य जीवन से। अब जब वह विधवा औरत दो बच्चों को उनके पास ही छोड़ कर चली गयी है, तो ज्वार उतरा है, अब मात्र लड़ाई शेष रह गयी है जो कलह तू-तू मैं-मैं और मार-काट के रूप में अब तक होती रहती है—इसी सबसे घबड़ा कर उसने शादी का इरादा हमेशा के लिए छोड़ दिया है—ज़हर भी उसने इसीलिए खाया था। ऊंह क्या रखा है इन सब चीज़ों में! वह तो बाल-बाल बच गयी—उसे तो प्रसन्न होना चाहिए।

आज मनीषी प्रयत्न करने पर भी अस्पताल नहीं जा पायी। अस्पताल में उसने फोन करवा दिया, कि भयंकर सिरदर्द के कारण वह आ नहीं सकेगी।

सत्रह

उस दिन धीरे से टैक्सी से उतर कर सुकेत छोटी-सी अटैची थामे बरामदे में आकर खड़ा हो गया, तो मनीषी को हैरानी हुई, 'अरे सुकेत

तुम !! कैसे ? न कोई चिट्ठी न पत्री !!' आह्लाद और आश्चर्य का एक छोटा-सा सम्मिश्रण। छुटका से तो कह दूं ! और सुकेत की उस एकाएकी प्रगट आकृति के सामने जैसे वह ठहर ही न पा रही हो—वह तुरन्त भाग कर रसोई की तरफ़ चली गयी, 'छुटका मां, सुकेत आये हैं, सुकेत !'

'भइया !!' उसके अपने स्वर में कोई चीख जैसा उत्तेजक स्वर नहीं था, पर छुटका मां सुनते ही चीख उठी और लवर-भवर दौड़ कर बाहर आ गयी—

'भइया, जीते रहो बेटा, सुखी रहो।' सुकेत के मूक अभिवादन का छुटका मां ने पुलकित होकर उत्तर दिया और फिर वे उसी गति से फिर वापिस लौट गयी, मानो सिर्फ़ वह यही देखने के लिए ही आयी हो, कि क्या सचमुच सुकेत आ गया था, मनीषी की बात पर जैसे उसे विश्वास ही न हुआ हो। अब दुबारा सुस्थ होकर लौटी, तो उसके हाथ में दूध का गिलास और कुछ बिस्किट थे।

'बेटा, मुंह-हाथ धोकर कुछ खा लो, न जाने कब के चले हो !' छुटका मां को यह पूछने की ज़रूरत ही न थी, कि वह कब चला था, उस बात का जैसे उसने खुद ही निर्णय कर लिया।

'छुटका मां, दूध ?' इतनी देर बैठ लेने के बाद सुकेत पहले यही शब्द बोला, 'दूध तो मैं भूल ही गया, कैसा होता है।'

'तभी न सकल निकल आयी है ! इत्ता कमाते हो, दूध के तईं नहीं जुड़ता ?' छुटका मां के स्वर में दुःख और विस्मय था।

'वो बात नहीं है छुटका मां, बात यह है कि उधर अच्छा दूध मिलता ही नहीं; जो मिलता है उसे पीने की इच्छा नहीं होती।'

'सच्ची, इत्ते बड़े सहर में अच्छा दूध नहीं मिलता !'

'अब तुम्हीं सोचो, कलकत्ता तो कानपुर से भी बड़ा शहर है, यहां अच्छा दूध कहां मिलता है ? यह भी समझो। थोड़ा बहुत जो कुछ यहां मिल जाता है, वह तुम्हारी ही मेहनत से, नहीं तो•••।'

'नहीं भइया, अब वो मेहनत नहीं होती, मन ही नहीं उठता।'

'क्या मतलब, तुम लोग खाना भी खाती हो कि वह भी छोड़ दिया ?' इस बार सुकेत ने सामने छोटे मूढ़े पर बैठी मनीषी को देखा, जो अब तक

सबके कामों में एकदम खलल पड़ गया हो। वाइ द वे तुम्हें अस्पताल कब जाना है ?'

'चली जाऊंगी।'

'आखिर किस समय ?'

'ऐसी कोई बात नहीं है, छुट्टी भी ले सकती हूं।'

'कैसे ?'

'डॉ० माण्डेकर थीं न, तुम्हें याद है न···?'

'सब कुछ भूली शायद तुम्हीं हो !' सुकेत ने बीच में ही टोकते हुए कहा।

'मैं कैसे भूल गयी ? खैर, पहले मेरी बात तो सुन लो ! डॉ० माण्डेकर कुछ दिन के लिए बाहर जाना चाहती हैं, उस समय उनकी नाइट ड्यूटी मैं संभालूंगी, इसलिए वे मेरी मदद कर सकती हैं, बस यही।'

'तब ठीक है, पर ठीक क्या मैं तो समझती हूं कि मेरा आना भी ठीक नहीं रहा।'

'डोण्ट बी सो क्रूअल सुकेत !'

'इसमें क्रूअल्टी की बात क्या है, साफ़ है, तुम्हारा चेहरा इसकी गवाही दे रहा है।'

'ओह, सब बताऊंगी। तुम्हें क्या मालूम, इस समय मुझे तुम्हारी कितनी ज़रूरत थी।'

'तब लिखा क्यों नहीं ? बड़ी मुश्किल से सिर्फ़ दो-तीन लाइनें पा सका, इसीलिए न चला आया देखने के लिए कि आखिर बात क्या है, सब खैरियत तो है। यहां आकर देखा तो सचमुच चेहरे पर मातमियत पुती हुई है।'

'तुम्हें सिर्फ़ चेहरे पर दिख रही है ?'

'क्यों, क्या भीतर भी यही रंग है ?'

'चलो छोड़ो उन बातों को, दूध पियो !' मनीषी ने सुकेत का ध्यान दूसरी ओर फेरा, छुटका मां चाय व दूध ले आयी थी।

'तो लगता है आज की तारीख में तन्दुरुस्ती सिर्फ़ मुझे ही बनानी है।' सामने रखे दूध के गिलास को उठाकर ओठों से छुआते हुए सुकेत ने कहा।

'सुकेत, यू आर नाट द लीस्ट चेंज्ड !' मनीषी चाय का प्याला छुटका मां को थमाते हुए मुस्करायी।

'सिर्फ़ ऊपर से ही !' सुकेत कहीं दूर देखने लगा था।

'मन से क्या बदल गये हो !'

'वन वे ट्रैफ़िक हमेशा कैसे चल सकता है ? मुश्किल है न !'

'क्या मतलब ? आख़िर तुम्हें हो क्या गया है सुकेत !'

'बताऊंगा, चलो कहीं बाहर घूमने चलें।'

'घूमने ?'

'क्यों, तुम्हें अचरज लग रहा है ! बात यह है कि पहले मैं तुम्हें घुमाने लायक नहीं था, छोटा था न, अब बड़ा हो गया हूं और तुम्हें इधर-उधर की सैर बख़ूबी करा सकता हूं। छुटका मां, ठीक कह रहा है न तुम्हारा सुकेत भइया ?' बिस्किट की प्लेट छुटका मां के आगे करते हुए सुकेत ने कहा।

छुटका मां मुस्करायी, बोली, 'भइया ठीक तो कह रहे हैं—चली जाओ न बिटिया, कभी बाहर नहीं निकलतीं, बस अस्पताल और घर, कभी तो घूमा-फिरा करो, अपनी तन्दुरुस्ती की क्या गत कर ली है !'

'छुटका मां !' मनीषी छोटी बच्ची की तरह ठुनठुनायी, 'तुम खूब हो, तुम भी चलो न !'

'हम, हम अभी नहीं चलेंगी। भइया और तुम घूम-फिर के लौट आओ, हम बढ़िया खाना बनाके रक्खेंगी, तुम दोनों आकर खाना। हम तो किसी वक़्त लम्बा धावा मारेंगी, कानपुर तक।'

'तो फिर वायदा पक्का रहा न छुटका मां !'

'पक्का भइया, बिल्कुल पक्का।' और छुटका मां ने मनीषी को सुकेत के साथ ठेल ही तो दिया—'बिचारी रात-दिन मसक्कत करती है, रत्ती-भर सुख-आराम नहीं, अच्छा है कुछ देर तो चैन मिले।' छुटका मां मन-मन में धुनती-बिनती बरामदे में दोनों को जाते हुए देखती खड़ी रही।

'हम लोग कहां चलेंगे ?' बाहर निकलते हुए मनीषी पूछ रही थी।

'कहीं भी, बोटेनिकल गार्डन्स चले चलते हैं, शायद तुमने देखा भी

नहीं है, मेरे पीछे देख लिया हो, तो दूसरी वात है।' 'सुकेत ने व्यंग्यपूर्ण स्वर में कहा—

'सचमुच, तुम्हारे पीछे मैंने वहुत कुछ देख लिया है, पर यह जगह नहीं।'

'और क्या-क्या ?'

'अव सव एक साथ वताऊंगी।'

सुकेत ने मोड़ पार करते ही टैक्सी ले ली। सुकेत ने कव टैक्सी वाले से वोटेनिकल गार्डन्स चलने की वात कह दी, मनीषी को पता ही नहीं चला। वह कुछ और सोचने लगी थी। एस्प्लेनेड से हावड़ा व्रिज पार करती हुई टैक्सी स्टेशन पर पहुंची तो वह सहसा चौंक सी गयी।'

'कहीं टैक्सीवाला ग़लत रास्ते पर तो गाड़ी नहीं ले जा रहा ?'

'ग़लत रास्ता, तुम्हें यह भ्रम कैसे हुआ ? क्या तुम रास्ता जानती हो ?'

'नहीं तो, पर मुझे ऐसा ही लगा।' मनीषी ने खिड़की से वाहर सिर निकाल कर देखते हुए कहा।

'तुम्हें ऐसा लगा, भला क्यों ? मनि तुम्हें आखिर हो क्या गया है ! यू आर वेरी मच चेंज्ड !'

'सच कह रहे हो सुकेत ?' मनीषी ने अपना हाथ सुकेत के घुटने पर रखते हुए कहा, उसे लगा जैसे सुकेत ने इतनी देर से कुरेदती उसके मन की भीतरी रग पकड़ ली हो।

'झूठ क्यों कहूंगा ! सच पूछो तो इसीलिए मैं तुम्हें अपने साथ आज वाहर लाया हूं, कि मैं वो सव कुछ जानना चहाता हूं, जिसने तुम्हारे मस्तिष्क को गड़वड़ा रखा है।'

'कानपुर से क्या ज्योतिष विद्या भी सीखकर आ गये हो ?' मनीषी ने हल्के-फुल्के होने का प्रयत्न किया, कई गाड़ियां एक साथ शोर मचाती हुई एक के पीछे एक करके पास से निकल गयीं, सुकेत ने ध्यान नहीं दिया, वड़े गम्भीर रूप से हंसते हुए वोला :

'मैं क्या कभी सोच सकता था, कि मैं आऊंगा और तुम ज्यों की त्यों गुम वनी बैठी रहोगी, नो रिएक्शन, मनि, मेरे आने-न आने की अब तुम्हें कोई परवाह नहीं है न ?'

'तुम ऐसा ही सोचते हो सुकेत ?' मनीषी का स्वर रुंधने सा लगा, भीगी आंखों को छिपाने के लिए वह फिर खिड़की से वाहर देखने लगी।

'कितने गड्ढे हैं इस सड़क पर !' वात वदलने के लिए उसने कहा।

'अगर वस से आतीं तो तुम्हें पता चलता, दचकों के मारे कमर सीधी हो जाती। यह तो अच्छा है, हम टैक्सी से चल रहे हैं। शहर से वाहर की सड़क है, अभी पूरी तरह पक्की नहीं वन पायी है।'

'हुं !' टैक्सी अव गार्डन के गेट पर आकर खड़ी हो गई थी।

'पैसे मैं दे रही हूं, कितने देने हैं ?' मनीषी ने उतर कर पर्स टटोलते हुए कहा।

'मेरी वेइज़्ज़ती तो मत करो मनि !' सुकेत के स्वर में आदेश, निषेध और अधिकार तीनों एक साथ वोल रहे थे।

'अव मैं तुमसे वड़ा हो गया हूं, समझीं!' टैक्सी के किराये का भुगतान करते हुए गेट के भीतर सड़क पर चलते हुए सुकेत ने कहा। मनीषी विना कुछ कहे प्रश्नात्मक मुद्रा में उसके चेहरे की ओर देखने लगी।

'मैं वड़ा हो गया हूं, क्योंकि अब मैं भी कमाने लगा हूं, आय कैन स्पेन्ड फ़ॉर यू नाऊ !' सुकेत अंग्रेज़ी में कहते हुए पर्स की जिप वन्द करने लगा था।

'वो तो तुम हमेशा कर सकते थे, तुम्हारा और मेरा पैसा क्या कभी अलग था, और तुम तो खुद भी इतनी वड़ी सम्पत्ति के मालिक हो !'

'नाट मी अलोन!' सुकेत ने गम्भीर किन्तु धीमे स्वर में कहा। मनीषी साथ-साथ चलती उसके गम्भीर चेहरे को देखती रही। दोनों ओर हरे-हरे लम्वे-तडंगे घनें पेड़ों की क़तार थी और वाईं ओर पेड़ों के साथ जुड़ कर वहती हुई हुगली।

'इतने दिन कलकत्ते में रहते हुए हो गये, पर कभी यहां आकर नहीं देखा, कितना ख़ूवसूरत है।' मनीषी आंखें फाड़े देख रही थी।

'तुम आना ही नहीं चाहती थीं !'

'आना ही नहीं चाहती थीं !! क्या कह रहे हो सुकेत !' सुकेत का चेहरा एकाएक गम्भीर हो उठा था, उसके क़दम तेज़ी से बढ़ते चले जा रहे थे।

'देखो मनि, हुगली में खड़े ये जहाज़!' सुकेत ने एकाएकी संकेत किया तो मनीषी चौंकी। अपनी री में डूबी सुकेत के साथ-साथ चलते हुए अपने आस-पास के परिवेष से एकदम अचेत—सुकेत के शब्दों के साथ ही उसने चौंक कर देखा, वह पानी के कितना करीब आ चुकी थी। उसके लिए यह एक नया अजूबा था—हुगली का विशाल विराट पाट और उसमें दूर-पास खड़े अनेक बड़े-बड़े कई-कई मंज़िलों वाले जहाज़।

'आओ, जहाज़ों को गिनें।' सुकेत उसका हाथ थाम कर किनारे के साथ-साथ दौड़ने लगा, तो वह चीखी :

'सुकेत, क्या हो रहा है तुम्हें, ठोकर खाकर गिर पड़ूंगी। देखते नहीं हो !' सुकेत ने उसका हाथ नहीं छोड़ा, उसे नीचे झुका कर वह किनारे पर की हरी-हरी घास पर बैठ गया, हुगली के पानी के एकदम क़रीब।

'देखो, दूर पर वह स्टीमर !' सुकेत ने संकेत किया। मनीषी जैसे कुछ न सुन रही हो, बस देख भर रही हो—छह-छह मंज़िलों वाले जहाज़ और उनके आसपास रिंगती ढेर सारी नौकाएं।

'देखो, अभी यह स्टीमर पानी को चीरता हुआ आयेगा और तब ये नौकाएं छिटक कर दूर हो जायंगी। स्टीमर से कटते हुए पानी की विकट उछाल को ये नहीं सह सकतीं।' पास बैठा हुआ सुकेत एक समझदार बड़े व्यक्ति की तरह दिख रहा था और मनीषी घुटनों को बाँहों से लपेटे एक बच्ची की तरह विस्मित दृष्टि से निर्निमेष देख रही थी।

स्टीमर सामने से निकल गया, पानी में वृत्त बनते चले गये।

'ओफ़्फ़ो, कितना बड़ा जहाज़ !' एकदम खामोश बैठी मनीषी इस बार अचानक कीक उठी।

'विदेशी लगता है, देखो इस पर उड़ता हुआ झण्डा। मोटी-मोटी पीली चिमनियों से बादलों के रंग का धुआं निकलता हुआ कैसा लग रहा है। इसकी आवाज़ सुनो !' सुकेत खिसक कर मनीषी के थोड़ा और पास बैठ गया, जैसे कोई छोटा बच्चा घटित होने वाली बड़ी कीक से आशंकित

हो एक बड़े सम्बल के साथ जुड़कर बैठ गया हो।

एक बहुत विशाल मोटी भोंपू जैसी आवाज़ उठी, जिसकी अनुध्वनि पीछे बहुत देर तक रड़कती-सी चली गयी, मनीषी ने कानों में उंगलियां ठूंस लीं। छोटे बच्चों की तरह दोनों जहाज़ों का खेल बहुत देर तक देखते रहे। दूसरे किनारे पर बड़े-बड़े क्रेन खड़े थे। बड़े-बड़े जहाजों के आगे बहुत से लट्ठे बहते चले जा रहे थे, जैसे घमण्ड कर रहे हों, देखो हम तुमसे भी आगे बढ़ सकते हैं, रोक सको तो रोक लो।

मनीषी चुपचाप देखती रही, फिर एकाएकी दबे स्वर में बोली, 'हावड़ा ब्रिज और हुगली दोनों एक हैं, हावड़ा ब्रिज पर बैलगाड़ी, विक्टोरिया, टैक्सियां, डबलडेकर बसें एक साथ दौड़ती हैं, तो हुगली की छाती पर बेड़े, स्टीमर, नावें और जहाज़ एक साथ फिसलते हैं, पुराने और नये दोनों तरह के वाहनों की यह दौड़ न जाने कब तक जारी रहेगी।'

'परिवहन मंत्री से मिलकर मालूम किया जायेगा।' सुकेत का स्वर गम्भीर था, मनीषी खिलखिलायी। सुकेत उसकी ओर ध्यान से देख रहा था।

'क्या देख रहे हो, मुझे नहीं पहचानते हो ?'

'अभी कुछ देर पहले पहचानना भूल गया था।'

'क्यों ?'

'क्योंकि तुम थीं ही नहीं।'

'मैं, मैं कैसे रहती हूं ?'

'हंसती-खिलखिलाती रहकर। तुम हंसती हो तो सच एकदम बच्ची-सी दिखती हो, मुझे तुम्हारा वही रूप प्रिय है। मैं तुम्हें कभी उदास नहीं देखना चाहता।'

'सच !'

'तुम झूठ समझती हो। अब बताओ तुम दुःखी क्यों थीं ? इतने दिनों बाद मैं आया और तुम्हारे चेहरे पर मुझे कोई उल्लास की रेख देखने के लिए नहीं मिली, भला क्यों ?'

'ऐसा तो नहीं था सुकेत ! मैं तुम्हें देख कर खुश नहीं थी, तुम ऐसा कैसे कह सकते हो ! ऐसा कभी हो सकता है ?'

'तुम मुझे वना नहीं सकतीं, मैं तुम्हारा जिस प्रकार का हंसता-खिल-खिलाता चेहरा देखना चाहता था, वह मुझे नहीं मिला।'

'तुम क्या यही सोच कर आये थे, कि मैं यहां हंसती-खिलखिलाती होऊंगी? सच वताओ, तुम यह सोच कर नहीं आये थे, कि मैं यहां दुःखी होऊंगी, वीमार होऊंगी या कुछ और, तभी न तुम मुझे देखने आये?'

'तुम ठीक कह रही हो।'

'तव तुम्हें अगर मैं थोड़ी वदली हुई दिखी, तो तुम्हें क्या वुरा लगा?'

'मैं तुम्हें वदला हुआ नहीं देखना चाहता।'

'अगर मैं वदल जाऊं तो?'

'कैसे वदलोगी?'

'नई ज़िन्दगी ग्रहण करके, तुम्हारे घर से कहीं दूर जाकर।' मनीषी का स्वर वहुत धीमा था, जैसे कहीं वहुत दूर लिखे अक्षर वह टटोल-टटोल कर पढ़ रही हो। सुकेत ने सुना, वह वहुत गम्भीर हो उठा था, वोला तो उसका स्वर भारी था।

'तुम मुझसे दूर चली जाना चाहती हो?'

'कैसी वातें कर रहे हो सुकेत?'

'यह तुम अपने से पूछो।'

'क्या पूछूं, कभी-कभी कुछ निश्चय नहीं कर पाती। अपने आस-पास यहां-वहां सैकड़ों दिशाएं देखती हूं और समझ नहीं पाती, कौन-सी दिशा मेरी है।' मनीषी वीच में ही अटक गयी।

'देखो मनीषी, मैं तुमसे पहले भी कई वार कह चुका हूं, तुम कहीं नहीं जाओगी, जाना भी चाहोगी, तो मैं तुम्हें इजाज़त नहीं दूंगा।'

मनीषी ने चाहा वह सव कुछ सुकेत के सामने खोलकर कह दे, कि क्या हुआ था, सव कुछ कैसे घटित हुआ, सव कुछ कैसे उसे एक ग़लत राह पर ले जा रहा था, वलात् ठेली जाकर वह कितनी दूर तक पहुंच चुकी थी, लौटने में उसे कितने दचके लगे थे और उन्हीं के फलस्वरूप वह कुचली पड़ी थी, अधमरी। पर मुंह से एक शव्द भी तो नहीं निकला, उसे लगा जैसे वह कोई वहुत वड़ा अपराध कर वैठी है, उसी के लिए वह धमकायी-डपटी जा रही है—इस दण्ड को उसे भुगतना चाहिये—हक्की-वक्की वह सुकेत

की आंखों में देखती रही—क्या यह वही सुकेत है? सुकेत उस इस समय अत्यन्त गम्भीर एक बुजुर्गवार की तरह दिख रहा था। इस थोड़े से समय में ही आज उसने सुकेत के कितने रूप देखे थे—कभी एक समझदार प्रौढ़ और उसके अभिभावक के रूप में, कभी अनेक अनूठी चीजों की ओर इंगित करता हुआ एक हर्षविनोदित विस्मय-विमुग्ध एक बच्चे के समान, कभी उसके अपने मन ने सुकेत को एक बेचैन-व्यथित तरुण की तरह दु:खित अनुभव किया था, किन्तु इस समय जो रूप उसे दिख रहा था, वह इन सब रूपों से भिन्न था—अतुलित सामर्थ्य लिये एक विचित्र उन्मादी व्यक्तित्व, जो शिशु जैसी निरीहता लिये हुए भी उसे बांध रखने के लिए दृढ़-निश्चयी बना खड़ा है—मनीषी की आंखें बहुत देर तक उसकी आंखों में नहीं देख सकीं, एक अद्भुत विचारलहरी से कंपकंपाता हुआ अपना चेहरा उसने अपने घुटनों के दुबीचे में छिपा लिया।

'सुनो मनीषी, मैं किसी बात को बार-बार नहीं दोहराता। एक दिन मैंने अपने स्नेह की दुहाई देकर तुमसे अपने पास रहने की याचना की थी—आज मैं अपने अधिकार से अंकुशित करके तुम्हें आदेश दे रहा हूं, तुम सपने में भी कहीं जाने की बात नहीं सोचोगी, समझी!' स्वर में एक बड़ा भारी आदेश, कोई उद्घाटित होती हुई चुनौती—आज पहली बार सुकेत ने मनीषी को उसके एक सर्वमान्य नाम से पुकारा था, मनीषी को विचित्र लगा। हर्ष, आश्चर्य और फिर एकाएकी किसी बड़े भारी क्षोभ से वह कट-सी गयी: आखिर क्या हक़ है सुकेत को कि वह किसी की ज़िन्दगी को इस तरह जकड़ कर रख ले, टस से मस न होने दे, विचारों की किसी ऊबड़-खाबड़ ज़मीन पर मन फिर चल निकला था। वह क्यों नहीं समझता, कि उसकी भी कोई इच्छा हो सकती है, कोई कामना अंगड़ाई ले सकती है, उसने किसी के लिए अपने को बन्धक तो नहीं रख दिया! बगूलों की तरह उठते इतने सारे विचारों में से उसने कोई भी विचार प्रगट नहीं किया, ओठों को एक-दूसरे से सटाये वह चुपचाप बैठी रही, पर उसके भीतर एक लहर-सी रिंग रही थी, ऊंची-नीची, हृदय के समस्त रन्ध्रों में एक सिहरन भरती हुई—कोई तो है जो उसे इस तरह अनुशासित करके रख पा रहा है, उसके सम्बन्ध में इतनी गम्भीरता से सोच रहा है, सन्तोष और हर्ष भी

तरंग धीरे-धीरे उसके भीतर हिलती-डुलती रही। कैसे समझ लिया उसने कि उसका कोई नहीं है और वह किन्हीं ऐरे-ग़ैरों के चलाये ही चलेगी—अगर वह सुकेत से लिख कर पूछती तो? एक दिन भीतर-ही-भीतर मथती-आन्दोलित करती उस दुःखान्त घटना ने उसे मसोस डाला, आंखों में आंसू छलछला आये, कहां जा रही थी वह ?

'क्या हुआ मनि, तुम्हें बुरा लगा ?'

'नहीं तो, आंख में कुछ किरकिरा रहा है।'

'लो रूमाल लो, निकाल डालो।' थोड़ा-सा ऊंचा उठ कर पैंट की जेब से उजला रूमाल निकाल कर उसने मनीषी के आगे कर दिया, 'लो पोंछो, नहीं तो लाओ, मैं निकाल दूं, कुछ गिर-गिरा गया होगा।' सुकेत ने आत्मीयतापूर्ण तटस्थ भाव से कहा।

'ऐसा कुछ नहीं है, अभी ठीक हुआ जाता है।' रूमाल की कोर से उसने आंसू पोंछ डाले।

'मैं तुमसे छोटा हूं मनि, तुम सोचती होगी, मुझे क्या हक़ है कि तुम्हें इस तरह डाटूं, कुछ कहूं, पर अब मैं सोचता हूं कि मुझे हक़ है। तुमसे दूर रह कर ही शायद मैं तुमसे बड़ा हो गया हूं। मुझे मेरी धृष्टता के लिए माफ़ कर दो मनि—सुकेत कहते-कहते बीच में ही लड़खड़ा सा गया, सामने बैठी मनीषी के घुटने से उसने अपना सिर टेक लिया, 'मुझे माफ़ कर दो !' उसके स्वर में रुदन-सा था।

'क्या कर रहे हो, कोई देखेगा तो क्या कहेगा। मैं नाराज़ कहां हूं, बहुत खुश हूं। सुपर्णा दी के बाद हम दोनों ही तो एक-दूसरे को कहने-सुनने के लिए रह गये हैं अगर मैं ग़लत राह चलूंगी, तो तुम्हीं तो रोकोगे न मुझे !'

'तुम ग़लत राह चल ही नहीं सकतीं मनि ! तुम तो इतनी समझदार हो !'

सुन कर आंसू मनीषी की आंख में फिर झूलने को हुए, पर घुटने पर झुके हुए सुकेत के सिर को हटाते हुए उसी रूमाल से उसने अपनी आंखें फिर पोंछ लीं, बोली, 'उठें न, हमें वापिस भी तो लौटना है।'

'हां, तुमने यह तो बताया नहीं, कि तुम दुःखी क्यों थीं ?' मनीषी को

आश्वस्त करता हुआ-सा स्वर सुन कर सुकेत स्वस्थ हुआ।

'कुछ भी नहीं है सुकेत, जो था वह समाप्त हो गया, अपने खुद के विचारों से ही तो कटती रहती हूं मैं।'

'मैं जानता हूं।'

सिर पर घने गाछ से कुछ सूखे पत्ते चरमरा कर झरे, ऊंची कलगी वाली एक खुटवड़ैया ठुकठुक करती पास से गुज़र गयी।

'चलो उठें।' शून्य में फुसफुसाता मनीषी का एक अकेला स्वर।

'उठें, तुम्हें मालूम है, यहां एक एशिया-प्रसिद्ध पेड़ भी है।'

'एशिया-प्रसिद्ध !

'और क्या, दूर-दूर से वहुत से लोगो उसे देखने आते हैं, चलो चलते हैं, उधर ही कुछ खायेंगे-पियेंगे।'

'अच्छा होता, कि हम अपने साथ कुछ बना कर ले आते।'

'चलो छोड़ो, यहां सब कुछ मिल जाता है।' सुकेत ने मनीषी का हाथ पकड़ कर उठाया, उसका पैर सो गया था।

'तुममें तो कुछ भी वोझ नहीं है, कितनी हल्की-फुल्की हो गई हो। कुछ खाती-पाती भी हो या नहीं ?'

'क्या वेकार-सी वात, विना खाये-पिये कोई रह सकता है ? चलो छोड़ो !' मनीषी खिलखिलायी, खड़े होकर उसने पैर झटकना शुरू कर दिया, गुदगुदी सी मची, तो वह गिरते-गिरते वची।'

'ठीक है न, अव चलें !' उद्यान के मध्य खिची लाल वजरी वाली सड़क पर दोनों धीरे-धीरे रिंगते चले। मनीषी घूम-घूम कर देख रही थी—पेड़ों के साथ सटी वहती हुगली—जल की विशाल राशि; इस अद्‌भुत रम्यता से कट कर हम किस तरह आ सके हैं...। वह सोच रही थी; गन्तव्य की ललक में व्यक्ति को शायद इतना ही निर्मम वनना पड़ता है।

'उफ़, कितना सुन्दर है !' मनीषी जैसे स्वप्नलोक से अरवरायी हो। अव वह सड़क के दोनों ओर वने छोटे-छोटे सरोवरों में तैरती नावों को देखने लगी थी—खिलौनों की तरह रिंगती रंगीन छोटी-छोटी नौकाएं।

'यहां आने वाले सैलानियों के लिए ये सरकारी नावें हैं।'

'चलो, इनमें बैठें।' सुकेत ने कहा, तो मनीषी बच्चों जैसे स्वर में किलकी।

'देर हो जायेगी, तो अंधेरे में वह प्रसिद्ध पेड़ भी नहीं देख पायेंगे, जिसे देखने के लिए दूर-दूर से आने वाले लोग लालायित रहते हैं।' सुकेत ने कहा और वह तेज़-तेज़ चलने लगा, 'हमारी इस स्पीड से काम नहीं चलेगा, चलो तेज़ चलें।'

'मुझे छोड़ दोगे ?'

'ऊंह, हाउ सिली !' सुकेत ने मनि का हाथ थाम लिया और उसे दौड़ाने लगा।

'मैं खुद चल रही हूं, प्लीज़ छोड़ो न, लोग हंस रहे हैं।' मनीषी ने सामने गोल बना कर बैठी हुई रंग-बिरंगी टोलियों को आंखों से इंगित करते हुए कहा।

'हंसने दो, लोगों के हंसने की परवाह की तो हो लिया।' सुकेत की गति में कोई अन्तर नहीं आया था, मनीषी का हाथ वह अब भी थामे हुए था।

'सांस फूल जायेगी, गिर पड़ूंगी या यहीं बैठ जाऊंगी। तुम्हारा वह एशिया-प्रसिद्ध पेड़ भी धरा रह जायेगा।' मनीषी ने सचमुच लथड़ते हुए कहा।

'अब वह पेड़ दूर थोड़ी है, देखो उधर !' सुकेत ने एक पत्थर की बेंच के पास रुकते हुए संकेत किया। सामने वही विशाल पेड़ था।

'यह पेड़ है या पेड़ों का झुरमुट !' मनीषी की आँखों में हैरानी थी।

'एक ही पेड़ है, उसी का यह फैला-फूटा परिवार है। पास पहुंच कर देखना !' दोनों पास पहुंच कर फिर ठिठक गये।

'देखो, इस बोर्ड पर यह बारीक-बारीक क्या लिखा है, पढ़ो।' सुकेत ने दिखाया और फिर और पास खड़ा होकर खुद पढ़ने लगा—

तने १०४४। वर्तमान वृक्ष की परिधि १२७७ फुट। सबसे ऊंची शाखा ८८ फुट। १६वीं शताब्दी की यात्रा-पुस्तकों में इसका उल्लेख है। एशिया में सबसे बड़ा पेड़ है। 'सुन रही हो न !' सुकेत पढ़ता रहा, यह वृक्ष २०० वर्ष पुराना कहा जाता है, किन्तु कब पैदा हुआ, नहीं मालूम। मूल

जड़ १९२५ में खत्म हो गई। कुछ मुख्य शाखाएं टूट गईं, किन्तु आश्चर्य की बात यह है, कि मुख्य तने के विना ही आज भी यह वृक्ष पूर्ण शक्तिशाली है। डालियों से निकल कर ज़मीन की ओर जाने वाला तथा तनों जैसा दिखाई देने वाला अपनी अनेक हवाई जड़ों सहित यह महान वृक्ष अपने आप में एक जंगल है।

'अपने-आप में एक जंगल!!' मनीपी ने इधर-उधर ज़मीन तक लटकी जड़ों को ध्यान से देखा, लटकती हुई हर जड़ एक सम्पूर्ण पेड़ बनी खड़ी थी और फिर उन सब पेड़ों का एक वृहद् गोलाकार झुरमुट—प्रकृति का एक अद्‌भुत रमणीक खिलवाड़।

'आश्चर्य है।' मनीपी ने एक बार फिर दृष्टि चौड़ायी।

'सचमुच आश्चर्य है, कुदरत के इस अजीव अजूवे के सामने हम आज कैसे खड़े हैं, कल इस समय मैं क्या कर रहा था, मैं सोच रहा हूं।'

'क्या कर रहे थे?'

'क्या वजा है इस समय, साढ़े चार न! कल इस समय मैं एक विचित्र सुख की कल्पना में अपने आफ़िस में काम निवटाने में तल्लीन था।'

'भूत!' मनीपी ने यों ही एक प्यार भरी झिड़की दी। चलो अव कुछ खिलाओ, वड़े ज़ोर की भूख लगी है।' सुकेत इधर-उधर देखने लगा, एक छोटा लड़का भेलपूरी का खोमचा लगाये खड़ा था, सुकेत की दृष्टि को पकड़ते हुए वोला :

'वावू, भेल!'

चलो आज इसी की दावत हो जाये! तुम्हें पसन्द भी है।'

दावत?'

'हां, और क्या?' सुकेत लड़के को दो पत्ते भेल तैयार करने का आदेश दे, मनीपी को समझाने लगा था। लड़का इस वीच आये एक दूसरे ख़रीदार को देने लगा तो सुकेत ने डपटा, 'तड़ातड़ी करिन ददा।'

मनीपी मुस्करायी, 'तुम भी खूव हो सुकेत! वेकार डांटते हो वेचारे को, करने दो।'

लड़के ने खोमचे में सजी चीज़ों को दो पत्तों में लगा कर नींवू-तेल डाल कर उछाला और दोनों पत्ते मनीपी की हथेलियों पर थमा दिये।

सुकेत ने पैसे दिये और फिर दोनों पत्थर की पटिया पर बैठ कर बहुत देर तक अपना मुंह जला-जला कर खाते रहे, भेल में बेहद मिर्चें थीं।

उस रात मनीषी देर तक नहीं सो सकी। लौटते हुए टैक्सी न मिल पाने के कारण बस के इन्तजार में खड़े-खड़े काफ़ी देर हो गई थी। हावड़ा ब्रिज से झांक कर देखी हुई हुगली के पानी को प्रतिचुम्बित करती हुई पुल के प्रकाश की लाल-पीली रोशनियाँ। पुल के नीचे एक ओर सीकरी और चटाई की झोंपड़ियों में रहने वाले मनुष्य की जात के घिनौने प्राणी, हंसते-खिलखिलाते-बिलबिलाते-रिरियाते उनके ढेरों बच्चे और लूट-चोरी-चकारी-जेबकतरी अथवा मेहनत-मजदूरी से कमायी अपनी आमदनी से जलते उनके अनगिन चूल्हे दूसरी ओर दूर पर ऊंचे पर चमचमाते ब्रिटानिया बिस्किट, बोरोलिन, माडेला ऊन, मर्फ़ी रेडियो की विज्ञप्ति करते हुए लुपलुप करते रंगीन विशाल इश्तहार—एक विचित्र विसंगति—चौरंगी की नियोन लाइट, खिलौनों की तरह नज़र आती हुई पीली छतों वाली टैक्सियों की बेहद लम्बी कतार और साथ-साथ दौड़ता एक विशाल जन-समूह—सुकेत के साथ देखा हुआ सब कुछ—गयी रात तक मनीषी की आंखों के आगे एक अद्भुत सृष्टि बनकर खूब झिलमिलाता रहा।

अठारह

क्या सचमुच सुकेत आया था ? आया था तो कब सच लगा था, कि वह आया है। जो चीजें उन दिनों सच दिखाई दे रही थीं, वे सब उसके जाने पर स्वप्न-सी दिखने लगी थीं—उस दिन देखा गया बोटेनिकल गार्डन, हुगली

का विशाल पाट, पानी की विराट जलराशि के मध्य खड़े जहाज़, छोटे-छोटे जलाशय, उनमें तैरती नौकाएं, हावड़ा पुल, चौरंगी की भीड़भाड़ और वह भव्य वटवृक्ष—लगता है, सब सपने में देखा था। जादू का एक राजकुमार आया था और उसको लिये जहां-तहां घूमता फिरा था। पर अब सुकेत का यह पत्र, पन्ना फैलाकर वह पढ़ने लगी—

'मेरी मनि,

तुमसे मिलकर आया था, तो लगा था शायद तुम्हारे सन्ताप को दूर करने में कुछ सहायक रहा हूं, तुम्हारा सन्ताप क्या था बिना यह जाने ही। कुछ दिन तक चुप रहा, सोचा तुम लिखोगी। अभी प्रतीक्षा में ही था, कि आफ़िस की ओर से मुझे चार दिन के लिए बाहर जाना पड़ा। जिस दिन यहां पत्र पाने की आशा में पता नहीं कहां-कहां से कैसे-कैसे भाग कर आया, उस तारीख को तुम्हें वहां कुछ क्षण मुझे लिखने को मिले। रोष आदि प्रकट करने की स्थिति में मैं अपने को नहीं पा रहा, मात्र वेदना ही व्यक्त कर सक रहा हूं। डरता हूं, इतनी दूर बैठे कुछ ऐसी-वैसी बात मैंने लिख दी तो कहीं उस स्नेह-मधु से वंचित न कर दिया जाऊं, जिस पर मैं यहां अवलम्बित हूं। क्यों, क्या इसी तरह मुझे दुखाती रहोगी? पत्र समय पर, क्यों नहीं देती हो?

सीधा लौटा था एक पत्र की आशा में, पर कभी मैंने कहा था न कि सुख तथा···भाग्यशालियों को ही मिला करते हैं···मनीषी ने पत्र का दूसरा पृष्ठ पलटा—मार्ग में सोच रहा था तुम्हारा एक पत्र पाकर मेरी सारी दुपहरी की गर्मी और थकान दूर हो जायेगी। शायद मैंने विनती की थी न, कि मुझे बहुत स्नेहयुक्त पत्र देना, इसलिए शायद यह पत्र बलात् लिख दिया है। सच, केवल इस कारण ही मधु मत घोला करो। पता नहीं क्यों, तुम्हें याद करते-करते यहां बहुत द्रवित हो उठता हूं। तुम तो सच में बहुत अच्छी हो, जो सोचती-चाहती हो, कर लेती हो। लेकिन मैं इधर अनुभव करने लगा हूं, कि मैं अपने आप में बहुत निर्बल हूं और पता नहीं, अब तो एकदम कैसा-कैसा हो गया हूं। कुछ भी अच्छा नहीं लगता। हर स्थिति में खुद को एडजस्ट करने वाले अपने उस सुमधुर स्वभाव की कुछ विशेषताएं मुझे दे दो न!

तीसरा पृष्ठ: मैंने इधर कुछ नया कार्य शुरू किया है, कुछ-कुछ रिसर्च-

कार्य जैसा, इस लाइन में आगे बढ़ने के बहुत से मौके हैं, उसी काम में अपने को व्यस्त रखता हूं। सायं सात बजे से नौ-दस बजे तक अवश्य झील के किनारे पहले की तरह घूमने निकल जाता हूं। पर कुछ भी करते समय, कहीं भी जाते समय कुछ-कुछ रुलाने लायक याद आ जाता है। और फिर कुछ अच्छा नहीं लगता। पहली बार कानपुर आया था, उस समय स्वयं को इतना व्यथित कभी अनुभव नहीं किया था, पर अब जब से तुम्हें देखकर आया हूं, लग रहा है वहुत कुछ है, जो तुम मुझसे छिपाती रहती हो, यह आदत तुम्हारी पुरानी है, माना, पर मैं अपने को क्या करूं? मैंने तुमसे कहा था, किसी स्थिति में मैं तुम्हें दुःखी नहीं देखना चाहता, अब जब कभी भी कलकत्ते में बिताये उन दो दिनों के कुछ स्वल्प क्षणों के लिए ही तुम्हारा बुझा-बुझा चेहरा याद आ जाता है, तो मन में कुछ गड़ने-सा लगता है। मेरे सभी मित्र मुझे फ़िलोसफ़र आदि कहने लगे हैं।

मैंने यहां अपने साथ आने के लिए तुमसे कितना आग्रह किया था, सच-सच लिखो, बहलाना-झुठलाना नहीं, यहां नहीं ही आओगी क्या? कुछ भी क्षण इस आशा और सुख में नहीं बीतने दोगी, कि तुम मेरे पास आ रही हो। भरे हुए पर्स में से भी यदि कुछ खर्च करने का अधिकार न हो, तो वह रिक्त से अधिक कुछ नहीं है। सब कुछ होने पर भी कभी-कभी कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता है। शायद यहां आकर तुम्हें कुछ कष्ट ही हो, पर यह मेरा एक स्वप्न है, जिसे पूरा करना मात्र तुम्हारी इच्छा पर है। मुझे जब पहली बार यहां भेजा था, तो क्या तुमने कभी कल्पना नहीं की थी, कि मैं तुम्हें यहां बुलाऊंगा और तुम्हें आना पड़ेगा? अब तो सब दुष्प्राप्य सा ही लग रहा है। अगर कोई विशेष कारण या अनिच्छा हो तो मत आओ, मैं अपने मन को किसी तरह सन्तोष दे लूंगा।

बस एक प्रार्थना करता हूं, मुझे भुलाना नहीं, तुम्हारे क्षणिक स्नेह से मैं जीवित नहीं रहूंगा। अगर लेशमात्र भी कमी दिखाई दी तो तड़प उठूंगा—इससे अधिक और क्या कहूं।

कलकत्ते की याद ऐसे आती है, जैसे हृदय में श्वास का वेग।

तुम्हारे लम्बे पत्र की प्रतीक्षा में

तुम्हारा सुकेत।'

मनीषी ने पत्र का चौथा पृष्ठ पढ़ कर रखा तो न जाने मन एक कैसी रिक्तता से भर उठा। सुकेत क्या-क्या सोचने लगा है, दिन पर दिन इतना भावुक कैसे होता जा रहा है। यहां था तो उसके इतने भावुक हृदय के कभी तो दर्शन नहीं हुए। कभी-कभी दो-चार क्षण के लिए कुछ उबाल आये भी तो फिर वही डांट-डांट कर बोलना, चीखा-पुकारी और अनु-शासित रखते रहने जैसा उसका अपना ढंग, कुछ भी ऐसा प्रतीत नहीं होता था, कि सुकेत कानपुर में उसके बिना स्वयं को इतना एकाकी अनुभव करने लगेगा। वह स्वयं क्या यहां कम अकेली है? उसके जूझने के लिए तो यहां अपने में ही इतनी समस्याएं हैं, जिनका खुलासा वह किसी के सामने नहीं कर सकती।

सुकेत ने उसका दुःख क्या देख लिया? वह दुःखी है सही, पर उसका अपना दुःख इतनी दूर बैठे सुकेत के दुःख का कारण बने, यह वह कहां चाहती है। क्या हो गया है सुकेत को इतना दार्शनिक-भावुक वह कब से बन बैठा, क्या चाहता है वह? मुझे अपने साथ कब तक रखेगा? कानपुर उसके साथ जाने से मना न करती तो क्या करती, लोगबाग कुछ भी सोच सकते हैं। अभी उस दिन ही सुकेत का पत्र न पाने की बात अस्पताल में कह बैठी थी तो डॉ० कुलकर्णी ने ही व्यंग्य किया था।

'तुम आखिर उसकी भाभी हो कुछ और तो नहीं, जो दम पर दम पत्र लिखता रहे, लिख देगा जब उसे वक्त मिलेगा।' डॉ० माण्डेकर ने चेतावनी दी थी।

'अभी तो वह अकेला है, तुम पर कुछ हद तक अवलम्बित भी है ही, पर कल को पत्नी आ जायेगी, बच्चे हो जायेंगे तो तुम्हें इतना भी याद नहीं करेगा, ऐसा ही होता है, यह कोई नई बात तो नहीं।'

सुन कर वह चुप रह गयी थी। उम्र में सबसे कम डॉ० लीना ने भी समर्थन किया था, डॉ० चित्रा भट्टाचार्य उसे फिर समझाने लगी थीं।

'इसीलिए हम सबने तुम्हारे सामने वह प्रपोज़ल रखा था—शादी कर दो और मुक्त हो जाओ। अब सुकेत की यही ज़िम्मेदारी तुम पर रह गयी है। पढ़ा दिया, बड़ा कर दिया, सेवा-सुश्रूषा करती रहीं—अपनी सुपर्णा दी के वचन को निभाने के लिए भला तुम और क्या करतीं?

बताना ज़रा !'

'और उसके बाद अपना इन्तज़ाम यूं नहीं चलेगा। डॉ० कुलकर्णी फिर जोड़ा था, जैसे किसी स्कूली लड़की को चंचलता छोड़ने जैसी चेतावनी दे रही हों और सब कुछ सुनकर भी वह गुम बैठी रही थी। वह उन बातों को आगे नहीं बढ़ाना चाहती थी, जिन्हें उस दिशा में वह लगभग समाप्त ही कर चुकी थी। डा० शुभा दत्ता फिर शुरू कर बैठीं :

'और डॉ० चित्रा उस प्रपोज़ल का क्या हुआ, डॉ० कश्यप वाला ! हमारी मिठाई भी तो ड्यू है न !'

'अब वो सब तो आप लोग इन्हीं से पूछ सकती हैं। डॉ० कश्यप ने एक-दो पत्र भी डाले, पर इन्होंने जवाब तक नहीं दिया। कुछ बात अगर आदमी को ठीक नहीं जंचती तो उसके बारे में फिर से पूछ सकता है, समझ सकता है। फिर कुछ नहीं तो एडीकेट की खातिर ही कम से कम दो लाइन तो लिखी ही जा सकती थीं पर इन्होंने तो कुछ भी नहीं किया।'

'ओह, डॉ० कश्यप की नेचर बुरी तो नहीं है। डॉ० बोस जो आज काफी दिनों बाद अपने विभाग से उठकर इधर आ गयी थीं, बड़े गम्भीर स्वर में बोलीं, जैसे मनीषी का पत्रोत्तर न देना उनकी निगाह में भी एक मूर्खतापूर्ण काम हो।

उस शाम मनीषी का मन कुछ कड़वी-सी बात कहने को हुआ था, पर फिर स्वयं को किसी प्रकार नियन्त्रित किये बैठी रही। कितने दिनों बाद शाम को चाय पर सबके साथ बैठी थी, कुछ कह देती तो पूरा वातावरण बदमज़ा हो जाता।

वह चुप रही थी, बातों का बहाव दूसरी ओर वह निकला था, अपने प्रति सुकेत के इतने लगाव की बात तो वह यों भी किसी से नहीं कह सकती थी—फिर वह स्वयं भी आश्वस्त कहां थी, कि सुकेत जो कुछ कह रहा है, कहता रहा है, वह महज़ भावुकता ही नहीं है। भावुकता न भी हो तो भी सुकेत को समझाने के लिए उसका कानपुर जाना ज़रूरी है। अभी उसने दुनिया देखी ही कितनी है, एक पच्चीस-छब्बीस वर्ष के युवक की तुलना में एक बत्तीस वर्ष की युवती कहीं अधिक जानती-समझती है, उसे समझना चाहिए।

मनीषी ने पत्र के पन्नों को संगवा कर लिफ़ाफ़े में रखकर लिफ़ाफ़ा अपन पर्स में डाल लिया : यहां कितना गम्भीर बना रहता है, खिलवाड़ भी करता है तो वचपन जैसे और वहां पहुंचते ही इतना प्रौढ़-विह्वल न जाने कैसे क्यों हो उठता है ? पत्र लिखूंगी, मेरे कारण ही दुःखी होकर गया है, इतना उल्टा-सीधा लिख डाला है, आखिर मुझे ही तो देखना है···।

उन्नीस

'सुकेत का तार !!' अस्पताल पहुंच कर वह हैरान रह गयी।

'जी, डॉक्टर आज सवेरे ही आया है।'

'आज सवेरे!' तार के गुलाबी कागज़ को फैला कर वह देखने लगी—'इल, कम सून।' क्या मतलब, अभी कल ही तो यह पत्र आया है, पत्र के लिफ़ाफ़े को निकाल कर वह उस पर पड़ी हुई मोहर को ध्यान से पढ़ने लगी—एक वीते दिन से पहले की तारीख। तार मध्य रात्रि में किसी वक़्त दिया गया है। आख़िर क्या हुआ ? अभी अच्छा-खासा गया था, एका-एकी यह क्या हो गया। जाने की वात मनीषी ने सोची ज़रूर थी, पर इतनी जल्दी की तो वह कल्पना भी नहीं कर सकती थी। अव कौन जानता है, वह जाना सच होता भी है या नहीं। कहीं ऐसा न हो कि···। और उसका मन किया, वह अपनी ज़बान को काट कर फेंक दे, अपना सिर कूट ले, आंखों को फोड़ डाले—आलमारी के पास खड़ी हुई जूली को उसने डॉ० कुलकर्णी को बुला लाने के लिए कहा, तो जूली ने एक नज़र मनीषी के चेहरे पर डाली, फिर बहुत धीमे स्वर में बोली।

'कैसा तार है डॉक्टर ? कहां से आया है ?'

'प्लीज़ गो एन्ड कॉल हर !' मनीषी उस बात को अब दोहराते हुए भी

डर रही थी। डॉ० कुलकर्णी को जूली उनके वार्ड में से बीच में ही बुलाकर ले आयी।

'अरे मनीषी, क्या हुआ ? क्यों बुलाया मुझे ? जूली न तो फिर कुछ देखने-सुनने ही नहीं दिया।'

'मुझे अफ़सोस है डॉक्टर, लेकिन मुश्किल यह है कि आपके सिवा मैं किसी और से कुछ राय ले भी तो नहीं सकती। आपको मैं अपने काफी करीब महसूस करती हूं। सुकेत का तार है, मुझे तुरन्त आने के लिए लिखा है।' और कहते-कहते मनीषी ने तार डॉ० कुलकर्णी के सामने बिछा दिया।

'सुकेत बीमार है।' डॉ० कुलकर्णी सामने कुर्सी पर बैठ गयीं, सोचती रहीं, फिर बोलीं, 'मनीषी, यू मस्ट लीव विदाउट डिले!'

'क्यों, कैसे ? आपने ऐसा क्यों कहा ? मुझे डर लग रहा है।' मनीषी का स्वर गड़बड़ा रहा था।

'डर की कोई बात नहीं है, आफ़्टर ऑल तुम डॉक्टर हो। डॉक्टर को तो न जाने कितनी बड़ी-बड़ी सिचुएशन को फ़ेस करना सिखाया जाता है, फिर भी जाना तुम्हें चाहिए ही।'

'कल उसका पत्र आया था, ऐसी तो कोई बात उसमें नहीं थी।' मनीषी ने कहा।

'ठीक है, पर बीमारी आते कितनी देर लगती है। कितनी बीमारियां ऐसी हैं जो तुरन्त अटैक करती हैं और...।' मनीषी के चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं। बुत की तरह वह खामोश बैठी रही, एकदम निष्क्रिय लगभग चेतनाहीन।

'अरे मनीषी, तुम तो ऐसी हो गईं, इसमें इतना घबड़ाने की क्या ज़रूरत है, हो सकता है बात कुछ भी न हो, सिर्फ़ वहमबाज़ी में ही तार दे दिया गया हो। असल में कोई-कोई प्राणी इतनी कमज़ोर तबीयत के होते हैं, कि ज़रा-सी बीमारी में घबड़ा जाते हैं, और दूसरों को भी घबड़ा देते हैं, लगता है सुकेत ऐसे ही लोगों में से है।' डॉ० कुलकर्णी पास खड़ी होकर मनीषी की पीठ थपथपाने लगी थीं।

'चलो, तैयार हो जाओ, छुट्टी मैं ठीक करवाती रहूंगी, सिर्फ एक छोटी-सी एप्लीकेशन दे जाओ। और सुनो, यूं परेशान होने की बिल्कुल ज़रूरत

नहीं है। चाहो तो मैं जूली-वासन्ती किसी को भी तुम्हारे साथ भेज सकती हूं।'

'नो डॉक्टर कुलकर्णी, थैंक्यू, उसकी तो बिल्कुल जरूरत ही नहीं है, मैं अकेली आ-जा सकती हूं, यू नीडन्ट वरी! आप छुट्टी के बारे में देख लें।' मनीषी ने कृतज्ञता प्रकट की।

'वो सब कुछ हो जायेगा, गो होम एण्ड गैट रेडी!'

मनीषी के सामने डॉ० कुलकर्णी की राय की कीमत सबसे अधिक थी, उसे तुरन्त घर लौटना पड़ा, छुटका को सूचना देकर वह जो भी गाड़ी मिल सकी, उसी से चल दी।

रास्ते भर मनीषी का मस्तिष्क न जाने किन-किन विचारों से उथल-पुथल होता रहा। सुकेत मुझे इतने दिन से बुला रहा था, पर बिना किसी कारण के अपनी जगह से हिलना व्यक्ति के लिए कितना मुश्किल हो जाता है। ईश्वर करे, सुकेत उसे स्वस्थ मिले, उसे घर खुद ढूंढ़ना है, क्या मालूम सुकेत अपने किसी मित्र को भेज दे, तार भी तो मित्र से ही दिलवाया होगा, पर किसी अपरिचित के लिए इतने बड़े स्टेशन पर इतनी बड़ी भीड़ में से किसी अनदेखे-अनजाने आदमी को पहचान लेना कितना मुश्किल होता है। न जाने क्या बीमारी है? अगर बीमारी संयोग से ही न उठ खड़ी होती तो कम से कम पत्र में कुछ तो उल्लेख करता। छुटका को कितना समझा-बुझा कर आयी हूं, दोनों ही चले आते तो घर अकेला रह जाता। आस-पड़ोस के लोग भी न जाने क्या-क्या आशंकाएं करते।

वह डॉक्टर है, पर मन इतना आशंकित क्यों हो उठा है, एकदम ना-समझ बच्ची की तरह। अस्पताल में भी इतने उतार-चढ़ाव देख कर अभी उसे संयत-संतुलित रहना कहां आया है। न जाने कैसे क्या होगा? एक नये शहर में अकेली वह क्या कर लेगी? पूरी रात झपकी मुश्किल से ही आयी। बेतहाशा गर्मी, तचता हुआ धरती और आसमान, भयंकर लूएं। पास बैठी मां को उसके बच्चे के लिए अपनी सुराही से ढाल-ढालकर उसने पानी न जाने कितनी बार दिया; अपने-आप पानी पीने की सुध ही कहां

थी। यह सुराही और कुछ खाना छुटका मां ने जूली को जबरदस्ती न जाने कब पकड़ा दिया था, उसने तो कह ही दिया था, किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है।

कोई भी स्टेशन आता, गाड़ी सीटी देती, तो हृदय धड़धड़ा जाता—वह सुकेत के पास जा रही है, क्या देखने के लिए ? खिड़की के कांच उसने खाल दिए, भीतर केविन में गर्म लू भरने लगी।

'खिड़की वन्द कर दीजिए प्लीज़ !' किसी ने चिल्ला कर कहा।

'पर तव यह सफ़ोकेशन ?'

'सफ़ोकेशन कहां है मिस साव, आप देख नहीं रही हैं, भीतर पंखे चल रहे हैं।' पास वैठे सहयात्री ने समझाया। उसने तो यह सव देखा ही नहीं था। अपने भीतर तचती हुई आंच उसे लू की लपटों से भी अधिक भयानक लग रही थी।

···उस रात भी इतनी ही तचन थी, इसी प्रकार की घुटन पर उत्सव और संस्कार के समय वह सव कौन देखता है—फौजी वैंड कितने इतमीनान से वज रहा था, वच्चों की भीड़-भाड़, उछल-कूद, शोरगुल, चारों ओर छिड़काव किया जा रहा था, गुलाव और केवड़ा छिड़का जा रहा था, सव कुछ सुगन्ध से तर था, पर उसका भाग्य···! हरदम वह वुरी-वुरी आशंकाएं ही क्यों करने लग पड़ती है ? इतनी वड़ी होकर इतनी अधीर, आकुल-व्याकुल और अव्यवस्थित।

लोग आपस में वोल-वतला रहे हैं, खा-पी रहे हैं, यात्रा में दो क्षण के लिए मिले व्यक्ति भी अपना सुख-दुःख आपस में कहने-सुनने लगते हैं; एक वह है, कुछ कहने-सुनने के लिए उसे कोई दिखता ही नहीं। छुटका का रास्ते के लिए थमाया खाना ज्यों का त्यों रखा है।

'कानपुर के क़रीव पहुंच रहे हैं वस !' किसी ने कहा। सवेरे का धुँधलापा धीरे-धीरे छँटने लगा था। सुना तो कलेजा मुंह को आने लगा। एक सामान्य स्त्री से भी गयी-वीती हो गई है वह ! आख़िर कानपुर भारत से वाहर का तो कोई नगर नहीं, जहां पहुंचने में वह इतनी हड़वड़ाहट महसूस कर रही

है—सुकेत अच्छा होता तो बात दूसरी थी, निश्चिन्त मन से आती और कितना कुछ लाती···।

'तुम्हें बुलाया नहीं था, साथ नहीं ला रहा था ?' किसी ने मन में कील ठोंक कर चेताया।

···न जाने कैसी हालत होगी बीमारी में, कितना निरीह हो उठता है वह ! टाइफाइड से कितनी मुश्किल से उबरा था।

'पाऽऽनी ! मनि ! मेरे पास आओ न !' वर्षों पूर्व रुक-रुक कर उचारे गये कुछ कटे-फटे से शब्द उसके कानों में टकराने लगे—सुकेत का मुरझाया चेहरा, वह जलती हुई देह, मुँदी हुई आँखें, पसीने-पसीने हो आया माथा, पलंग के सहारे रखी मेज़, उस पर टिकी दवाइयां, ग्लुकोज़-पानी और थर्मामीटर—स्मृति की दीवारों से क्या-क्या टकराने लगा है आज।

'···आज मुझे अकेला छोड़ कर तुम्हें अस्पताल नहीं जाना !'

'छुट्टी नहीं है तो जाओ, लाओ क्या देती हो !'

दूध का प्याला मुँह से अड़ा कर गटागट पीकर फेंके गये प्याले की खनखनाहट, 'अब खुश हो न !' चादर को खींच कर उसने बिस्तर से दूर फेंक दिया था, खुद चप्पल अटका कर बाहर जाने लगा था।

'पागल हो गये हो, अभी इतने तन्दुरुस्त नहीं हो गये, कि इतनी तनातनी करने लगो। आखिर ऐसा क्या हो गया। तुम कहोगे तो मैं नहीं जाऊंगी।'

और वह सुकेत को अपने घुटने से टिका कर, दूर-पास की बहुत-सी बात करती-सुनती बहुत देर तक बैठी रही थी—कितने क्षण याद आ रहे हैं उसे इस समय ! स्मृति से दूसरा सब कुछ उतर गया था—उसका अकड़ कर बोलना-चालना, खाना-पीना और निर्देश। पत्र में क्या होता है, इतना कुछ कोमल, बारीक और मीठा। पागल थी वह, डॉ० कुलकर्णी को बुला कर पूछने लगी :

'मैं जाऊं ?' यह भी कोई पूछने की बात थी। डॉ० कुलकर्णी भी क्या कहती होंगी; बनती थीं बड़ी खैरख्वाह और अब जब लड़के पर इतनी बड़ी बीमारी आ गयी, तो बैठी सोच रही हैं, जायें न जायें ? अरे बीमारी का तार तुम्हें मिला है, तुमसे ज्यादा भी कोई और सुकेत के बारे में सोच

सकता है ? इस नाजुक मौके पर हां-नहीं के चक्कर में पड़े रहना—छि: ! तुम्हारी वुद्धि का भी दिवाला निकल गया मनीषी ! स्वार्थिन कहीं की ! स्वयं को धिक्कारते-कलपते हुए मनीषी ने पूरी रात आंखों में निकाल दी थी, और अव···?

गाड़ी ने एक वड़ी ऊंची कीक भरी—क ऊं ऊं ऽ ऽ ऽ और फिर प्लेट-फ़ॉर्म में घुसती हुई गाड़ी का वेतहाशा धुआं, रड़कते पहिये और फिर धीमी पड़ती गति—गाड़ी कानपुर के प्लेटफ़ॉर्म पर प्रविष्ट हो रही थी। गाड़ी के साथ चिपटे हुए सैकड़ों कुली, गट्ठर ही गट्ठर, सन्दूक ही सन्दूक, अटैचियां ही अटैचियां, सैकड़ों चढ़ने-उतरने वाले, अनेक सिर ही सिर, सामान से भरी ट्रालियां, फल, पूरी और चाय की आवाज़ें—वह क्या करे ? खिड़की से झांक कर देखे ? बेकार है, उसे पहचान लेने वाला यहाँ कौन होगा। निकलने का प्रयत्न किया तो सेकण्ड क्लास का डिव्वा होते हुए भी दरवाज़े पर दमघोंटू भीड़। भीड़ छंटने की प्रतीक्षा में वह फिर सीट पर आकर खिड़की के पास वैठ गयी—सामने उतरने वाले यात्रियों की इतनी लम्बी क़तार ! हे ईश्वर, उसकी वारी कब आयेगी ? यहां तो एक-एक पल भारी हो रहा है···। तभी एक अप्रत्याशित स्वर ने उसे वेतरह चौंका दिया, हृदयगति जैसे वस रुकने को ही हो।

'मनि !' यह सुकेत का स्वर था।

'अरे तुम, सुकेत तुम, यहां कैसे ? आश्चर्य के भयंकर ज़लज़ले ने उसे प्रसन्नता व्यक्त करने में भी असमर्थ वना दिया।

'हां मैं हूं, तुम नीचे तो उतरो !' सुकेत नीचे प्लेटफ़ॉर्म पर खड़ा वड़ी संजीदगी से कह रहा था।

'तुम, तुम यहां ? तुम···तुम···!!' आंखें फटी की फटी। उतरने के प्रयत्न में अटैची हाथ से छूट कर नीचे डिव्वे में ही औंधी हो गई।

'मुझे स्वस्थ देखकर तुम्हें खुशी नहीं हो रही ?'

'······।'

सुकेत ने मनि का हाथ पकड़ कर झिझोड़ दिया, 'मुझे विश्वास नहीं हो रहा है, कि तुम आ गयी हो !' स्वर में वच्चों जैसी किलक थी। मनीषी विना कुछ कहे सुकेत की ओर ताकती रही, सुकेत ने भीतर आकर मनीषी

की अटैची उठायी, 'चलो, नीचे उतरो अब !'

'सुनो सुकेत, तुम···तुम··· । तुम यहां कैसे आ गये ?' मनीषी साथ घिसटती अब भी पूछती चली जा रही थी ।

'ओफ़्फ़ो, मैं इस तरह का बीमार नहीं हूं, था भी नहीं ।'

'तब तुमने··· । हां तुम··· ?'

'क्या—क्या पूछना कहना चाह रही हो, सब घर चल कर कह लेना, खूब ध्यान से सुनूंगा !' सुकेत ने पीछे आती ट्राली से मनीषी का हाथ खींच कर बचाया ।

'स्वरूपनगर रहते हो न ?'

'क्यों, तुम्हें मतलब ! इस समय तुम घर चल रही हो तो, वह चाहे स्वरूपनगर में हो चाहे जहन्नुम में ।' मनीषी टैक्सी में बैठी भी तो सुकेत को बराबर देखती रही ।

'कितनी मुश्किल से बुलाया है तुम्हें !'

'कितनी बेईमानी से !'

'तुम आना जो नहीं चाहती थीं ।'

'पर अपने-आप को इतनी गाली देकर बुलाने से तुम्हें क्या मिला, तुम्हें क्या मालूम, रास्ते में मैं कितनी बार मरती-जीती आयी हूं ।'

'ज़रूर ऐसे ही आयी होगी, पर मुझे तुम जीती हुई ही मिली हो, मुझे सन्तोष है ।'

'सन्तोष है !' मनीषी ने एक बड़ी जमुहाई ली । 'पूरी रात जागती आयी हूं, एक मिनट को आंख नहीं लगी । चिट्ठी नहीं भेज सकते थे ?'

'भेजी नहीं, कितनी चिट्ठियां भेजीं, कितनी बार कहा, पर आदमी को विनय करने से कुछ नहीं मिलता न !

'पर इतना लम्बा पत्र लिख देने के बाद वह तार ?'

'वह तरकीब उसके बाद ही ध्यान में आयी, मुझे अफसोस है मैंने तुम्हें इतना कष्ट दिया ।'

'चलो छोड़ो, मैं खुश हूं कि मैं तुम्हें भला-चंगा देख रही हूं, प्रभु को

लाख-लाख धन्यवाद।'

'और अगर मैं सचमुच बीमार होऊं तो ?' सुकेत ने कुर्त्ते की बांहों कं कोहनियों तक सरकाया।

'तो तुम्हें मैं अपने साथ ले चलूंगी, यहां अब यों छोड़ कर थोड़ी चली जाऊंगी, यहां कोई आस-पास रहता भी है या यूं ही ?'

'सब रहते हैं, अच्छी-खासी बस्ती है। कई हज़ार जने-बच्चे इस मोहल्ले में रहते-बसते हैं, आस-पास खूब चहल-पहल है, एक पड़ोसी तो बिल्कुल बगल में ही हैं। कहीं खालीपन था तो इस घर में ही।'

'सुनो सुकेत, तुम अब खूब चतुर होते चले जा रहे हो, कितना कुछ सीख गये हो!' मनीषी का आशय पत्र की प्रौढ़ता और भावुकता से था, पर उसने उसका खुलासा नहीं किया। कमरे से निकल कर वह बाहर झांकने लगी, सड़क पर इस समय इक्का-दुक्का आदमी ही चल रहे थे।

'अभी जल्दी है न! क्या समय होगा ?'

'समय कुछ भी हो, पर एक तो यह सिविल एरिया है, यों भी यहां भीड़-भाड़ कम ही होती है, दूसरे आज रविवार है छुट्टी का दिन, जब लोग सड़कों पर रेंगने की बजाय अपने घरों में घुस कर सोना-बैठना ज़्यादा पसन्द करते हैं।' सुकेत ने स्पष्ट किया और फिर वह मनीषी को छज्जे पर खड़ी छोड़ कर भीतर चला गया। अपने पीछे चुप्पी अनुभव कर मनीषी ने पीछे मुड़ कर देखा तो सुकेत कमरे में नहीं था। उसे आश्चर्य हुआ, कमरे से चलती हुई वह रसोई में चली आयी।

'अरे, तुम यहां क्या कर रहे हो सुकेत ?'

'चाय वग़ैरा का इन्तज़ाम, और क्या?' सुकेत रसोई में खड़ा मुस्करा रहा था।

'चाय वग़ैरा का इन्तज़ाम ? सुकेत, तुम्हें हो क्या गया है ?'

'क्यों, इतना लम्बा सफ़र तय करके आयी हो, क्या तुम्हें एक कप चाय की ज़रूरत भी नहीं हो सकती ?'

'हो सकती है पर···।'

'पर क्या, तुम चुपचाप बैठी रहो, देखना मैं अभी कितनी अच्छी चाय तैयार करके देता हूं।' मनीषी रसोईनुमा उस छोटे से कमरे की दहलीज़

पर अवाक् खड़ी रह गयी। सुकेत ने लिखा था, कि फिलहाल
मिल सका है, तो कुछ थोड़ा बहुत काम वह स्वयं ही कर लेता है।
समय उसे रसोई में इस प्रकार अकेले लगे देख कर उसे
दोनों हुए। सुकेत कभी रसोई में घुस कर अकेला कुछ करे
कल्पना भी कब की थी, सुकेत तो अहदीनाथ था, किसी ने
सामने रख दी तो खा लिया, नहीं तो पड़े हैं, एक
अपने हाथ से उठाकर कभी नहीं पिया होगा।

उसे वह दिन याद आया, जब उसकी सब साथिनों
ने छुटका के साथ मिल कर चुपचाप कितना कुछ कर
दिन उसे कितनी फटकार मिली थी। उससे पहले और
सुकेत को खाने-पीने के सम्बन्ध में इस प्रकार व्यवस्था
कभी नहीं देखा था, आज देख रही है, तो कहाँ
तरक गया है—इतनी दूर आकर पड़ा है, तो यह
है। सुपर्णा दी होतीं तो शायद बेटे को स्वावलम्बी
उसे भी खुश होना चाहिए, कि सुकेत आत्म
उल्टा ही, उसे रुलाई आने लगी, उसके और
काम सीख लिया, सब ठीक है, पर इस प्रकार
से लौटने पर मनचाहा एक चाय का प्याला
में एक तीखी-सी कसक जगी, स्टोव को
हुए सुकेत को उसने बांह थाम कर अलग कर दिया।

'हटो सुकेत, मेरे सामने तुम कुछ करो
ओंठ काट कर आवेग को सहसा संयमित कर
स्वर को व्यवस्थित किया, बोली, छोड़ो
पड़े रहने से? कलकत्ते में क्या
होगी!'

'और तुम्हीं जो यहां रहो तो कैसा रहे?'

'मैं, मैं यहां कैसे रह सकती हूं,

'क्या जरूरत है, कि तुम नौकरी करो

तरक्की ही होगी।'

'ईश्वर करे तरक्की ही हो, पर मेरा रहना यहां कैसे होगा? 'हां ज़रा चीनी का डिब्बा तो बताओ।' स्टोव पर पानी उबलता देख कर उसने पूछा।

'इधर यह है।' सुकेत ने एक डिब्बा दिखाया। अब सुकेत रसोई की दहलीज़ पर खड़ा था।

मनीषी चीनी-चाय की पत्ती पानी में डालती रही।

'हां तुम यहां रहो तो···।' सुकेत ने फिर शुरू किया।

'क्या पागलपन की बात करते हो, चलो सोच लिया जायेगा।' सुकेत को बुरा न लगे, सोच कर उसने खरतलपन से सीधे-सीधे जवाब नहीं दिया। ट्रे में चाय के प्याले और चायदानी रख वह रसोई से उठी और भीतर कमरे में चली आयी।

सुकेत ने प्लेट में कुछ बिस्किट निकाल कर रख लिये, 'पहले चाय पी लें।'

'और चाय पीने के बाद।' मनीषी को सुकेत के स्वर में कुछ विचित्रता लगी, जैसे चाय पीने के बाद किसी बहुत आवश्यक महत्त्वपूर्ण कार्य का मुहूर्त्त निकलने वाला हो।

'उसके बाद मैं तुम्हें एक चीज़ दिखाऊंगा, जिसको दिखाने के लिए मैंने तुम्हें इतनी दूर से बुलाया है। सुकेत ने बड़ी गम्भीरता से कहा। स्वर में कुछ विलक्षणता मनीषी के कान अब भी माप रहे थे।

'अरे, क्या दिखाने के लिए बुलाया था, दिखाओ न!' मनीषी उत्सुक हो उठी।

'ऐसे नहीं, पहले चाय पी लो।' इस बार सुकेत के कण्ठ में किसी बच्चे को बहलाने वाला स्वर ध्वनित हो रहा था।

'देखो सुकेत, तुम परेशान तो करो मत, जो दिखाना चाहते हो, वह दिखा दो और नहीं दिखाना चाहते हो तो मत दिखाओ।

'दिखाने के लिए मैं खुद उत्सुक हूं। बस यही सोच रहा हूं, कि तुमने अभी चाय तक नहीं पी है, रातभर की थकी हुई तुम वैसे हो···।'

'मैं सब कुछ हूं और कुछ भी नहीं, दिखाते हो या फिर मैं कह दूं कि मैं अब देखूंगी ही नहीं!'

'ओफ़्फ़ो, तुम्हारी इसी जल्दबाजी से ही तो मैं डरता था। अच्छा, चाय तो पी लो, मैं निकाल कर लाता हूं। आते ही तुरत-फुरत दिखा देने की बात तो मैंने सोची ही नहीं थी।'

'चाय पिऊंगी मैं तुम्हारे साथ।'

'तो हम दोनों पहले चाय पी लेते हैं।' और खड़े होते-होते सुकेत ने फिर बैठ कर चाय का प्याला मनीषी को पकड़ा दिया, बिस्किट की प्लेट आगे की तो मनीषी को याद आया कि छुटका ने कुछ खाना रखा था। बोली :

'छुटका मां ने कुछ खाना रख दिया था, शायद कचौरियां होंगी या पूरी, वह भी ले लो।' मनीषी ने उठ कर अटैची से पैकेट निकाला।

'तुमने नहीं खाया ?'

'तुमने खाने की मोहलत दी थी ? ऐसा तार दे दिया था, कि अच्छा-भला आदमी खाना छोड़ दे।' मनीषी ने ऊपर की डोरी खोलकर डिब्बे में से कचौरियां निकालीं, 'लो खाओ।' मनीषी ने कचौरियां प्लेट में रख दीं—सुकेत ने एक कचौरी खत्म की तो मनीषी ने दूसरी दो और रख दीं।

'अरे पहले की ही रखी है और तुम दबादब डाले जा रही हो, खुद खा नहीं रही हो, आखिर मुझे कितना खिलाओगी ?'

'जितना पहले खिलाती थी।'

'एक बात बताओ मनि, तुम मुझे अब भी उतना ही प्यार करती हो जितना पहले करती थीं ?'

'क्या मतलब, क्या बात कहना चाह रहे हो ?' मनीषी चाय का प्याला खाली कर गुंथी हुई चोटी खोलने लगी।

'जवाब दो न मेरी बात का, मैं जानना चाहता हूं।'

'और अगर मैं यह कहूं कि मेरे पास इस बात का कोई जवाब नहीं है ?'

'तो मैं समझ लूंगा, कि तुम मुझसे अब उतना प्यार नहीं करतीं।'

'पागल हो तुम सुकेत !' मनीषी की उंगलियां चोटी खोलते-खोलते अचानक रुक गयी थीं।

'तो फिर मैं समझ लूं कि...।' सुकेत की दृष्टि में एक बड़ा लावारिस-

पन झांकने लगा था।

'अपने आप कुछ भी समझ लेने का अधिकार तुम्हें कैसे है? और तुम शब्दों को महत्त्व कब से देने लगे सुकेत?'

सुकेत कुछ क्षण गम्भीर बना चुपचाप बैठा रहा, फिर धीरे से उठ कर गया और अपनी अटैची में से जो निकाल कर लाया, वह अखबार की छोटी-सी कतरन थी। सुकेत ने उसे मेज़ पर मनीषी की आंखों के सामने रख दिया—अंग्रेज़ी अखबार की कटिंग, मनीषी ने पढ़ा :

वियना—

'एक पैंतालीस वर्षीया महिला का विवाह एक तेईस वर्ष के युवक के साथ।' मनीषी हक्की-बक्की प्रश्नात्मक मुद्रा में सुकेत की ओर देखने लगी, वह समझ ही नहीं पा रही थी, वह कटिंग सुकेत ने उसे क्यों दिखायी।

'यह खबर तुम्हारे लिए है मनीषी!'

'मेरे लिए, कैसे?' सुकेत के द्वारा इस बार उसका समूचा नाम ले लेना जैसे उसके इस कथन के सामने कोई महत्त्व ही न रखता हो। हालांकि समूचे नाम के उस सम्बोधन ने भीतर खड़ी किसी कांच की मीनार को जैसे खन्न से गिरा दिया था।

'हां, यह तुम्हारे लिए ही है।' सुकेत के चेहरे पर बेहद बड़प्पन था। —एक छोटी बच्ची के दिमाग़ में किसी गहरी बात को ठोंक कर बैठा देने जैसा भाव।

'आखिर कैसे, क्यों?' विस्मय की एक नई लहर उसके चेहरे पर समूची रेंग गयी। हड़बड़ाहट में वह प्रश्नात्मक सार्थक विशेषण प्रयुक्त करना भी भूल गयी।

'मनि, अभी तुम कुल बत्तीस वर्ष की हो और मैं···।' सुकेत मध्य में ही ठिठक गया। 'इतनी-सी बात नहीं समझती हो!' उसका शेष अनुच्चरित स्वर कह रहा था।

मनीषी स्तब्ध थी। सुकेत की ज़बान से एक अप्रत्याशित बात, जैसे अचकाधोखे उसका सिर किसी बड़े भारी खम्भे से टकरा गया हो। एक निमिष में ही सब कुछ चक्राकार घूम गया—सुकेत के पहले दिन के परिचय से लेकर आज तक। आंखों के आगे सब कुछ गड्डमड्ड। कानों के

गोलक तेज़ तवे की तरह तचते हुए। आंखें कहीं दूर देखती हुई भी सुकेत के चेहरे पर टिकी थीं—

'क्या हुआ है सुकेत तुम्हें ?' वह प्रयत्नपूर्वक अटक-अटक कर वोली।

'सच कहता हूं मनि, मैं यही चाहता हूं। यह कहने के लिए मुझे कितनी हिम्मत जुटानी पड़ी है, तुम नहीं समझ सकोगी !'

कुछ क्षणों का एक वृहद् अन्तराल। और फिर जैसे उस चुप्पी में से एक स्वर उगा हो :

'पर ऐसा नहीं हो सकता सुकेत !'

'आखिर क्यों ?' सुकेत को आश्चर्य हुआ, एक सरल सामान्य-सी वात का इस प्रकार का निपेधात्मक उत्तर।

'क्यों, क्योंकि यह वियना नहीं है, हिन्दुस्तान है।'

'क्या ऐसे विवाह यहां विल्कुल नहीं होते ?'

'होते होंगे, पर उन्हें कोई अच्छी नज़र से नहीं देखता।' वड़ी कठिनाई से मनीपी सामान्य हो सकी थी, सहज ढंग से वात करने जैसी। 'हमारे धर्मशास्त्रों में भी···।' उसने फिर शुरू किया, 'और फिर मैं तुम्हारी···।' उसके स्वर अटकते-अटकते आगे वढ़ रहे थे।

'तुम मेरी सव कुछ हो—मनि, माशी, मित्र, प्रेयसी—सव कुछ।' सुकेत कुछ क्षण रुका, जैसे वह एक ऊंची पहाड़ी पर चढ़ कर नीचे उतरा हो। 'धर्मशास्त्र और हिन्दुस्तान, मैं किसी की कोई चिन्ता नहीं करता। सम्वन्ध, समाज और परम्परा इन सव पर तुम मुझे क्यों वलि चढ़ाना चाहती हो ? मेरे लिए ये चीजें कोई महत्त्व नहीं रखतीं।' धीरे-धीरे समझाते हुए सुकेत फिर उत्तेजित होने लगा था।

'तुम नहीं समझोगे सुकेत ! मैं इस समय कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं हूं। मुझे तुम अकेली छोड़ दो, विल यू प्लीऽऽज़ !' मनीपी का एक याचना-भरा स्वर। सुकेत कुछ देर ज्यों का त्यों वुत वना वैठा रहा, फिर उठ कर वाहर चला गया।

मनीषी के आदेशानुसार सुकेत उसे अकेला छोड़ गया था। अव वह क्या करे ? सुकेत से उसने चले जाने के लिए क्यों कहा ? अव भी क्या कुछ अन्यथा सोचने-कहने-करने के लिए रह गया है ? सुकेत उससे ऐसी वात कैसे कह सका ? और वह सव कुछ सुन कर भी उसके सामने कैसे वैठी रह सकी ? अव ? क्या कभी उसके मन में भी ऐसी वात आयी थी ? आयी होगी तो वह मन की वहुत गहरी पर्त्तों के नीचे दवी होगी, इतने गहरे जहां से निकल कर वाहर आने की सम्भावना उसने स्वयं भी कभी न की हो—तव सुकेत ही उससे वड़ा है, महान है कम से कम इतना कुछ कहने की हिम्मत तो जुटा सका। पर ? फिर एक वड़ा प्रश्नचिह्न।

अगर वह कल ही कलकत्ते वापिस लौट जाये ! अव वह यहां रह कर करेगी भी क्या ? पर क्या कहेंगे लोग ? कौन समझेगा उसकी व्यथा ? मेज़ पर सव कुछ ज्यों का त्यों अव्यवस्थित पड़ा छोड़, तकिये पर सिर रख कर वह औंधी लेट गयी। मस्तिष्क तरह-तरह के विचारों से आन्दोलित था—समस्या, प्रश्न और द्वन्द्व। यह कहने के लिए सुकेत ने वीमारी का तार देकर वुलाया था ? क्या सोचा था उसने, कि मनीषी इसकी वात को मान लेगी ? अपने वारे में पूरे नाम से सोच कर जैसे उसने स्वयं को सुदृढ़ वनाना चाहा हो, पर विचार थे कि उसे धकेले लिये चले जा रहे थे—उसने प्रस्ताव किया, शायद यही सोच कर कि मैंने आज तक उसकी किसी वात को नहीं टाला है, पर यह वात ! कलकत्ता लौटेगी और सव पूछेंगी, कि अव सुकेत कैसा है ? और प्रत्युत्तर में खुद को वह उस रूप में प्रस्तुत करेगी तो वे सव क्या कहेंगी ? प्रगट में चाहे कुछ न कहें, पर मुंह दवा कर हंसेंगी तो सही ही। डॉ० कुलकर्णी तो प्रत्यक्ष कहने में भी नहीं चूकेंगी :

'अरे तो आप क्या राज़ी हो गई हैं ? सलाम वालेकम !'

'ओह तो इसमें हर्ज ही क्या है ? सिर्फ थोड़ा-सा उम्र का फ़ासला।'

'वो भी आपके जिस्म से प्रगट नहीं होता। वत्तीस वरस की होते हुए भी आप सिर्फ़ पच्चीस की लगती हैं।'

'वात सच्ची है, तो खिल्ली उड़ाने से फ़ायदा ! सच वताओ, मुझसे ज़्यादा क्या सुकेत को कोई प्यार कर सकता है ? क्या वुरा कहा सुकेत ने,

में सुकेत को जितना पहचानती हूं, सुकेत मुझे जितना जानता है, उतना निकट सुकेत के लिए कोई दूसरा हो सकता है ?'

'पर तुम्हारा रिश्ता ? अभी तुमने सुकेत से खुद कहा था···।'

'रिश्ता, क्या रिश्ता है मेरा और सुकेत का ? तुम्हीं बताओ।'

'......'

'तुम्हीं बताओ न चुप क्यों हो ? सुपर्णा दी एक दिन मुझे यों ही नहीं बांध लायी थीं ? दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं, न खून का, न किसी और तरह का···।'

'डॉ० कश्यप क्या कहेंगे ?'

'डॉ० कश्यप से मेरा सम्बन्ध ही क्या है ? मुझे ऐसा आदमी बिल्कुल पसन्द नहीं है, जिसकी आंखें चार जगह हों, जो चलती स्त्रियों से···।'

'तुम्हारे बारे में भी कोई यही सोच सकता है, घर में घुसे-घुसे ही हथिया लिया, जारपन किसे कहते हैं।'

'फिर सुपर्णा दी स्वर्ग में बैठी क्या कहेंगी, ठीक है न !'

'सुपर्णा दी कुछ कहें न कहें, स्वर्ग-नरक किसने देखा है ? पर जिस समाज में तुम रह-बस रही हो, उसी के लोग तुम्हें नहीं जीने देंगे। तुम्हारा रहना, उठना-बैठना, मुश्किल कर देंगे—कोई कहेगा, सुकेत की दौलत पर मर मिटी, न उम्र देखी न सम्बन्ध, पैसा आदमी को सचमुच अन्धा बना देता है।'

'हम दोनों कहीं दूर नहीं भाग सकते ? क्षितिज के उस पार, सितारों से आगे ?'

'जा कहीं भी सकते हो, पर समाज हर जगह है, उसकी आंखें बड़ी पैनी होती हैं। कहीं भी किसी ने तनिक-सा भी बींध दिया तो ? कहीं भी कभी भी कही गयी कोई भी टिप्पणी ? सुकेत का मन भी तो बदल सकता है ? तब ?'

'विदेश के लोग कितने भाग्यवान हैं, कितनी स्वच्छन्दता है उन्हें ?'

'यह विदेश नहीं है न; फिर भारतीय सभ्यता, संस्कृति और मर्यादाएं हमारे ऋषि-मुनि, धर्मशास्त्र और परम्पराएं···।'

अपने से लड़ती-झगड़ती और दूसरों की टिप्पणियों को अपनी कल्पना

में उतारती-जगाती मनीषी की आंखों से आंसुओं की एक रेला फूट निकला।

'तो तू भी वही चाहती है, जो सुकेत चाहता है ? तब, तब सुकेत पर आश्चर्य करने से लाभ, कि उसने ऐसी बात कैसे कह दी ?'

'नहीं-नहीं, मैं तो इतनी दूर तक कल्पना भी नहीं कर सकती थी, शायद कभी नहीं। पर जब सुकेत ने प्रस्ताव रखा है तो कुछ नया सा नहीं लग रहा।'

'यह तुम्हारे खुद के मन की बात भी तो हो सकती है।'

'जो कुछ भी समझ लो।'

'मनीषी, तू गिर गयी है।'

'तू पतिता है !'

'वेश्या से भी बदतर !'

'वह तेरा बेटा है, कोई रिश्ता न हुआ तो क्या ?'

'मैं···मैं···मैंनेसुकेत को आज तक कब जताया कि वह मेरा बेटा है ?'

मनीषी तकिये पर आंखें मूंदे लेटी रही। आंसू बन्द पलकों से रिस-रिस कर कनपटियों से ढुलते हुए उसके तकिये को भिगोते रहे, चोटी से निकले हुए कुछ बाल आंसुओं में भीग-भीग कर उसकी गर्दन पर चिपटते रहे।

'नहीं, मैं कहां चाहती हूं कुछ ! वह तो मात्र एक कल्पना थी—रसभीना एक सपना, उसका अस्तित्व ही कहां है ? उगा था और मर भी गया। नहीं, समाज से परम्पराओं से टक्कर लेने की हिम्मत मुझमें नहीं है, नहीं है, नहीं ही है।'

'है, है; है कैसे नहीं ? अपने हृदय पर हाथ रख कर पूछो ज़रा, बहुत धीरे से सुनो, तुम्हारी वह इच्छा कितनी खामोशी से तुम्हारे कानों में फुस-फुसा रही है, सुनो, सुनो !!' मनीषी किन्हीं आवाज़ों से रुंदी-खुंदी धीरे-धीरे अपने में मुंदती चली, मुंदती चली। सुकेत लौट कर आया तो वह बेखबर सो रही थी—खुली हुई चोटी के बाल तकिये पर दूर तक फैले हुए थे। खिड़की में से आता हवा का इक्का-दुक्का झोंका उसके माथे पर पड़ी हुई लटों को धीरे से आन्दोलित कर देता था और लटें एक बार व्यवस्थित होकर फिर ज्यों की त्यों माथे पर फैल जा रही थीं।

सुकेत चुपचाप सामने की कुर्सी पर आकर बैठ रहा. [illegible] मनि को अपनी हलचल से वह जगाना नहीं चाहता था।

'मनि को सोते देख कर भी वह भीतर कैसे आ गया ? क्या सोच कर आया है वह ? उससे स्वीकारात्मक उत्तर पाने की आशा में ?'

'नहीं-नहीं, मेरा उतना भाग्य कहां। वो तो मनि घर में है, तो उससे दूर रहना-बैठना अच्छा नहीं लगता, इसीलिए।'

'तुम्हें अफ़सोस है, कि तुमने ऐसी बात मनि से क्यों कही ?'

'नहीं, जो मन में आया, वह मैं मनि से हमेशा कहता रहा हूं।'

'पर मनि के गालों और कनपटियों पर ये आंसुओं के रेले ! तो मनि इतनी देर से रोती रही है ? उसे मेरी बात का इतना बुरा लगा है ?'

मनीषी ने करवट लेकर आंखें खोलीं, सामने सुकेत बैठा था, मुस्कराने का यत्न किया, पर ओंठ ज्यों के त्यों जुड़े रह गये।

'सो लीं ?'

'हां, नींद आ गयी थी, रात को काफ़ी जगना पड़ा था।'

'चलो अच्छा हुआ, कुछ तो नींद आयी !'

'मैं तुमसे एक बात कहूं ?'

'कहो !' किसी विचित्र आशंका ने सुकेत को ऊपर से नीचे तक सिहरा दिया। 'नहीं, मैं कोई उत्तर नहीं सुनता चाहता। नकारात्मक उत्तर है तो कहने से लाभ ?' पर प्रगट में किसी प्रकार अपने को संयत करके बोला : 'हां, कहो न !'

'सुकेत, मैं चाहती हूं अब तुम ईश्वर की कृपा से स्वस्थ ही रहो, हो ही; तो मैं चली ही जाऊं, फिर कभी देखा जायेगा।'

'किस प्रकार देखा जायेगा ?'

'क्यों, आना-जाना तो कभी भी हो सकता है।'

'तुम मुझसे नाराज़ हो मनि ?' वह कहना नहीं चाहता था, पर साहस करके कह ही दिया।

'मैं तुम्हें नाराज़ लगती हूं ?' उत्तर के स्थान पर मनीषी ने प्रश्न किया।

'कुछ-कुछ।'

'क्यों, तुम्हारी बात का स्वीकारात्मक उत्तर नहीं दिया तो मैं नाराज़ हो गई ?' कट गया सुकेत सुन कर। एकाएकी कोई उत्तर नहीं बन पड़ा तो मनीषी ही कहती रही।

'हर प्रश्न का उत्तर तुरत-फुरत दिया भी तो नहीं जा सकता, सो मैं तुमसे नाराज़ नहीं हूं।' सुकेत अब भी पूछ नहीं सका, कि तुरत-फुरत नहीं तो क्या बाद में तुम इसका उत्तर दोगी, कुछ भी ? प्रश्नात्मक मुद्रा में टक-टकी लगाये वह यों ही देखता रहा।

'मैं सिर्फ़ इतना सोच रही थी, कि शायद मैं यहां रह कर अब कुछ कर-सोच न सकूं तो रहने से लाभ ? मुझे इस समय फिलहाल जाने की इजाजत दे दो, तो मैं खुश होऊंगी।' मनीषी के इस समय टाल देने पर सुकेत को बुरा नहीं लगा।

'जैसा तुम चाहो।' कहकर वह चुपचाप गुमसुम बैठा रहा।

'बुरा तो नहीं मान रहे ?'

'मान रहा हूं।'

'सच ?'

'हां, इतनी औपचारिकता बरतने पर गुस्सा नहीं आयेगा तो क्या ?'

'मुझे माफ़ कर दो सुकेत, मैं भूल गयी थी।' मनीषी ने सुकेत के दोनों हाथों को अपनी हथेलियों में दबोच लिया—मैं फिर आऊंगी, अब दुखी मत होना, हुं !' सुकेत को उसने एक छोटे बच्चे की तरह थपथपा दिया।

बीस

घर पहुंची तो उसे लगा, जैसे वह सपने में कानपुर घूम कर लौटी है, सपने में ही उसने सुकेत को देखा है, उसका प्रस्ताव सुना है, उसका जवाब दिया

है। अस्पताल पहुंचने तक उसे मालूम ही नहीं था, कि वह सबको क्या उत्तर देगी, उसे लग रहा था, कि वह किसी बड़े परीक्षा-हॉल में बिना किसी तैयारी के प्रवेश कर चुकी है और अब प्रश्नों के उत्तर वह, जो मन में आयेंगे, वही दे देगी। अस्पताल की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए उसे सबसे पहले डॉ० कुलकर्णी ने ही देखा, तो वे चौंक उठीं, जैसे उन्होंने मनीषी का भूत देख लिया हो। 'तुम !! कानपुर नहीं गयीं ?'

एक मन किया कह दे, कि हां वह नहीं ही जा सकी, जाना उसने स्थगित कर दिया, पर फिर ज़बान से अपने आप ही निकल गया, 'गयी थी, पर रही सिर्फ़ एक दिन !'

'क्यों, सुकेत ठीक है न !'

'ठीक है, तभी न चली आयी। फ़ुरसत में बैठकर सब बातें बताऊंगी।'

फ़ुरसत में बैठी तो दूसरी सब डॉक्टर भी उत्सुकतावश थोड़ी-थोड़ी देर के लिए आती रहीं।

'अब कहो, सुनाओ, तुमने तो बस आने-जाने का ही समय लगाया, ठहरीं नहीं न वहां ?'

'तुम ठीक कह रही हो, सोचकर गयी थी, कि न जाने कितने दिन लग जायें, पर वहां जाकर पता चला कि साहब अब बिल्कुल चंगे हैं। बीमारी भुगती है, पर पहले ही।'

'तब, तब तार देकर क्यों बुलाया ?'

'यही मैंने पूछा तो मालूम हुआ कि मैंने टाइफ़ाइड के बाद जो सूप बना कर खिलाया था, उसकी याद आ रही थी, छुट्टी मिल नहीं सकती थी, इस-लिए मुझे ही बुला लिया। मैं भी तो तार पाये बिना तुरन्त जा नहीं सकती थी।' मनीषी ने स्पष्टीकरण दिया।

'यह खूब रहा।'

'बचपना अभी गया नहीं।

'तुम्हें चाहता भी तो खूब है। न जाने कैसे बीमारी झेली होगी, पहले बीमार हुआ था तो तुमने कितना कुछ किया था न।'

'मनीषी, मेरी मानो तो तुम अब उसकी शादी कर दो।'

'डॉ० कुलकर्णी ठीक कहती हैं। अब समझदार हुआ और बाहर है तो इन्सान को सौ ज़रूरतें होती हैं, हज़ार दिक्कतें, कोई 'अपना' पास ज़रूर होना चाहिए।'

'अब देखो, इतना बीमार हुआ था और तुम्हें पता भी नहीं चला। नहीं, नहीं, ऐसे नहीं चलेगा अब!'

'अब सुकेत के प्रति तुम्हारी यही ज़िम्मेदारी और रह गयी है, निबटाओ, तुम्हारी छुट्टी हो।'

'लड़की कहो तो मैं बताऊं। लड़की ऐसी है कि हीरा। चिराग़ लेकर ढूंढ़ने निकलोगी, तो ऐसी लड़की नहीं मिलेगी।'

'बताओ न कौन है?'

'बता दूंगी, डॉ० इन्द्रजीत राज़ी तो हों।'

'राज़ी की क्या, वो क्या सुकेत से खुद शादी कर लेंगी? सुकेत की शादी तो उन्हें करनी ही है।'

मनीषी ने घबड़ा कर देखा, जैसे वह चोरी करते पकड़ी गयी हो, हड़बड़ा कर बोली, 'हां, हां, बताओ न, कौन है?'

'है एक लखपती की लड़की।'

'न भई लखपती की लड़की से हम अपने सुकेत की शादी करने से रहीं। लखपती घर की लड़की के पैर धरती पर थोड़े ही रहते हैं।'

'और सुकेत के पास कोई पैसे की कमी थोड़ी है, ईश्वर का दिया, उसके पास सब कुछ तो है, पैसे के लिए वह किसी लखपती का मुंह नहीं देखेगा।'

'आप सब ठीक कह रही हैं।' इतनी देर बाद डॉ० माण्डेकर के प्रत्युत्तर में मनीषी का बोल फूटा। इतनी देर से वह मुस्कराते हुए बराबर सुन मात्र ही रही थी।

'मैं मज़ाक कर रही थी तुम सबसे, लखपती बाप और घर से मेरा मतलब, धन नहीं है, देख कर ही जानोगी सब कुछ।' इतनी देर से चुप्पी साधे डॉ० बोस गम्भीर स्वर में बोलीं। डॉ० बोस बहुत कम बोलती थीं और इसलिए उनकी बात की वक़त की जाती थी। मनीषी ने इसीलिए

तेज़।

इक्कीस

अस्पताल में मनीषी के कमरे के सामने रजनीगन्धा का पेड़ है। सवेरे तक छोटे-छोटे फूल धरती पर झड़ कर विछौना सा बना लेते हैं, रात को सुगन्ध से नथने गमकते हैं, तो सवरे आंखें तृप्त होती हैं। पिछले साल पेड़ के कोटर में सांप ने बिल बना लिया था; माली कहता था पेड़ कट जाये तभी ठीक रहेगा, मनीषी ने उसे काटने की इजाज़त नहीं दी थी, उसे यह पेड़ प्रिय है। आज उसकी रात की ड्यूटी है, खिड़की खोल कर वह पेड़ की टहनियों को देखने लगी, चांदनी में ज़मीन पर टहनियों का प्रतिबिम्ब बनाये खड़ा वह पेड़ एक कुचले हुए घोंसले का भ्रम उत्पन्न कर रहा था। मनीषी खिड़की के पास खड़ी इतनी देर से न जाने क्या देख रही थी, हृदय भरा होने पर भी आंखें जैसे पथरा गयी हों—विचारों के सांप को वह सचमुच नहीं मार सकी, कोई नहीं मार सका है।

...सुकेत क्या सोचता होगा, कि लौट कर उसने कुशल से पहुंचने का समाचार तक नहीं दिया। क्या लिखती मैं? गाड़ी में बैठा कर गया था, तो पहुंच तो गयी ही होऊंगी, इसका अन्दाज़ तो वह लगा ही सकता है। तब? अपने हृदय के अन्तर्द्वन्द्व को क्या लिखे, किसी निष्कर्ष पर पहुंच जाये तब न! डॉक्टर लोग इतनी बातें कर रही थीं, पर वे सब तो बाहर के रोग को ही देख सकती हैं, अन्तर में सुलगती व्यथा को वे क्या समझें।

लिख दूं, कि सुकेत मैं आ रही हूं, यहां के लोग हम दोनों के विरुद्ध एक भयंकर षड्यन्त्र रच बैठे हैं, वे तुम्हें मुझसे दूर कर देना चाहते हैं, मैं उनके

षड्यन्त्र को सफल नहीं होने दूंगी—अगर यह सब लिख दूं तो सुकेत खुश होगा न? 'संसार की खुशी और पुरानी दक़ियानूसी बातों की खातिर मैं तुम्हारे विरुद्ध नहीं जा सकती। आज तक कभी नहीं गयी हूं तो अब···।' और सोच कर वह एकाकी खिलखिला कर हंस पड़ी। रात के सन्नाटे में एक विकट भयंकर अट्टहास। आहा हा हा हा हा! फिर वह एकाएक चुप हो गई, एकदम गुमसुम; क्या कर रही है वह? कोई सुनेगा तो क्या कहेगा, हो सकता है, वार्ड में किसी मरीज़ ने सुना हो। कहीं वह पागल समझ कर न पकड़ ली जाये!

यह हुआ क्या? कब सुकेत के मन में यह विचार उगा? वह सब उसने किस घड़ी सोचा होगा? क्या केवल कटिंग देख कर? हुंहं, ऐसी बातें तो व्यक्ति रात-दिन देखता-सुनता ही रहता है, क्या होता है इस सबसे? वह तो सिर्फ़ सुकेत के बात कहने का एक माध्यम रहा होगा—कमरे से चल कर वह वार्ड में आ गयी। यह उसके राउन्ड लेने का समय नहीं था, फिर भी वह घूमती रही—कुछ मरीज़ कराह रहे थे, कुछ सो रहे थे, कुछ स्त्रियां यों ही अपने बिस्तरों में उठी बैठी थीं, डॉक्टर को देखते ही सीधी सतर लेट गयीं; कहीं डॉक्टर डांटे न! वह जाकर कराहते मरीज़ों के पास खड़ी हो गई; मरीज़ शान्त हो गये, शायद डॉक्टर का दो क्षण पास खड़े रहना भर उनके लिए बड़ी बात थी—एक बड़ा आश्वासन। अब वार्ड में एकदम सन्नाटा था, बड़े हॉल में दोनों ओर लगी पलंगों की क़तारें और बीच में चमचमाते बिजली के लट्टुओं का प्रकाश। नयी नर्स बेला बीचोबीच लगी मेज़ पर कुछ कर रही थी, डॉ० मिस इन्द्रजीत को देखा तो उठने लगी, मनीषी ने संकेत से मना कर दिया और मुड़ कर गैलरी में आ गयी।

बाहर दृष्टि डाली—अस्पताल की बिल्डिंग का पृष्ठ भाग। ढेरों क़तारबद्ध ऊंचे पेड़, छोटी-बड़ी, दूर-पास फैली हुई बिल्डिंगें—चांदनी में सब कुछ स्पष्ट नज़र आ रहा था, एक नहीं दिख पा रहा था तो भूलभुलैया बना खड़ा सुकेत का मन। सुकेत के मन को क्या उस प्रकार का बनाने का जिम्मा उसका नहीं है? अभी तक सुलझे हुए बिन्दुओं में से उजागर होता हुआ एक नया बिन्दु—इस बिन्दु ने मनीषी की देह में ऊपर से नीचे तक

एक नयी सिहरन भर दी। उस दिन सुकेत ने सिनेमा के अंधेरे में उसका हाथ पकड़ लिया था—स्पर्श की प्रतिक्रियास्वरूप भयंकर तचन—उसी दिन, उसी क्षण सुकेत को उसने क्यों नहीं समझाया ? क्या समझाती ? बात को सामान्य मान कर उसे महत्त्वहीन बनाने के बजाय उसे ज़बरदस्ती का तूल दे सच्चरित्रता और नैतिकता के भाषण पिलाने लगती ? क्या फ़र्ज़ था उसका ? इतनी दूर की कल्पना तो उसने भला की ही कब थी !

फिर सुकेत के उस प्रकार के मृदुल स्वभाव के बल पर ही तो उसने ज़िन्दगी के आठ लम्बे वर्षों को उस घर की छत के नीचे बिता दिया, नहीं तो उसकी दुनिया तो कितनी मशीनी थी—सूखी, कठोर, प्राणहीन दिन-चर्या। कैसे रहती-बसती वो ? जन्मदाता माता-पिता के अभाव में अकेले इतने बड़े घर में उस अवस्था में सुकेत का रहना भी तो कठिन ही था। तो ? उसने जो सुकेत का दायित्व संभाला, उसे सिखाया-पढ़ाया, बड़ा किया, क्या उसी का प्रतिदान चाहती है वो ? ओह, उसने तो कभी किसी चीज़ की कामना ही नहीं की थी, पर जब आमन्त्रण खुद उसकी दहलीज़ पर आकर खड़ा हो गया, तो वह उसे नकारे या स्वीकारे—यह मनोद्वन्द्व उठना स्वाभाविक ही तो है।

आज तक वह सुखी थी, उसके सम्मुख कोई विकल्प नहीं था, किसी प्रकार का नकारने-स्वीकारने का सवाल नहीं था, वह प्रसन्न थी, पर अब वह क्या करे ? सुकेत की भावनाओं को उभारने वाली वह स्वयं है—सिर्फ़ इस भावना को पालकर उससे मुक्त हो जाने के लिए क्या वह सुकेत का विवाह किसी दूसरी लड़की से हो जाने दे ? मुक्त हो जायेगी क्या वह उस तरह ?

मनीषी अब अपने कमरे में आकर सिर पकड़कर बैठ गयी, भीतर ही भीतर दिमाग़ पोला होता चला जा रहा था—किसी से खुलकर इस सम्बन्ध में कह भी तो नहीं सकती।

स्टेशन पर गाड़ी से उतरते ही एक क्षण को कौंधा था कि वह छुटका से सब कुछ कह देगी, इतनी बड़ी दुनिया में शायद वही है, जिसकी झोली में सब कुछ उंडेलकर वह सुबगदोष हो सकती है। छुटका मां किसी के लेने-देने में नहीं है, दुनिया से अनजान और अनपढ़ होते हुए भी दुनिया का वह

बहुत कुछ जानती-समझती है। पर घर में प्रवेश करते ही न जाने किस संकोच ने उसे फिर पीछे खींच लिया था, शायद यही सबसे बड़ा संकोच था कि कहीं क्षण भर के लिए छुटका मां के मन में भी यह न आ जाये, कि वह सुकेत की सम्पत्ति पर कब्जा करना चाहती है—तब ? छुटका मां को भी इसलिए उसने जल्दी लौटने का सबकी तरह ही कारण बता दिया था और छुटका मां सुनकर बिना कुछ कहे बहुत देर तक कुछ सोचती रही थी, उसके सोचने ने उसे कम्पित कर दिया था, पर नहीं कहीं कुछ नहीं था—छुटका मां कुछ अन्दाज नहीं लगा सकी थी और वह निश्चिन्त हो गई थी—और अब वही बिन्दु उसे फिर परेशान कर रहा है···

'डॉक्टर !' अचानक जूली ने कमरे में प्रवेश कर उसे चौंका दिया।

'डॉक्टर, क्या मैं आपको डिस्टर्ब कर सकती हूं ? आप काम कर रही थीं न !'

'नहीं-नहीं, आओ कहो क्या है ?'

'कुछ नहीं डॉक्टर, आप कानपुर से लौटीं तो मैं आपसे कहना ही भूल गयी, कि वह जो लेडी थी न जो आग लगने से हमारे वार्ड में आकर मर गयी थी, उसका देवर आया था।'

'देवर, क्यों इतने दिन बाद क्यों, क्या कह रहा था ?'

'वो आपसे मिलना चाहता था, आपके ही वार्ड में आयी थी न वो।'

'तब ?'

'कह रहा था, क्या यहां किसी तरह मालूम हो सकता है, कि आग लगाने वाली ने खुद आग लगायी थी या किसी दूसरे ने ?'

'हाऊ फ़नी ! पर इस सबको जानकर वह क्या करेगा ? उसके परिवार वालों ने ही तो उस पर जुलम ढाये थे !'

'पर, डॉक्टर, लगता है, वह उन लोगों में से नहीं था। और शायद उसी का···।'

मनीषी एकाएक हतप्रभ हो गई, बोली, 'ओह, उस समय वह कहां था ?'

'दो-तीन हफ़्तों के लिए बिजनेस के सिलसिले में बाहर गया था। उसके पीछे ही घरवालों ने यह षड्यन्त्र रचा।'

'ओह तभी, उसका पता तो यहां होगा न ?' फिर तुरन्त ही मनीषी को न जाने क्या खटका, बोली, 'इट्ज़ टू लेट नाऊ, लीव इट।'

'जी डॉक्टर, मैंने भी उसे समझा दिया था पर...'

'पर क्या ?'

'डॉक्टर, बेचारा बड़ा दु:खी था, वह उससे शादी करना मांगता था, उसकी भाभी ही तो थी विधवा।'

'क्या ?' मनीषी बुरी तरह चौंक गयी, फिर संभल कर बोली, 'लीव इट, इज़ ऑल वेरी कॉम्प्लीकेटेड।'

'जी डॉक्टर, प्लीज एक्सक्यूज़ मी, मेरे घर पहुंचा था, इसीलिए इतनी बातें हुईं।'

'ओह !'

जूली दो क्षण ठहर कर दरवाज़े की चिक हटा कर बाहर निकल गयी तो मनीषी फिर सोचने लगी। अचानक ऊपर सर्जिकल वार्ड से घंटे ने दो बजाये तो उसे ध्यान आया—आज उसने देखा ही नहीं कि उसे एक जगह खड़े-खड़े कितना समय हो गया है। चांदनी ज़मीन से उठ कर छतों पर चढ़ने लगी थी और अस्पताल की बिल्डिगें जो अभी कुछ देर पहले काले ढूहों-सी दिख रही थीं, इस समय चांदनी में नहायी-सी खड़ी थीं। सवेरे इन इमारतों में फिर हलचल शुरू हो जायेगी, ज़िन्दगी और मौत के साथ कशमकश करती इन ज़िन्दगियों में से कौन-सी ज़िन्दगी रहेगी कौन-सी नहीं, कौन जानता है। मन्दिर में सुबह होते ही घंटे ठनठनाने लगते हैं, इन बिल्डिगों में रुदन-चीख-पुकार और कराहों की आवाज़ें गूंजती हैं। कमरे से हटकर वह फिर वार्ड में आ गयी—अब वह एक-एक कर मरीजों को देख रही थी—उनके चार्ट, टैम्प्रेचर और वहां लिखा हुआ ब्लडप्रेशर। जूली उसकी मदद करती हुई साथ-साथ चल रही थी।

सवेरे छह बजे काम से मुक्त होकर मनीषी अपने कमरे में जाकर लेट गयी थी, पुराने दिनों की तरह अब तुरत-फुरत लौट कर घर जाने की जल्दी उसे नहीं रहती। आंख खुली तो वासन्ती उसके सिरहाने खड़ी थी : 'डॉक्टर !'

मनीषी ने तकिये से सिर हटाकर देखा।

'डॉक्टर, आपका लैटर!'

'इतने सवेरे!'

'जी एक्सप्रेस था। मैंने लेकर आपकी टेबल पर रख दिया है, जाते हुए ले लें। आपके लिए चाय ले आऊं न?'

'चाय!' मनीषी ने अंगड़ाई ली, बोली, 'मैं उधर ही आ रही हूं, वहीं दे देना।'

वाशबेसिन पर मुंह-हाथ धोते हुए ध्यान आया; कहीं चिट्ठी सुकेत की न हो, पर सुकेत अब क्यों लिखेगा? उसके लिखने के लिए अब रह ही क्या गया है! तौलिया हाथ में थामे ही मेज़ के पास पहुंची—मेज़ पर सामने ही लिफ़ाफ़ा रखा था—सुकेत के अक्षरों में लिखा हुआ उसका पत्र।

'अरे!' लिफ़ाफ़ा खोलकर मेज़ से टिक कर ही वह पत्र पढ़ने लगी:

'आदरणीया मनि,

तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा में मैं फिर उलझा बैठा रहा। तुम्हारे यहां से लौट जाने के बाद मैंने अपने मन को धोखा देने, भुलाने का बहुत प्रयत्न किया, पर नितान्त असफल रहा। इस बीच तीन-चार बार तुम्हारे लिए पता नहीं क्या-क्या, कुछ लिखा और फाड़ दिया, सोचा तुम खिन्न होगी, व्यस्तता के क्षण भी बेकार जायेंगे। अनेकानेक कार्यक्रमों में पत्र के माध्यम से अपनी उपस्थिति का बोध करा कर मैंने तुम्हें व्यग्र नहीं बनाना चाहा।

फिर भी पिछले सप्ताह भर कुछ भी नहीं कर सका हूं। मन इतना दुःखी हो गया, कि लिखना भी कठिन प्रतीत होता था। नाराज़ मत होना, यही सोच कर माफ़ कर देना, कि मैं अतिशय दुःखी था। अब भी दुःख लगभग उतना ही है, अपने कितने ही आग्रहों में असफल हो जाने के बाद किसी प्रकार तुम्हें यहां बुला पाया, तो सिर्फ़ इस प्रकार दुःखी करके भेजने के लिए। सच जब वो सब कुछ याद आता है, तो बहुत व्यथित हो उठता हूं। तुम्हारे सामीप्य और अपनत्व ने मुझे इतना उद्दण्ड बना दिया, कि उस दिन मैंने एक सीमा का उल्लंघन भी कर डाला। उसके कारण मैं आज भी क्षुब्ध हूं। मन एक विचित्र-सी आकुलता, क्षोभ एवं ग्लानि से अब भी आपूरित है। एक अज्ञात सी पीड़ा मन को रह-रह दुखा रही है। अपने अपराध के लिए

मैं कैसे क्षमा मांगूं।

यह तुम्हारी उदारता थी, कि तुमने मन में इस सबके लिए खिन्न होते हुए भी प्रगट में कुछ नहीं कहा, तुम हमेशा इसी प्रकार उदार रही हो और मैं हमेशा तुम्हारी उस सदाशयता का दुरुपयोग करता रहा हूं। कृपया अब भूल जाओ, कि वह कुछ था, सिर्फ़ ख़ामख्याली थी और कुछ नहीं।

तुम्हारे सम्बन्ध में अपनी धारणाओं को मैं इससे पहले भी लिखता रहा हूं, तुम समझती हो, मैं तुम्हें यूं ही चढ़ाता रहता हूं, विश्वास रखो, मैंने तुम्हें कभी नहीं चढ़ाया, मैं जो भी समझता-सोचता हूं, लिखता रहा हूं। सच कहता हूं, अब भी जब तुम मुझे उपेक्षित करके चली गयी हो, मैं तुमसे स्वयं को पृथक् नहीं कर पारहा; तुमसे जुड़ा रह कर कितना प्रसन्न, भाग्यवान अनुभव करता हूं, तुम शायद इसकी कल्पना कर सको।

मैं तुम्हारी भावनाओं को अपने प्रति अच्छी तरह जानता हूं, मेरे प्रस्ताव ने तुम्हें ज़रूर व्यथित किया होगा। न जाने क्या-क्या सोच रही होगी तुम, इसीलिए न तुम्हारे पत्र से भी मैं वंचित रहा। अपने स्नेह से तो वंचित नहीं कर दोगी मुझे? मैं तुम्हें सदा आदरणीया ही मानता रहूंगा, मेरी इन भावनाओं में किसी प्रकार का अन्तर आने का प्रश्न ही नहीं उठता, मेरा व्यवहार इसका साक्षी होगा। वह क्षण जिसे मैं तुम्हारे काम में लगा सका, मेरे जीवन की सर्वाधिक घड़ियों में से एक होगा।

इस समय अब मैं तुमसे यही प्रार्थना करता हूं, भले ही तुमने मुझे अपने साथ उस रूप में नहीं जुड़ने दिया, पर कभी मुझे भुलाना नहीं, कभी घृणा मत करना, जिस रूप में भी चाहो, मुझे अपना बना कर रखना। मैं अब भी तुम्हारा वही सुकेत हूं, जिसे तुमने सदा अपने स्नेह की छाया में रखा है। अपने अज्ञान और असमर्थता में मैंने तुम्हें बहुत सताया है, अब प्रण करता हूं, कोई कार्य ऐसा नहीं करूंगा, जो तुम्हारे क्लेश का कारण बने। तुम शायद ठीक ही सोचती हो, कि निकट होने के लिए उस प्रकार का सामीप्य अपेक्षित नहीं।

मुझे क्षमा कर दोगी न!

सदैव तुम्हारा ही,
सुकेत।'

पत्र मनीषी की उंगलियों से फिसल गया, बड़े प्रयत्नपूर्वक उसे उठा कर उसने उसे अपने पर्स में डाल लिया। 'आदरणीया', काटता हुआ सम्बोधन। बस अब पत्थर की बुत बन कर ही तो रह गयी हूं मैं, जो केवल पूजने की वस्तु है, सहलाने की नहीं। कुर्सी पर सीधे बैठने का प्रयत्न करने लगी तो गर्दन पीछे झूल गयी, आंखों के आगे अंधेरा छा गया। सुकेत इतना निर्मम कब से हो गया? क्या आवश्यकता थी इस पत्र की, मेरे पत्र की प्रतीक्षा भी नहीं की। अब लिखने के लिए रह ही क्या गया है। सब समाप्त हो गया। मैं भी क्या हूं, पहले उसकी भावनाओं को उद्वेलित कर बैठी, अब उसे इतना दुःखी बना रही हूं, उफ़ मेरे पापों का अन्त है क्या कोई?

मनीषी को लगा, सम्पूर्ण अस्पताल वात्याचक्र की तरह उसके मस्तिष्क में घूमता चला जा रहा है। मेज़ छत पर जाकर टंग गयी है, खिड़कियां बिलकुल नीचे धंसती चली जा रही हैं और छत के बल्ब नीचे चूर-चूर हुए पड़े हैं। कलमदान, पैन और दवातें इधर-उधर छितर गयी हैं। दवाएं, कमरे में लटके चार्ट और कैलेण्डर सब आंधी में उड़े चले जा रहे हैं, दूर बहुत दूर।

'डॉक्टर!' जूली ने अचानक उसे चिक हटा कर पुकारा, पर वह वहां थी ही कहां। डॉक्टर की आंखों के आगे तो बड़ी-बड़ी सूखी टहनियों के प्रतिबिम्ब झूल रहे थे, टेढ़े-सीधे, आड़े-तिरछे, पत्रविहीन।

डॉक्टर!! और फिर चारों ओर एक हल्ला-सा मच गया, उसके चारों ओर एक छोटी-सी भीड़ जमा हो गई—डॉक्टर, नर्सें, वार्डबोय, स्टाफ़ और अस्पताल के छोटे-बड़े कर्मचारी—अन्तश्चेतना की आंख से जैसे वह सब कुछ पढ़ती चली जा रही थी—उसके चारों ओर ग्लुकोस-आक्सीजन के सिलेण्डर टंग गये। कुछ ट्यूबें नाक और मुंह को घेरे हुए थीं, कुछ फुसफुसाहटें उसके कानों में स्पष्ट रिंगती चली जा रही थीं।

'मुझे लगता है, अचानक चक्कर आ गया।'

'अच्छी-भली अभी कमरे से आयी थीं।'

'कल रात डॉक्टर कुछ परेशान सी थीं।'

'नहीं, पहले से कुछ तबीयत खराब होती तो किसी से तो कुछ कहतीं।'

'कहा नहीं तो क्या, जब से कानपुर से लौट कर आयी हैं, मैं तो

हमेशा उन्हें थका-थका ही देख रही हूं।'

'फिर भी रात-दिन अस्पताल में ही रहती हैं, कभी मरीज़ों के बीच में, कभी दवाओं और कभी अपने कामधाम में···।'

'और तारीफ यह कि भले ही भीतर कुछ भी फ़ील कर रही हों, पर किसी का काम संभालने में कभी कोई ना-नुच नहीं। अभी परसों डॉ० चित्रा छुट्टी पर थीं तो बराबर उनकी ड्यूटी पर रहीं, कल डॉ० शुभा गयीं तब भी···।'

'ओवरस्ट्रेन हो गया, नर्वस ब्रेकडाउन नहीं होगा तो क्या।'

'इनके भानजे को लैटर दे देना चाहिए।'

'लैटर नहीं टेलीग्राम।'

'न-न, यूं किसी को घबड़ा देने से फ़ायदा, हम लोग यहां हैं तो, सही, लैटर ही ठीक है।'

'चिट्ठी लिख दी जायेगी तो एड्रेस तो मनीषी से पूछ कर भी लिखा जा सकता है।'

चेत कहीं शाम को जाकर आया। शाम तक वह कई बार बुदबुदायी, बड़-बड़ायी, पर स्पष्ट किसी को भी कुछ समझ में नहीं आ रहा था। चेत आते ही नर्स वासन्ती दूध लेकर दौड़ी।

'डॉक्टर, दूध पी लें!'

'हुं!' मनीषी ने आंखें फाड़ कर इधर-उधर देखा, जैसे वह पहचानने की कोशिश कर रही हो, कि वह कहां थी।

'डॉक्टर, वोर्नविटा मिला दूध है, उठा कर पिला देती हूं। थोड़ी कोशिश कीजिए उठने की, मैं उठाती हूं, लीजिए, बस इस तरह ही!'

'मैं कहां हूं? मुझे क्या हुआ?'

'अभी बस बताऊंगी।' वासन्ती ने घुटने से टिका कर दूध का गिलास मनीषी के ओठों से लगा दिया।

दूध कण्ठ से नीचे उतरा तो आंखें खुलीं। आंखें खुलीं तो खुली ही रह गयीं, 'मैं यहां इस तरह क्यों हूं?' मनीषी ने कमज़ोर कण्ठ से पूछा, 'मुझे

क्या हुआ ?'

'डॉक्टर, आपको सुबह चक्कर आ गया था, इसीलिए आपको रोक लिया। आपकी तबीयत अब ठीक है न! सुकेत बाबू को चिट्ठी लिख दी है।'

'सुकेत को चिट्ठी; क्यों ?'

'अभी डाली नहीं है, डॉ० भट्टाचार्य ने बस अभी लिखकर रखी है, एड्रेस बता दें तो।'

'नहीं-नहीं, सुकेत को कुछ नहीं लिखना है, वैसे ही घबड़ा जायेगा; मुझे हुआ भी क्या है।'

'हां, वैसे तो कुछ खास नहीं है, हम लोग यहां हैं ही।'

'छुटका मां को खबर कर दो बस, या वह भी रहने दो, अब तो मैं पहुंच ही रही हूं।' मनीषी ने वासन्ती को समझाते हुए कहा।

'अभी नहीं, अभी आपको नहीं जाना है, जब तक डॉक्टर न इजाजत दें।'

'डॉक्टर इजाजत दें, मैं खुद क्या डॉक्टर नहीं हूं ?'

'आप हैं, पर अभी आप हम लोगों के हाथों में हैं।' वासन्ती मुस्कराती हुई चली गयी।

मनीषी देखती रही, संरक्षक बन कर व्यक्ति में कितनी सामर्थ्य आ जाती है और संरक्षण प्राप्त करके? वह थोड़ी देर गुमसुम बनी बैठी सामने की दीवार को घूरती रही—ढलते हुए सूरज के ढेर सारे चकत्ते रोशनदान की राह नीचे उतरते चले आ रहे थे, दिमाग में सरकती रील की तरह। कल से लेकर आज तक की एक-एक तस्वीर आंखों के आगे बनती-मिटती चली जा रही थी—अपना काम शुरू करने से पहले वह कुछ देर अपने कमरे में खिड़की के पास खड़ी थी, रजनीगन्धा के पेड़ की टहनियां कितनी टेढ़ी-मेढ़ी थीं। एक नशीली सुगन्ध, चांदनी में धरती पर बिछे हुए उसके फूल और उसके बाद? उसके बाद विचारों की वे उल्टी-सीधी पगडण्डियां—वह कितनी थक गयी थी, मस्तिष्क पिलपिला गया था, तब कहीं सो सकी थी वह। जागने पर वासन्ती द्वारा दिया गया वह पत्र, बेचारी ने दिया कहां था—मैं आराम से देखूं, इसीलिए कमरे की मेज पर रख दिया

ना, पर चल जाता है मुझ : खुद गया, उसे पढ़ा और फिर भीतर-ही-भीतर एक विचित्र ऐंठन, चकरघिन्नी खाता हुआ उसका मस्तिष्क, जैसे सब कुछ उलट-पलट गया हो, सारी देह में एक गुदगुदी मची थी—कोई उसे अपने से चिपका ले, दबोच ले, उसे डूबने से बचा ले, बचा ले !!

इस प्रकार की अनुभूति के बाद काले विन्दु से बने थे आंखों के आगे और फिर सब एकदम गड्डमड्ड, जैसे वह किसी बड़े विशाल-काले-गहरे समुद्र में डूबती चली गयी हो या कुछ क्षण के लिए बहुत ऊंचे नीले आसमान के गुलमुले-काले बादलों के टुकड़ों के साथ उलझी-उलझी घूमी हो और फिर चेतना का वह छोटा-सा पुंज जैसे लुप्त होता चला था, कुछ भी नहीं रह गया था। उस बड़े कारखाने की मशीन का नन्हे-से-नन्हा पुर्जा जैसे खट्ट से रुक गया हो।

और अब वह फिर जगी बैठी है, जैसे नये सूरज का एक नया गोला-सा उगता है और फिर वह लाली पकड़ता जाता है, पहले तेज़ तरबूज़ी रंग, फिर गुलाबी, फिर लाल और फिर पीला और सोने का एक महापुंज बनकर फिर वह पूरी धरती पर चमक उठता है, नहीं-नहीं; वह सूरज नहीं है, वह तो अब भी अपने तकिये का ढासना लगाये निस्तेज बैठी है—लुचपुची देह, लस्त हुए अंग, पूरी देह में एकदम शैथिल्य और वह कह रही है, उसे हुआ ही क्या है, वह अच्छी है।

'मनीषी, तुम घर जाना चाहती हो।' अचानक डॉ० चित्रा भट्टाचार्य सामने आकर पूछने लगीं तो वह चौंकी :

'क्यों, तुमने कैसे जाना ?'

'अभी वासन्ती ने कहा था। प्लीज़, स्टे हियर फॉर टू-थ्री डेज़ मोर। घर पर भी क्या है, छुटका मां ही तो हैं, हम उन्हें यहां बुलवा लेंगे।'

'नहीं-नहीं, उसके चले आने से मकान एकदम खाली हो जायेगा, वह ठीक नहीं होगा।'

'तब ठीक है, वह तुम्हें आकर देख जायेंगी, चार दिन बाद तुम खुद चली जाना, हुं !' बड़े प्यार से चित्रा भट्टाचार्य ने मनीषी के बालों में उंग-

लिया रिगार्यी, 'प्लीज़ टेक रैस्ट, डोन्ट सिट लाइक दिस !' मनीषी की आंखों से आंसू झूलने-झूलने को हुए—कितने दिनों बाद उसे हाथ का इस प्रकार का स्नेहिल स्पर्श प्राप्त हुआ था। एक सुपर्णा दी थीं, जो उसे जब-तब इसी प्रकार सहलाती रहती थीं और एक था सुकेत, दूर टिका जैसे एक श्वेत झिल मिलाता बिन्दु, एक दूर की बात ! इस बार तो सुकेत के सामने पूरे समय वह अकड़ी ही रही थी, कभी-कभी इन्सान को कितना नाटक करना पड़ता है—उसी का परिणाम भुगत रही है न वह !

डॉ० चित्रा भट्टाचार्य उसे समझा कर चली गयी थीं, उसके बालों में उंगलियां रिगा कर, उसके गालों को सहला कर, उसे चूमकर, जैसे वह एक छोटी बच्ची हो, एकदम नासमझ। उसको इस समय इस सबकी ही ज़रूरत थी—बड़े से बड़ा आदमी बीमारी में कितना निरीह हो जाता है, कोमलता का प्यासा—कोमलता, नरमाई और स्निग्धता—आंसू फिर रिसने-रिसने को हुए। काश, डॉक्टर अपने मरीज़ों के साथ इतनी कोमलता बरत पाता ! और क्योंकि उसे स्वयं हरदम तने और तटस्थ रहने का नाटक करते रहना पड़ता है, इसलिए इस समय भी वह क्यों रोये ? आंसू ढालकर उस पुलक-सुख की अनुभूति का आस्वादन क्यों करे, जो कभी-कभी सिर्फ़ आँसू ढाल कर ही प्राप्त होती है—किसी के अपना होने का एक बारीक कोमल अहसास।

आंसुओं को पीती हुई वह बुत बनी बैठी रही—सतर सीधी कठोर। अनुभूतियों के जहाज़ को सिर पर लादे हुए चुपके-चुपके महारेगिस्तान की तपती हुई ज़मीन पर रिंगते रहना कितना कठिन होता है ! हवा के एक झोंके ने आकर उसके उलझे हुए बालों की लटों को फिर तितर-बितर कर दिया, उसने आंखें मूंद लीं—आंखों में जकरान्डा के नाजुक नरम बैंगनी फूलों का बिछौना बिछ गया, ऐसे ही बिछौने तो वह घर की ओर जाते हुए पाती है, बस से उतर कर सीमण्टी सड़क के किनारे-किनारे ढेर सारे जकरान्डा के पेड़, टोकरों में रखे हुए डाभ—मीठा, ठण्डा, सफेद उजला पानी, कब पिया था उसने ?

'कोई कुछ नहीं कहता, किसी को कहने-सुनने की फ़ुरसत नहीं है। समाज और परम्परा—मेरे लिए ये चीजें कोई महत्त्व नहीं रखतीं।' धुंधले-धुंधले अक्स फिर बनने लगे थे। घर की याद उसे आज क्यों आ रही है ?

क्या उसका भी कोई घर है ? आंखें फिर पसीजने को हुईं, वह फिर तन गयी, न-न, अपने गालों को वह गीला नहीं होने देगी, कभी नहीं।

छुटका मां दो घण्टे उसके पास बैठ कर चली गयी, उसने ही भेज दिया। 'मैं ठीक हूं, दो-एक दिन में आ जाऊंगी, तुम वहां रहोगी तो घर अकेला नहीं रहेगा।'

'भइया को लिखवा दिया ?' छुटका मां ने पूछा था।

'नहीं, कोई जरूरत नहीं है। इतनी छुट्टियां कहां हैं उनके पास, बेकार परेशान करना !'

'छुट्टियां नहीं हैं तो क्या ! विना तनखा के छुट्टी लेकर नहीं आ सकते?'

'नहीं, छुटका मां बेकार है। मैं घर जाऊंगी तो खुद लिखूंगी। खुद उसने कब क्या लिखा है ?' छुटका मां आंसू पोंछती हुई उसके पलंग के सामने पड़ी कुर्सी से उठी तो वह फिर पिघलने को हुई, पर उसके ओंठ मुस्करा उठे।

'ठीक तरह से खाती-पीती रहना, हुं। आकर देखूंगी।'

'दोनों एक से हैं, दोनों बिल्कुल एक से, आदत-बोली-बानी सबमें एक !' छुटका मां बुदबुदाती हुई निकल गयी तो डॉ० माण्डेकर और डॉ० भट्टाचार्य दोनों कमरे में आयीं।

'क्या कह गयीं बुढ़िया माँ ?'

'यों ही। सुनो, ज़रा वासन्ती, जूली, या किसी से भी कहना, छुटका मां को टैक्सी में बिठा दें, कहाँ बेचारी बस-स्टॉप तक चलती रहेंगी।'

'हुं। जस्ट !' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य बाहर दौड़ीं तो डॉ० माण्डेकर ईजीचेयर पर लेटी सी हो गयीं।

'मिस इन्द्रजीत, व्हाट नेक्स्ट, यू आर बैटर नाउ। इज़िन्टिट ?'

'फ़ार बैटर !' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य लौट कर आ गयी थीं।

'दिस वाज ड्यू टु सम मैन्टल शॉक !' डॉ० माण्डेकर कहीं दूर देखने लगी थीं।

'मैन्टल शॉक !' मनीषी टुकुर-टुकुर देखते रही, फिर ठठा कर हंसी,

बाईस

'मैं भी बदला लेना जानता हूं।' फिर कुछ जगह छोड़कर लिखा था: 'इतनी उपेक्षा सह नहीं पाऊंगा!' सुकेत की ओर से केवल दो पंक्तियां। उसने भी दो पंक्तियों से अधिक उसे क्या लिखा था? पन्द्रह दिन बाद पत्र का जवाब दिया, उसमें भी बीमारी इत्यादि का कोई जिक्र नहीं, सिर्फ डेढ़ पंक्ति ही तो लिखी थी—शीघ्र बुलाऊंगी उस समय ज़रूर आना।' जैसे सुकेत बिना बुलाये अब दौड़ा ही तो चला आ रहा है न! पगली, प्रतिदान में अगर वही प्राप्त होता है, जो तुम किसी को देते हो, तो तुम्हें बुरा क्यों लगना चाहिए? पर सुकेत ने मुझे दो-एक पंक्तियों का अभ्यस्त अभी तक बनाया जो नहीं!

'अब बना देगा।' किसी ने धीरे से कहा, तो इतने दिनों से तनी हुई देह और खड़ा हुआ मन बैठने-बैठने लगा—'नहीं, रोऊंगी नहीं!' ओंठ काटकर मनीषी ने स्वयं को संतुलित किया और बाहर लॉन में निकल आयी।

जब से अस्पताल से लौटकर आयी है कुछ देखने-सुनने को मन नहीं करता। अस्पताल से पन्द्रह दिनों की छुट्टी मिल गयी थी, पर देह और मन के शैथिल्य ने उखड़ी-बिखरी चीजों को देखने के लिए मन में कुछ उत्साह ही नहीं जगाया—आज बाहर निकलकर खड़ी हुई है तो पूरे लॉन और बगीचे में बहुत सूनापन बिखरा लगा—सूखे पत्तों से अटा पड़ा लॉन, घोंसलों में जाने से पहले एक-दूसरी के ऊपर गद्पद्द गिरती चींचीं-चींचीं करती छोटी-छोटी चिड़ियां, अमलतास का पीला गाछ—एक गिलहरी गिरे हुए सूखे पत्तों के बिछौने को चरमराती हुई एक बहुत ऊंचे पेड़ पर चढ़ती चली गयी, काश वह भी गिलहरी होती! इतने ऊंचे पेड़ पर चढ़कर देख पाती, कि दुनिया कितनी बड़ी है, किन दिशाओं में किस-किस ओर जाती है और कौन-सी दिशा सबसे अंधेरी है—सड़क की ओर दृष्टि गयी तो सहसा सड़क के लैम्पपोस्ट चमचमा उठे, मन किया, दोनों हाथों की अंजुलि बनाकर जोड़ ले लेकिन फिर वह ज्यों-की-त्यों खड़ी रह गयी, सिर्फ़ गर्दन को ज़रा-सा हिला कर उसने यों ही नमनात्मक सिर हिलाया—गेट खोल कर कोई स्त्री सामने से चली आ रही थी—धारीदार रंगीन मोटी साड़ी, टखनों के गट्टों से जुड़े

गिलट के छड़े।

'डाक्टर दीदी, आपको खूकु की मां बुलाती हैं।' बड़े आदर से उसने कहा।

'खूकु कौन ?' मनीषी मुंह उठाकर सोचने लगी।

'वही खूकु, शुचि दी, हम तो नाम भी भूल जाते हैं।'

'ओह शुचि, क्यों बुलाया है उन्होंने ?'

'आज उनके यहां कीर्तन है, मण्डली आयेगी; बड़ा बढ़िया कीर्त्तन होएगा।'

'कितने बजे ?'

'यही कोई आठ बजे से। हम समीर बाबू के यहां काम करती हैं ओ ही वकील।'

'मुझे मालूम है।' नौकरानी चली गयी तो मनीषी पूरी तरह सब कुछ समझी। क्या हो गया आजकल उसकी स्मृति को, सब कुछ भूल जाती है, कुछ याद नहीं रहता; जो कुछ भूलना चाहती है, वहीं नहीं भूल पाती। काश, वो भी उसकी स्मृति से इसी प्रकार उतर जाता! उतरता कुछ नहीं, सब गड्डमड्ड हुआ रहता है—सुकेत की आकृति, उसकी बातें, लौटते समय प्लेटफॉर्म पर विदा देता हुआ उसका ठूंडा-सा हाथ, जिसे उसने गाड़ी के हिलते ही नीचे कर लिया था और जब तक उसकी दृष्टि देख सकी थी, वह बुत बना खड़ा रहा था—ठगा-लुटा निरीह-सा—उसे सुकेत पर तनिक भी दया नहीं आयी? उसने सुपर्णा दी से कहा था, वह सुकेत के सुख के लिए कुछ भी कर सकती है, कुछ भी। पर उसे अब उस सबसे डर लगता है, अब वह उसके बारे में सोचना भी नहीं चाहती और स्मृति है, कि उसी सब को ठेल-ठेल कर उसके सामने करती रहती है—स्मृति का मनोविज्ञान शायद यही है।

शुचि की मां ने बुलाया है। क्या करेगी वह कीर्तन में जाकर ? शायद मन ही बहल जाये। कितने दिन हो गये हैं पड़े-पड़े, ऊब गयी है वह अपनी इस दिनचर्या से। छुटका मां भी उससे कितनी बार कह चुकी है, कि इसे अब

इधर-उधर घूम फिर लेना चाहिए, छुटका मां से ही कहे शायद व
चाहें—लॉन से उठ कर वह भीतर चली आयी।

'छुटका मां, कीर्त्तन में चलोगी शुचि के यहां ?'

'बिटिया, अभी लालू की मां आयी थी, हमें भी बुला गयी है, हम
उससे कहा, बिटिया को ले जाओ, तनिक जी दूसरा हो जायेगा ! हम
में रहेंगी, रात का टैम है।'

'क्यों, तुम्हें पुण्य लूटने की कोई इच्छा नहीं है ?'

'हमें नहीं है। बिटिया, हम ऐसी बातों को पुण्य मानती ही नही
छुटका मां अपनी खाट पर उठ कर बैठ गयी थी, गर्मियों के दिनों में पी
वाली बरामदी में बान की खुली खाट पर लेटना छुटका मां को अच्छा लगत
है। छुटका मां की बात सुन कर मनीषी को उत्सुकता हुई, जैसे उसे एक नया
सूत्र मिला हो, वह पैताने बैठ गयी।

'छुटका मां तुम पाप-पुण्य किसे कहती हो ? भगवान् का भजन-पूजन-
कीर्त्तन पुण्य का काम नहीं ?'

'वो हम कब कहती हैं, पर उससे भी बड़ा पुन्न का काम है, भगवान्
के दुखी जीव को सुखी बनाना। हमारी मत में इसलिए अगर उन्हीं का
ख्याल करती रहोगी, तो भगवान् खुस रहेंगे।'

'कैसी-कैसी बातें कर रही हो छुटका मां, तुम तो बड़े-बड़े साधु-सन्तों
से भी अधिक ज्ञानी हो !'

'गियानी-बिग्यानी हम कोई नही हैं, बस इतना ही जानती हैं सो तुमसे
कह दी। तुमने समझी !'

'समझी छुटका मां, समझ रही हूं। तुम सच कहती हो छुटका मां, मैं
भी कीर्त्तन में नहीं जाती !' मनीषी खाट के पैताने से अपने कमरे में लौटने
लिए उठ खड़ी हुई थी।

'नहीं बिटिया, तुम हो आओ, गमी-दुख में तो किसी के यहां जाना ही
हिए, पर सुख-टहले में जाना उससे भी जियादा जरूरी है। कभी-कभी
उल्टी बात समझ लेते हैं और उलटा करने लगते हैं, ये गलत बात है
या !'

'सच छुटका मां, तुम कित्ती अच्छी हो, कितना कुछ मुझे सिखा-पढ़ा

सकती हो। मैं जरूर जाऊंगी।'

छुटका मां के पास से हट कर मनीषी अपने कमरे में ड्रेसिंग टेबिल के सामने आकर खड़ी हो गई—बाल संवारने के लिए सामने तिपाई पर बैठी तो उसे लगा वह बहुत दिनों बाद अपने को शीशे में देख रही है। चेहरे पर तरह-तरह की रेखाएं खिंच आयी हैं—काली-नीली रेखाएं, गालों का रंग उड़ गया है और वह एकदम निस्तेज हो गई है—पहले जमाने में अपराध करने वाले व्यक्ति को दाग दिया जाता था, उसने भी अपराध किया है, परमात्मा के जीव को दुःख देने का अपराध—उसका चेहरा भी भगवान् की ओर से इसीलिए दाग दिया गया है। लोग बाहर से दगे हुए चेहरे को देख सकते हैं, भीतर के दगीलेपन और तचन को तो वही अनुभव कर सकती है, सिर्फ वही।

बहुत देर तक बालों के दोनों हिस्सों को दोनों कंधों पर लटकाये वह यों ही बैठी रही, जैसे यज्ञविध्वंस के बाद हिमाचल के यहां उत्पन्न हो शिव को पाने के लिए पार्वती भयंकर तप में लीन हों। नहीं-नहीं, उसे कुछ प्राप्त नहीं करना, वह कुछ भी नहीं चाहती। वह तो अब जड़ हो गई है, महसूसने की शक्ति से एकदम परे। तैयार होकर खड़ी हुई तो डॉ० चित्रा भट्टाचार्य की क्रिसमस पार्टी की स्मृति तैर आयी—आज उसने वही साड़ी पहनी थी, सफ़ेद सिल्कन साड़ी—पर उस दिन के गुलाब जड़े चेहरे और आज के चेहरे में कितना अन्तर था—उन दिनों वह दाता थी, सिर्फ़ देना जानती थी, आज उसने हाथ खींच लिया है, कृपण बन गयी है। देने मात्र से ही क्या व्यक्ति के चारों ओर नग जड़ जाते हैं? एक नाम-विहीन रूप उसको चारों ओर से झिलमिला देता है? मन किया, वह अपनी साड़ी खींच कर फेंक दे और यों ही नुची-खुची बिस्तर पर पड़ रहे, पर···पर उसे जाना जरूरी है, छुटका मां ने क्या बताया था उसे?

शुचि की मां ने मनीषी का दरवाजे पर ही स्वागत किया। 'ओ, तुम्हें क्या

इधर-उधर घूम फिर लेना चाहिए, छुटका मां से ही कहे शायद वो जाना चाहें—लॉन से उठ कर वह भीतर चली आयी।

'छुटका मां, कीर्त्तन में चलोगी शुचि के यहां ?'

'विटिया, अभी लालू की मां आयी थी, हमें भी वुला गयी है, हमने ही उससे कहा, विटिया को ले जाओ, तनिक जी दूसरा हो जायेगा ! हम घर में रहेंगी, रात का टैम है।'

'क्यों, तुम्हें पुण्य लूटने की कोई इच्छा नहीं है ?'

'हमें नहीं है। विटिया, हम ऐसी बातों को पुण्य मानती ही नहीं।' छुटका मां अपनी खाट पर उठ कर वैठ गयी थी, गर्मियों के दिनों में पीछे वाली वरामदी में वान की खुली खाट पर लेटना छुटका मां को अच्छा लगता है। छुटका मां की वात सुन कर मनीषी को उत्सुकता हुई, जैसे उसे एक नया सूत्र मिला हो, वह पैताने वैठ गयी।

'छुटका मां तुम पाप-पुण्य किसे कहती हो ? भगवान् का भजन-पूजन-कीर्त्तन पुण्य का काम नहीं ?'

'वो हम कव कहती हैं, पर उससे भी वड़ा पुन्न का काम है, भगवान् के दुखी जीव को सुखी वनाना। हमारी मत में इसलिए अगर उन्हीं का ख्याल करती रहोगी, तो भगवान् खुस रहेंगे।'

'कैसी-कैसी वातें कर रही हो छुटका मां, तुम तो वड़े-वड़े साधु-सन्तों से भी अधिक ज्ञानी हो !'

'ग्यानी-विग्यानी हम कोई नही हैं, वस इतना ही जानती हैं सो तुमसे कह दी। तुमने समझी !'

'समझी छुटका मां, समझ रही हूं। तुम सच कहती हो छुटका मां, मैं भी कीर्त्तन में नहीं जाती !' मनीषी खाट के पैताने से अपने कमरे में लौटने के लिए उठ खड़ी हुई थी।

'नहीं विटिया, तुम हो आओ, गमी-दुख में तो किसी के यहां जाना ही चाहिए, पर सुख-टहले में जाना उससे भी जियादा जरूरी है। कभी-कभी लोग उल्टी वात समझ लेते हैं और उलटा करने लगते हैं, ये गलत वात है विटिया !'

'सच छुटका मां, तुम कित्ती अच्छी हो, कितना कुछ मुझे सिखा-पढ़ा

सकती हो। मैं जरूर जाऊंगी।'

छुटकी मां के पास से हट कर मनीषी अपने कमरे में ड्रेसिंग टेबिल के सामने आकर खड़ी हो गई—बाल संवारने के लिए सामने तिपाई पर बैठी तो उसे लगा वह बहुत दिनों बाद अपने को शीशे में देख रही है। चेहरे पर तरह-तरह की रेखाएं खिच आयी हैं—काली-नीली रेखाएं, गालों का रंग उड़ गया है और वह एकदम निस्तेज हो गई है—पहले जमाने में अपराध करने वाले व्यक्ति को दाग दिया जाता था, उसने भी अपराध किया है, परमात्मा के जीव को दुःख देने का अपराध—उसका चेहरा भी भगवान् की ओर से इसीलिए दाग दिया गया है। लोग बाहर से दगे हुए चेहरे को देख सकते हैं, भीतर के दगीलेपन और तपन को तो वही अनुभव कर सकती है, सिर्फ वही।

बहुत देर तक बालों के दोनों हिस्सों को दोनों कंधों पर लटकाये वह यों ही बैठी रही, जैसे यज्ञविध्वंस के बाद हिमाचल के यहां उत्पन्न हो शिव को पाने के लिए पार्वती भयंकर तप में लीन हों। नहीं-नहीं, उसे कुछ प्राप्त नहीं करना, वह कुछ भी नहीं चाहती। वह तो अब जड़ हो गई है, सह-सुनने की शक्ति से एकदम परे। तैयार होकर खड़ी हुई तो प्रो० सिन्हा भट्टाचार्य की किसमस पार्टी की स्मृति तैर आयी—आज उसने वही साड़ी पहनी थी, सफेद सिल्कन साड़ी—पर उस दिन के गुलाब जड़े चेहरे और आज के चेहरे में कितना अन्तर था—उन दिनों वह दाता थी, सिर्फ देना जानती थी, आज उसने हाथ खींच लिया है, कृपण बन गयी है। देने मात्र से ही क्या व्यक्ति के चारों ओर नग जड़ जाते हैं? एक नाम-विहीन रूप उसको चारों ओर से झिलमिला देता है? मन किया, वह अपनी साड़ी खींच कर फेंक दे और यों ही चुन्नी-चुन्नी बिस्तर पर पड़ रहे, पर···पर उसे जाना जरूरी है, छुटकी मां ने क्या बताया था उसे?

मुनि की मां ने मनीषी का दरवाजे पर ही स्वागत किया। 'ओ, मुझे क्या

हुआ मनीषी, तुम तो पहचानी ही नहीं जातीं !'

'मैंने कीर्त्तन के लिए आज अच्छी साड़ी पहनी है न !'

'अरे अच्छी साड़ी पहनने से क्या होता है, साड़ी कोई तन्दुरुस्ती को जोड़ देगी ?'

'मैं तो पिछले दिनों काफ़ी बीमार रही न !'

'ओह तभी, तुम शायद इधर थीं ही नहीं, शुचि एक दिन तुम्हें देखने गयी थी, पता चला तुम बाहर गयी हो !'

'हां, उन दिनों मैं कानपुर चली गयी थी, बीमार उसके बाद हुई।'

'सुकेत कानपुर में ही है न ?'

'जी हां, वहीं है, उसी के पास गयी थी।'

'सुकेत की शादी ठीक हुई ?'

'अभी कहां, कर रहे हैं, देखभाल रहे हैं।' पुरखिन के स्वर में मनीषी ने कहा।

'हमारी खूकु से करोगी सुकेत का ब्याह ?' मनीषी चिहुंकी, फिर संभली।

'सुकेत से शुचि की शादी कर दोगी तुम काकी ?' इसकी कल्पना भी कहां की थी उसने।

'करने को क्या हुआ ? शुचि अच्छी नहीं है ?'

'अच्छी क्यों नहीं है, शुचि तो बहुत प्यारी है पर···।'

'पर क्या ?'

'शुचि सुकेत को दादा कहती है। दादा, यानी भाई।'

'ऊंह, कहती ही तो है, कोई सच्चा भाई थोड़ी है।' उपेक्षापूर्ण स्वर में शुचि की मां ने कहा, जैसे यह बात उसके लिए बिल्कुल अहम न हो।

'नहीं वो छोड़ो, आप लोग बंगाली हैं न, सो बोलीबानी खानपान, और···।'

'सब चलता है, आजकल वो भी सब खत्म हो गया, हम लोग तुम्हारी बोली नहीं बोलते क्या ? तुम लोग हमारी भाषा नहीं समझता ? तुम उधर अस्पताल में जाती हो, कौन-सी भाषा बोलती हो, रली-मिली न ! सब समझता है, सब चलता है, एक-दूसरे को लिया-दिया खूब खाता-पीता है,

वो कुछ नहीं। हमारे ही कुल की चार छोकरी बाहर गया है। अरे भई, जब लड़के-लड़की अपनी मर्जी से खुद शादी बना लेंगे, तो तुम और मैं क्या कर लेंगे? पर खूकु के मामले में तो मैं हंसी कर रही थी। इसके बाबा के एक काकू हैं न, हमारे यहां सब काम उन्हीं की मर्जी से होते हैं।'

'अब तुम और मैं क्या कर लेंगे?' शुचि की मां ने उसे अपनी श्रेणी में शामिल कर लिया है—क्षणभर को चेहरे पर बड़प्पन का एक बड़ा खांचा खिंच गया, ऊपर से नीचे तक सुकेत के अभिभावकत्व का जामा, पर दूसरे ही क्षण आहत होने जैसी वह लकीर—'इसके बाबा के काकू हैं एक, उनसे पूछना पड़ेगा, हमारे यहां सब काम उन्हीं की मर्जी से होते हैं···।' अगर वो मना कर देंगे तो···। यही न? ऊंह जैसे सुकेत फालतू है, किसी के आदेश और दया पर हिलगा हुआ! नहीं, वह सुकेत को ऐसे कैसे छोड़ेगी? मुस्कराते हुए कुछ कटे से स्वर में उसने कहा।

'सब कुछ ठीक है काकी, पर सुकेत को तो पांच-छह परिवारों ने पहले ही घेर रखा है, अभी तय नहीं हुआ है, पर वो लोग इस कदर पीछे पड़े हैं, कि कुछ पूछो मत!'

'ओह सच, सुकेत है भी तो कितना ऊंचा पूरा होशियार!' शुचि की मां के स्वर में 'चूरे चूके' जैसी भावना मुखर हो उठी थी, पर मनीषी के हृदय में कुछ कौंधा—सुकेत उस दिन शुचि की मां के कन्धे पर सिर रख कर रोया था—एक बारीक-सी ईर्ष्या की रेख इतने दिनों बाद खरोंच की तरह मन पर फिर खिंच आयी।

'ओफ़्फ़ो, मैंने तुम्हें इतनी देर खड़े रखा, चलो भीतर चलो, आओ बैठो!' 'शुचि!' शुचि की मां ने पुकारा, शुचि आंगन में सहेलियों के साथ खड़ी थी, देखते ही दौड़ी।

'डॉक्टर दीदी, तुम इतनी देर में क्यों आयीं? अच्छे-अच्छे भजन सब निकल गये। मां, तुमने दीदी को इतनी देर खड़े रखा! दीदी के पैर दुख गये होंगे।'

'अरे नहीं, कुछ नहीं हुआ। कैसी अच्छी निकल आयी है तू!' मनीषी ने शुचि का हाथ खींच कर थपथपाया।

'और तुम दीदी, तुम भी तो कितनी अच्छी हो, मुझे इतनी अच्छी

लगती हो !' शुचि मनीषी का हाथ खींच कर भीतर ले गयी। संगीत-समाप्ति के बाद बस अब कीर्त्तन आरम्भ होने को ही था—सामने कीर्त्तन मण्डली अपने झांझ-मंजीरे लिये तैयार थी। मां दुर्गा की विशाल मूर्ति के सामने मनीषी ने बड़े श्रद्धाभाव से झुक कर नमन किया, फिर भावमग्न एक ओर बैठ गयी :

'माँ, उस दिन सुकेत ने मुझे तुम्हारे चरणों में नहीं आने दिया, सिर्फ़ सुकेत के कारण ही मैं तुम तक नहीं पहुंच सकी थी।' सुकेत की बात को कितनी मानती थी वह उन दिनों ! 'कहती तो है, कोई सच्चा भाई थोड़ी है।' झन्न-न्न-न्न-न्न !! एक बड़ी झंकार भीतर ही भीतर हुई।...'मैं सम्बन्ध, समाज और परम्परा किसी को नहीं मानता !' एक दूसरी झन्न-न्न ! 'तुमने मुझे उस रूप में अपने साथ नहीं जुड़ने दिया, परन्तु मुझे भुलाना नहीं, कभी घृणा नहीं करना, जिस रूप में भी चाहो, मुझे अपना बना कर रखना।' बहुत दूर कहीं कुछ पन्ने फरफरा रहे थे। धनुष की डोरी खुली पड़ी थी, कहीं कुछ नहीं रहा, एक तीखी मीड़-सी जगी, संगीत के तीखे सप्तक पर पहुंचे स्वर की तरह, मीठी और दर्दीली।

गीत के अन्तिम बोल के समाप्त होते ही कीर्त्तन कब शुरू हो गया, कीर्त्तन मण्डली के लोग अपने चारों ओर के वातावरण को गुंजाते हुए स्वर को आकाश के अन्तिम छोर तक कब ले गये—मनीषी को कुछ पता ही न चला। आंखें सब कुछ देख रही हैं, कान सब सुन रहे हैं, पर वह जैसे वहां हो ही न, दुर्गा देवी की प्रतिमा के सिर से पृथ्वी को स्पर्श करती सामने झुकी एक युगलजोड़ी—सुकेत और शुचि। लम्बा ऊंचा पूरा होशियार सुकेत और कंधे से तनिक नीचे सटी खड़ी बड़ी-बड़ी आंखों वाली शुचि—सोलह-सत्रह साल की किशोरी। सुकेत ने अगर अपनी यह तस्वीर देखी होती, तो उस प्रकार के प्रस्ताव करने की ग़लती कभी न करता, कभी नहीं। आस-पास बैठी स्त्रियों की आंखों से अश्रु-बिन्दुओं का रेला बहा चला जा रहा था—जय दुर्गे माता...। उसकी पलकों से भी आंसू की एक बूंद झलकी और ढल गयी—सुकेत के साथ उसका गठबन्धन कितना बड़ा

अत्याचार है न! नहीं, नहीं, यह अत्याचार वह नहीं होने देगी। सुकेत ने तो अब सब कुछ समाप्त समझ ही लिया है।

कीर्तन समाप्त कर घर लौटने लगी, तो उस दिशा को जाने वाली कुछ स्त्रियाँ साथ जुड़ लीं, 'चलो इनके हाते से ही उधर को निकल जायेंगी।' रास्ते में बातें चलती रहीं, 'सुकेत की शादी पर तुम इसी कीर्तन-मण्डली को बुलाना डाक्टर दी! बहुत अच्छा कीर्तन करती है।'

'कब करोगी सादी?'

'देखो!'

'हाँ, अब कर ही डालो दीदी, चार बातें उठें, क्या फायदा। दुनिया में बहुत फूंक-फूंक कर चलना पड़ता है, उजली चादर को बचा-बचा कर चलो तो ठीक, नहीं तो दाग लगते क्या देर लगती है जी!' स्त्रियाँ हट कर चली गयीं, तो मनीषी को लगा, उसके सिर में भयंकर दर्द है।

तेईस

बिस्तर से उठी तो देखा, डॉ० चित्रा भट्टाचार्य और डॉ० सीना खोल गेट खोल कर भीतर आ रही हैं। पहले तो आँखें पहचान ही नहीं पायीं, पहचानीं तो आश्चर्य हुआ—ये दोनों सुबह-सुबह इधर कैसे? कुशल तो है।

'हम दोनों तुम्हें लेने आये हैं छुट्टियों में तो तुममें काफी ताजगी आ गयी होगी, अब तो कमजोरी नहीं होगी, चलो, तुम्हें श्रीमती रमापति से मिला लायें।'

'श्रीमती रमापति कौन?'

'तुम्हारी होने वाली समधिन!' डॉ० भट्टाचार्य खि

सं

'क्या मतलब, तुम दोनों बैठोगी भी या नहीं, मैं तो अभी-अभी उठी हूं, रात कीर्तन था पड़ोस में, वहीं चली गयी थी।'

'ओह, डोन्ट टेक ओवर स्ट्रेन अगेन।' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने कहा, डॉ० बोस मेज़ पर रखी इलस्ट्रेड वीकली उठा कर पन्ने पलटने लगी थीं।

'तुम दोनों बताओ, मुझे कहां ले जा रही हो ?'

'ओफ़्फ़ो, कहीं बुरी जगह नहीं ले जा रहे, तुम्हें याद है डॉ० बोस ने उस दिन सुकेत के लिए किसी लड़की के बारे में कहा था।'

'याद है, पर इतने सुबह !'

'पर उन्होंने गाड़ी भेजी है, कहलाया है लड़की देख जायें। फिर वह अपने मामा के यहां जा रही है।'

'सो गरज़ उनकी है या हमारी ?'

'उनकी भी है और हमारी भी है।'

'तो उन्हें हमारी सहूलियत देखनी चाहिए।

'अब ज़्यादा बातें तो बनाओ मत मनीषी, तुम्हारी तो छुट्टी है, हम छुट्टी लेकर आये हैं, गाड़ी में जायेंगे-आयेंगे, क्या स्ट्रेन पड़ेगा ?'

'डॉ० कुलकर्णी और डॉ० माण्डेकर से बात की ?'

'खूब की, उन्होंने ही हम लोगों को भेजा है। अरे भई, हम लड़के वाले हैं, शान से जायेंगे, लड़की पसन्द आये तो हां करना नहीं तो शान से मना कर देना।' इस बार डॉ० बोस ने कहा।

'लड़की देखना तो सुकेत का काम है, न कि हमारा तुम्हारा।' मनीषी पलंग पर ज्यों की त्यों बैठी थी। चित्रा भट्टाचार्य ने मेज़ पर हाथ मारकर कहा, 'हमारा काम क्यों नहीं है, पहले तो हम ही पास करेंगे, सुकेत का काम तो बाद में फ़ाइनेलाइज़ करना रह जायेगा। तुम भी अजीब हो !'

'तुम्हें कोई इन्ट्रेस्ट ही नहीं है, तो छोड़ो।' डॉ० बोस ने उठते हुए कहा, 'ड्राइवर को मना कर देते हैं।'

'लोगबाग समझेंगे, माशी के मन में न जाने क्या है, कोई उत्साह ही नहीं ले रही।'

'कहने दो।'

'कहने कैसे दें ! तुम्हारी बदनामी जो होगी।

'बदनामी कैसी ?'

'भई, जब सुपर्णा दी तुम्हारे ऊपर सुकेत को छोड़ गयी हैं तो तुम्हारा यह फ़र्ज़ बनता है, कि तुम उसका घर बसाओ, फिर लोग तो कुछ भी कहने लगेंगे, उनका मुंह किसने पकड़ा है।' डॉ० कुलकर्णी और डॉ० माण्डे-कर दोनों कह रही थीं।

'कुछ दिन और ढीलढाल की तो लोग तो यहां तक कह देंगे, कि सुकेत से तुम खुद शादी करना चाहती हो, छि: !' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने कहते-कहते मुंह बनाया, जैसे एक बेहद कड़वी गोली लीलकर चुकी हो। 'हाउ फ़नी ! कितनी बेतुकी बात—बर्दाश्त कर सकोगी तुम यह सब कुछ ?' भट्टाचार्य और बोस दोनों सामने बैठी मनीषी का मुंह तकने लगीं।

मनीषी निहत्थी होती चली गयी, भीतर ही भीतर वह कांप गयी—क्या ये सब, सब कुछ जानती हैं ? वह उठ खड़ी हुई, आनाकानी, विरोध, विद्रोह अब कुछ नहीं। तैयार होने के लिए उसे भीतर चले जाना पड़ा।

चौबीस

'तुम्हारा नाम क्या है ?'

'शारदा।'

'पढ़ती हो न !'

'जी, बी० ए० फाइनल में।'

'सीइंग एम्ब्रोयडरी आती है ?' मनीषी ने डॉ० भट्टाचार्य के पैर का अंगूठा दबाया, 'छि: ! क्या-क्या पूछ रही हो, जो नहीं आयेगा लेगी।'

सीढ़ियां

'तो तुम्हें पसन्द है न ? मैं तो तुम्हारी वजह से ही पूछ रही थी।' मनीषी सुन कर मुस्करा उठी।

'ये ही सुकेत की माशी हैं ?'

'हां जी, यही हैं, इन्हीं का देखना सबसे ख़ास है।'

'वैसे हम भी कम ईम्पोर्टेन्ट नहीं हैं। कभी यूं ही समझ लो।' डॉ० बोस ने डॉ० भट्टाचार्य और अपने को संकेत करते हुए कहा।

'तुम क्यों अनइम्पोर्टेन्ट होगी, तुम्हारे बिना तो ये शादी हो ही नहीं सकती।'

'ओह, तब ठीक है।' डॉ० भट्टाचार्य ने कहा।

'ये मौसिया सास-बहू थोड़ी लगेंगी, दोनों बहनें-बहनें दिखेंगी। लड़की की मां ने मनीषी को बड़े स्नेह से देखते हुए कहा।

'वो तो है ही, अभी तो इनकी शादी भी करेंगे हम ! पहले ये अपना फ़र्ज़ अदा कर लें।'

मनीषी संकुचित हुई।

'भई दुनिया में यह तो चला ही करे है। कोई रिश्तेदारी से ही सारे काम थोड़ी होते हैं। हम तो कहें, ऐसे-ऐसे लोग भी दुनिया में पड़े हैं···।' शारदा की मां मनीषी के मुख को दुबारा देखती हुई बोली, 'हमें तुम्हारे बारे में सब मालूम है बीबी, और हम तो सच कहें, जब से तुम्हारे बारे में सुना है, तब से हम तो लड़के को बिना देखे ही शादी करने को तैयार हैं।'

'देखिये, मेरे-आपके देखने से तो काम चलेगा भी नहीं, लड़के-लड़की की मर्ज़ी तो होनी ही चाहिए, दोनों एक-दूसरे को देख लें, पसन्द कर लें, शादी तभी होगी।'

'वो तो है ही, हम तो खूब दिखा-भला कर देंगे, ऐसी थोड़ी। पर यह मैं तुमसे बता रही हूं, तुम कहोगी मां हूं इसलिए अपनी लड़की की तारीफ़ कर रही हूं, पर लड़की हीरा है, घर के एक-एक काम में होशियार है—सीना, पिरोना, काढ़ना, बुनना, सब पढ़ाई-लिखाई के बारे में तुमने पूछ ही लिया है, आगे चाहो तो पढ़ाना, न चाहो न पढ़ाना, तुम्हारी मर्ज़ी पर है और बहन, एक बात और कह दूं···'लड़की की मां दबे स्वर में कहने लगी,

'लड़की के पिता नहीं हैं, पर व्याह हम ठीक ही करेंगे। लड़की का मामा सब कुछ करेगा, उस बात से तुम निश्चिन्त रहना, कोई अपनी तरफ़ से लेने-देने की बात हो, तो तुम अभी खुलासा कर दो।'

'यह बात बहुत छोटी है, हमें तो लड़की अच्छी चाहिए।' मनीषी ने दबे किन्तु गम्भीर स्वर में कहा।

'लड़की तो तुम्हारे सामने है। ये तुम्हारी बहनें बैठी हैं ये सब पास कर दें, तब लेना।' लड़की की मां उठने लगी, तो डॉ० भट्टाचार्य ने कहा, 'अच्छा तो अब हम लोग चलें!'

'अभी, यों ही बिना मुंह जुठारे? न, ऐसा नहीं होगा। पहले सब चाय पियेंगी, फिर खाना खाना होगा, ऐसे मैं नहीं जाने दूंगी। हां!' लड़की की मां उठ कर चली गयी तो सबने एक दूसरे की ओर मुस्करा कर देखा, 'मां काफी तेज़ है।'

'यह शुरू से ऐसी है, बड़ी तमीज़दार, समझदार और बोलने-चालने में होशियार।' डॉ० बोस ने बताया।

'हां, व्यावहारिक आदमी हर जगह सफल होता है।' डॉ० भट्टाचार्य ने लड़की की मां की एक नई खूबी बतायी। मनीषी मुस्करायी।

'ख़ैर, अब सोचो लड़की कैसी है?' डॉ० बोस ने बड़ी संजीदगी से शुरू किया।

'लड़की तो गोरी-चिट्टी अच्छी दिखती है। पर मां के गुण ही लड़की में आते हैं, कहीं यह रौबदाब, चलता-पुर्ज़ापन, कम बोलना···।'

'और लड़की की आवाज़?' मनीषी ने धीरे से कहा।

'वही सब कुछ तो मैं कह रही हूं।' चित्रा भट्टाचार्य ने मनीषी का समर्थन किया।

'आवाज़ ठीक है, थोड़ी रौबदार लगती है, पर बात ऐसी है नहीं। फिर लड़की को तुम जैसा ट्रेन करोगी, वैसी ही हो जायेगी। लड़की पर इतना डिपेन्ड नहीं करता, जितना खुद अपने आप पर!' डॉ० बोस ने समझाने का यत्न किया, तो डॉ० भट्टाचार्य ने डॉ० बोस की पीठ थपथपायी, 'तुम तो ऐसा कहोगी ही, ख़ास एजेन्ट तो तुम ही हो न!'

'देखो जी, वो बात बिल्कुल नहीं है, तुम लोग करना चाहो करो, न

करना चाहो, शादी मत करो। मैंने तो पहले दिन ही तुम्हें पूरी बात बता दी थी, इन लोगों के साथ मेरी कोई रिश्तेदारी तो है ही नहीं।' डॉ० बोस ने कहा।

'अरे, तुम तो बुरा मान गयीं बोस, मैं तो ऐसे ही कह रही थी। बात यह है कि लड़की को देखते हुए बहुत से ख्याल मन में आते हैं, इसलिए कुछ न कुछ सोचना ही पड़ता है। दूसरी बात यह भी है, कि डॉ० मिस इन्द्रजीत, डॉ० माण्डेकर, डॉ० कुलकर्णी, सभी का काम तो मुझे ही करना पड़ रहा है। ये तो कुछ बोलती ही नही हैं।' मनीषी की ओर देखते हुए चित्रा भट्टाचार्य ने मनीषी को ठोंगा दिया।

'अब मैं क्या कहूं, तुम कर तो रही हो इतना। मैं तो यही चाहती हूं, कि लड़की ऐसी हो, जो सुकेत को बहुत स्नेह दे, उसको समझे...।' मनीषी ने उत्तर दिया।

'भई, यह खूब रही। चीयरो! अपने हसबैण्ड को नहीं समझेगी तो किसको समझेगी, तुमको?' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य किकिया कर हंसीं, फिर बोलीं, 'खैर, तुम्हें भी समझेगी ही, क्योंकि तुम उसके हस्बैण्ड की माशी हो, पर यह तुम छोड़ो, लीव इट टु हर, आजकल की लड़कियां वो सब कुछ बहुत अच्छी तरह समझती हैं, उसकी चिन्ता मत करो।'

मनीषी और कुछ कहने जा रही थी, कि तभी चाय के लिए निमन्त्रण आ पहुंचा। निमन्त्रित करने खुद शारदा ही आयी थी, 'चलिए।' उसने सधे-बंधे स्वर में कहा। हल्के चॉकलेटी शेड की शिफ़ोन की नाभिदर्शना ढंग से बंधी साड़ी उसकी दूधिया देह पर खूब फब रही थी। आंखों ही आंखों में सबने एक दूसरे को संकेत किया, पहले न जाने कैसे लड़की की इस विशेषता पर किसी ने ग़ौर ही नहीं किया था।

'लड़की ज़रा मुस्कराती कम है।' मनीषी ने कहा तो इस बार डॉ० बोस ने भी समर्थन किया:

'यही बात इसने ज़रा मुस्करा कर कही होती, तो कितनी प्यारी लगती!'

'मुस्कराना भी सीख जायेगी, सुकेत सब सिखा लेगा और फिर जब डॉ० मिस इन्द्रजीत जैसी सास का साया ऊपर होगा तो यूं सीखेगी यूं...।'

डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने चुटकी वजा कर वताया ।

क्या चक्र चल रहा है यह उसके चारों ओर ! ये सव मिलकर सचमुच उसे पागल वना देंगे। रात एक थी शुचि की मां, जो उसके पीछे पड़ गयी और सुवह उठते ही यह दूसरा काण्ड—आखिर यह हो क्या रहा है ? जब पहले दिन इस घर की दहलीज़ पर आकर खड़ी हुई थी तो कल्पना की थी उसने इस सवकी, कि उसे यह भी निभाना पड़ेगा, यहां तक ? इन लोगों को दूसरों के मामले में टांग अड़ाने में न जाने क्या आनन्द आता है ! और ये, यह सव करते क्यों हैं, सिर्फ़ पुण्य की खातिर, सिर्फ़ इसलिए कि ये मेरी हितू हैं, मुझे अपना मानती हैं, लोक-लाज की चिन्ता इन्हें मुझसे ज़्यादा है। अगर ऐसा ही मुझे अपना मानती हैं तो क्यों नहीं···? मनीषी ने जीभ काट ली, फिर वही सिरफिरेपन की वातें !

गाड़ी हवा की तरह दौड़ती चली जा रही थी—विक्टोरिया-मेमोरियल की इस तरफ़ की सड़क इतनी ही साफ़ है, साफ और चिकनी !

'भई माची हो तो ऐसी हो, हर काम सोच-समझ कर करने वाली, अव देखो, जब से लड़की देख कर आयी हैं, वरावर सोच-विचार रही हैं।' मनीषी को चुप देख कर डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने कहा। सामने वैठे ड्राइवर के कारण कोई ज़ोर से नहीं वोल रहा था, आखिर वधू-पक्ष का है, लौट कर कुछ भी उल्टा-सीधा लगा-बुझा सकता है।

'हां सुनो वोस, शारदा की मां तुम्हारी सहेली कैसे हो गई ?' डॉ० भट्टाचार्य ने एक दूसरी वात शुरू की।

'ओह, वताया न, हम दोनों वचपन में आगरे में साथ-साथ पढ़ती थीं।'

'तभी !'

'तभी क्या ?'

'यही कि तुम्हें देख कर कोई कह ही नहीं सकता, कि तुम उत्तर प्रदेश की नहीं हो—वही रहन-सहन, वोली-वानी, उठना-वैठना···।'

'सच कह रही हो ?'

'और क्या झूठ कहूंगी ?' डॉ० भट्टाचार्य ने मुंह चिढ़ाया। डॉ० वोस

कहती रहीं, 'शारदा की मां ने आठवीं क्लास के वाद ही पढ़ना छोड़ दिया था, मैं पढ़ती रही। पढ़ाई छोड़ने के एक-डेढ़ साल वाद ही इसकी शादी हो गई। उसके वाद संयोग कुछ ऐसा हुआ, कि हम दोनों मिल ही नहीं पाये। मिले तो यहां कलकत्ता में, इस विशाल नगरी में, जाने-पहचाने आदमी तक जहां एक दूसरे से अजनवी वन जाते हैं। मां की चिट्ठी लेकर आयी थी, इसीलिए तो मैंने इसे पहचान भी लिया वरना...।'

वातें मनीषी के दोनों ओर चल रही थीं, वह डॉ० भट्टाचार्य और डॉ० वोस के बीच में फंसी हुई पीछे सीट से टिकी वैठी थी, वह इन बातों में कोई रुचि नहीं ले रही थी, उसे लग रहा था, जैसे वह एक असमर्थ अपंग बच्ची हो, जिसको सब लोग ढोकर घसीटे लिये ले जा रहे हों।

'मनीषी, तुम तो एकदम चुप हो, लड़की पसन्द नहीं आयी क्या?'

'ठीक है।' मनीषी ने मुस्कराकर कहने का प्रयत्न किया और फिर गुम हो गई, जैसे वहुत थकी हो और सोने के लिए अधीर हो।

'अच्छा सुनो, तुम थोड़ी देर के लिए अस्पताल चलोगी या ड्राइवर सीधे तुम्हें तुम्हारे घर छोड़ दे?' डॉ० भट्टाचार्य ने एक दूसरा प्रश्न किया, जैसे इसके वाद मनीषी से अव कोई सरोकार न रहा हो।

'घर ही जाऊंगी, अस्पताल कल-परसों आऊंगी छुट्टी के वाद।' मनीषी ने भी तटस्थ स्वर में उत्तर दिया।

सहसा डॉ० वोस ड्राइवर से वोलीं, 'प्लीज़ ड्राइवर साहव, ज़रा गाड़ी रोक लो, वो देखो डॉ० लीना और जूली दोनों वस के इन्तजार में स्टॉप पर खड़ी हैं, इन्हें पिकप कर लें!' उसने डॉ० भट्टाचार्य को दिखाया।

'ओह, यस, वेरी गुड, तुमने अच्छा देख लिया।' डॉ० चित्रा किलकीं। ड्राइवर ने गाड़ी रोकी, डॉ० लीना और जूली दोनों गाड़ी में आ गयीं।

'सैर-सपाटा करके कहां से आ रही हो?' डॉ० लीना ने कुछ चिढ़े स्वर में पूछा।

'वो सव वाद में, अव तो यह पूछो, कितना जोरदार लंच लेकर चले आ रहे हैं!'

'लंच, कहां से? कहां गयी थीं? हम तो इधर ज़रा किसी काम से आये थे, छुट्टी के घण्टे में, सो तुम दिख भी गयीं, नहीं तो वस उड़न-छू, क्या

पता लगता आप लोगों का ?' डॉ० लीना स्पष्टीकरण पर तुली थीं।

डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने मुस्कराते हुए कहा, 'वहीं गये थे, सुकेत की शादी के सिलसिले में !'

'सच ! गुड ग्रेशियस !' डॉ० लीना ने आंखें चौड़ायीं, 'मैं अब डॉ० माण्डेकर से लड़ाई करूंगी, उन्होंने मुझको क्यों नहीं भेजा। ख़ैर, हाउ इज़ द गर्ल ?' डॉ० लीना अब सब कुछ पूरी तरह भूल लड़की के बारे में जानने के लिए उत्सुक हो उठी थी।

'अच्छी है बहुत अच्छी। इनसे पूछो मनीषी से जो अब बैठे-ठाले यों ही सास की पदवी पर पहुंच जाएंगी। हमसे तो ये पूछो, कि क्या-क्या खाया ?' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य चीज़ें गिनाने के लिए चटखारे लेती हुई ज़बान खोलने ही वाली थीं कि अचानक ड्राइवर का ध्यान आ जाने पर आंखें मिचका कर बोलीं, 'ऑल वेजीटेरियन फूड, बट वेरी टेस्टी !'

सुन कर मनीषी समेत सब खिलखिला कर हंसने लगीं। किसकी हंसी कितनी कृत्रिम थी, गाड़ी के शोर में कोई नहीं जान पाया। ड्राइवर गाड़ी अस्पताल के गेट को पार कर भीतर लाल बजरी वाली सड़क पर ले जा रहा था। कुछ दूर आगे ले जाने के बाद उसने गाड़ी रोक ली, उतर कर पीछे का दरवाजा खोला और आदाब बजा कर एक ओर खड़ा हो गया।

'यह भी जानता है, हम किस काम से गये थे और हम कौन हैं।' डॉ० भट्टाचार्य ने सांकेतिक ढंग से मुस्कराते हुए यों ही थैंक्यू कहा—एक छोटा किन्तु अत्यन्त औपचारिक शब्द। ड्राइवर ने प्रसन्न मुद्रा में विनयपूर्वक गाड़ी मोड़ ली, मनीषी भीतर चुपचाप बैठी रही। अपनी तटस्थता और अशिष्टता पर उसे क्रोध आया, पर रास्ते में।

'ये लोग सुकेत को गाड़ी देंगे न, तब हम खूब सैर किया करेंगे।' डॉ० लीना ने एक छोटी बच्ची की तरह हुलस कर कहा।

'सो कुछ नहीं, ये गाड़ी भी हो सकता है मांगी हुई हो। साधारण अच्छे खाते-पीते लोग हैं, ज़्यादा की उम्मीद मत कीजिए।' डॉ० बोस ने समझाया।

'हां, गाड़ी के साथ-साथ कहीं फिर कोठी की बात भी करने लगो, लड़की अच्छी हो तो फिर ये सब चीज़ें सेकेण्डरी होती हैं, हुं !' और फिर

इतनी गम्भीर बात कहने के बाद डॉ० चित्रा और डॉ० लीना खिल-खिलाती, अपने सैण्डिलों पर मचमचाती अस्पताल के मुख्य द्वार की ओर दौड़ने लगीं, जैसे वे स्कूली लड़कियां हों और कहीं किसी बड़े पेड़ के नीचे से चोरी-चोरी कटारे (इमली) बीन कर खाकर फिर स्कूल में घुस रही हों।

पच्चीस

मनीषी के पत्र के प्रत्युत्तर में सुकेत का पत्र इस बार अत्यन्त उलझा हुआ था। मनीषी ने पत्र को मोड़ कर बीच में से दुबारा पढ़ना शुरू किया :

'...मुझे उस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना। पहले तो मैं यही नहीं समझ पा रहा, कि यह सब चक्कर है क्या। पहली बार तुमने इतना लम्बा पत्र लिखा है, लिफ़ाफ़े का भारीपन और उसके बाद पृष्ठों की संख्या देखकर मुझे प्रसन्नता हुई थी। पत्र के पृष्ठों को खोलते हुए सोचा था, कि तुम अब नाराज़ नहीं हो, पर पत्र पढ़ कर लगा, तुम अब शायद पहले से भी ज़्यादा नाराज हो। घाव बना कर उसमें नमक भरने जैसी बात ऐसी ही होती है। अन्यथा यह इतना लम्बा-चौड़ा पचड़ा लेकर तुम क्यों बैठतीं ! जिन्दगी को कठिन और कठोर व्यक्ति अपने आप कैसे बनाते हैं, इसी तरह न !

मैंने तुमसे कब कहा, कि तुम्हारी अस्वीकृति से मैं दुःखी हूं या अकेला हूं। मैं जो कुछ हूं और जहां हूं ठीक हूं, मुझे किसी साथ की ज़रूरत नहीं है, सचमुच नहीं है। तुमने लिखा है, कि तुम्हीं नहीं तुम्हारे साथ-साथ तुम्हारी सभी सहेलियां भी इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं—मैं उन सब अपनी शुभचिन्तिकाओं को किस रूप में धन्यवाद दूं ! एक बात जानता हूं, जब परमात्मा रुष्ट होता है, तो न जाने किन-किन माध्यमों से दण्ड देता है, मुझे

तो लगता है, परमात्मा और तुम, दोनों ही मुझसे रुष्ट हो गये हो।

विरोध करना चाहता हूं, तो तुमने पहले ही लिख दिया है, 'तुम्हें कोई आपत्तिऔर विरोध नहीं करना है, नकारना तो है ही नहीं।' जब मुझे कुछ भी नहीं करना, बुत की तरह बंध जाना मात्र है तो फिर मेरी राय की भी क्या क़ीमत होगी ? जब मुंह खोलकर कुछ कहा था तभी···। पर नहीं, उस सम्बन्ध में अब कुछ भी कहने की शपथ तो मैंने न जाने कब की ले ली है, मुझे कुछ सोचना-कहना नहीं है। जैसा कि तुमने लिखा या तुमसे लिखवाया गया, कि तुम्हारी सहेलियां तुम्हारी आजकल काफ़ी मदद कर रही हैं, कि मेरे चतुष्पाद बन जाने पर ही तुम्हारा सुख अवलम्बित है, तो मैं अब कहूंगा कुछ नहीं, अपने सुख के लिए तो व्यक्ति स्वयं प्रयत्नशील और जागरूक होना है, मुझे उस सम्बन्ध में सचमुच तुमसे कुछ नहीं कहना, मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं, उस दिशा में तुम मेरी ओर से शिकायत कभी नहीं सुनोगी।

मैं ठीक हूं, खुश हूं। एक बात सोचता हूं, कि जो जोड़े चुन-चुन कर प्रयत्नपूर्वक समझदारी से बनाये जाते हैं 'अनमिल बेजोड़' विशेषण उनके साथ कभी नहीं लगना चाहिए, क्योंकि यह विशेषण शायद तुमने यहां कानपुर में कभी प्रयोग किया था, किस सन्दर्भ में ? तुम्हें याद होगा, मैं तुम्हें क्यों याद दिलाऊं।

तुम्हारा आभारी
सुकेत।'

पत्र पढ़ कर मनीषी गुम हो गई, एकदम हतप्रभ। सुकेत इतना तीखा क्यों हो उठा है ? यह सब तो उसी के लिए किया जा रहा है। अगर ऐसा ही वैराग्य है, तो क्यों नहीं साफ़-साफ़ लिख दिया, कि वह अब किसी भी स्थिति में शादी नहीं करेगा और करेगा तो···। वह फिर यह क्या सोच बैठी ? क्यों सोच बैठी ? शुचि की मां को भी तो सम्बन्ध-सम्बोधन किसी की भी चिन्ता नहीं है···। पर नहीं, अब उसे कुछ नहीं सोचना, उस दिशा में सोचने से अब कोई लाभ नहीं है। क्या उसने पत्र खोलते हुए एक क्षण को सोचा था, कि सुकेत शायद प्रस्ताव को मना ही कर दे ? पर अब ! क्यों मना करता है वह ? उसने लिख भी तो ऐसी बात दी थी। खैर सो सब

इतनी गम्भीर वात कहने के वाद डॉ० चित्रा और डॉ० लीना खिल-खिलाती, अपने सैण्डिलों पर मचमचाती अस्पताल के मुख्य द्वार की ओर दौड़ने लगीं, जैसे वे स्कूली लड़कियां हों और कहीं किसी वड़े पेड़ के नीचे से चोरी-चोरी कटारे (इमली) वीन कर खाकर फिर स्कूल में घुस रही हों।

पच्चीस

मनीषी के पत्र के प्रत्युत्तर में सुकेत का पत्र इस वार अत्यन्त उलझा हुआ था। मनीषी ने पत्र को मोड़ कर वीच में से दुवारा पढ़ना शुरू किया :

'…मुझे उस सम्वन्ध में कुछ नहीं कहना। पहले तो मैं यही नहीं समझ पा रहा, कि यह सव चक्कर है क्या। पहली वार तुमने इतना लम्वा पत्र लिखा है, लिफ़ाफ़े का भारीपन और उसके वाद पृष्ठों की संख्या देखकर मुझे प्रसन्नता हुई थी। पत्र के पृष्ठों को खोलते हुए सोचा था, कि तुम अव नाराज़ नहीं हो, पर पत्र पढ़ कर लगा, तुम अव शायद पहले से भी ज़्यादा नाराज हो। घाव वना कर उसमें नमक भरने जैसी वात ऐसी ही होती है। अन्यथा यह इतना लम्वा-चौड़ा पचड़ा लेकर तुम क्यों वैठतीं! ज़िन्दगी को कठिन और कठोर व्यक्ति अपने आप कैसे वनाते हैं, इसी तरह न!

मैंने तुमसे कव कहा, कि तुम्हारी अस्वीकृति से मैं दुःखी हूं या अकेला हूं। मैं जो कुछ हूं और जहां हूं ठीक हूं, मुझे किसी साथ की ज़रूरत नहीं है, सचमुच नहीं है। तुमने लिखा है, कि तुम्हीं नहीं तुम्हारे साथ-साथ तुम्हारी सभी सहेलियां भी इस वात के लिए प्रयत्नशील हैं—मैं उन सव अपनी शुभचिन्तिकाओं को किस रूप में धन्यवाद दूं! एक वात जानता हूं, जव परमात्मा रुष्ट होता है, तो न जाने किन-किन माध्यमों से दण्ड देता है, मुझे

तो लगता है, परमात्मा और तुम, दोनों ही मुझसे रुष्ट हो गये हो।

विरोध करना चाहता हूं, तो तुमने पहले ही लिख दिया है, 'तुम्हें कोई आपत्तिऔर विरोध नहीं करना है, नकारना तो है ही नहीं।' जब मुझे कुछ भी नहीं करना, बुत की तरह बंध जाना मात्र है तो फिर मेरी राय की भी क्या क़ीमत होगी ? जब मुंह खोलकर कुछ कहा था तभी···। पर नहीं, उस सम्बन्ध में अब कुछ भी कहने की शपथ तो मैंने न जाने कब की ले ली है, मुझे कुछ सोचना-कहना नहीं है। जैसा कि तुमने लिखा या तुमसे लिखवाया गया, कि तुम्हारी सहेलियां तुम्हारी आजकल काफ़ी मदद कर रही हैं, कि मेरे चतुष्पाद बन जाने पर ही तुम्हारा सुख अवलम्बित है, तो मैं अब कहूंगा कुछ नहीं, अपने सुख के लिए तो व्यक्ति स्वयं प्रयत्नशील और जागरूक होता है, मुझे उस सम्बन्ध में सचमुच तुमसे कुछ नहीं कहना, मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं, उस दिशा में तुम मेरी ओर से शिकायत कभी नहीं सुनोगी।

मैं ठीक हूं, खुश हूं। एक बात सोचता हूं, कि जो जोड़े चुन-चुन कर प्रयत्नपूर्वक समझदारी से बनाये जाते हैं 'अनमिल बेजोड़' विशेषण उनके साथ कभी नहीं लगना चाहिए, क्योंकि यह विशेषण शायद तुमने यहां कानपुर में कभी प्रयोग किया था, किस सन्दर्भ में ? तुम्हें याद होगा, मैं तुम्हें क्यों याद दिलाऊं।

तुम्हारा आभारी
सुकेत।'

पत्र पढ़ कर मनीषी गुम हो गई, एकदम हतप्रभ। सुकेत इतना तीखा क्यों हो उठा है ? यह सब तो उसी के लिए किया जा रहा है। अगर ऐसा ही वैराग्य है, तो क्यों नहीं साफ़-साफ़ लिख दिया, कि वह अब किसी भी स्थिति में शादी नहीं करेगा और करेगा तो···। वह फिर यह क्या सोच बैठी ? क्यों सोच बैठी ? शुचि की मां को भी तो सम्बन्ध-सम्बोधन किसी की भी चिन्ता नहीं है···। पर नहीं, अब उसे कुछ नही सोचना, उस दिशा में सोचने से अब कोई लाभ नहीं है। क्या उसने पत्र खोलते हुए एक क्षण को सोचा था, कि सुकेत शायद प्रस्ताव को मना ही कर दे ? पर अब ? क्यों मना करता है वह ? उसने लिख भी तो ऐसी बात दी थी। खैर जो सब

उसे पहले ही सोचना चाहिए था। तटस्थ उदासीन किसी भी भाव से कहो, स्वीकार तो सुकेत ने कर ही लिया है।

अच्छा ही किया, चार-छह वर्ष बाद में सुकेत से बड़ी दिखने लगती, उसकी ताई मां कुछ भी, तब सुकेत मुझे घृणा की दृष्टि से देखता, इससे अच्छा तो यही है कि···। दस-पांच वर्ष बाद की चिन्ता अभी से ? इतनी दूरदर्शिनी वह कब से बन गयी ? बनना था तो उस दिन बनती, जब मां ने उसके भाग्य फूटने पर···। पत्र के पन्नों को छोड़ कर मनीषी ने अपनी आंखें मूंद लीं, सिर हिला कर उसने सब कुछ भुला देना चाहा।

ठीक है, अब सुकेत के बाद उसे किसी से निर्णय नहीं लेना, उसकी अपनी बुद्धि भी तो है। शुचि को लायेगी अपने घर में वह ? न-न, शुचि के भाग्य का फैसला ऊंचे स्तर से निर्णीत होकर आयेगा, फिर शुचि सुकेत के लिए छोटी भी है, सिर्फ सोलह सत्रह बरस की। और फिर सबसे बड़ी बात तो यह है, कि एक बार यह कह कर कि सुकेत के लिए बहुत से रिश्ते आ रहे हैं, फिर शुचि के सम्बन्ध में बात उठाना ठीक ही नहीं रहेगा। शारदा ही ठीक रहेगी, बोली-बानी देख-सुन कर ही एकदम क्या निश्चय किया जा सकता है। सुन्दर तो है ही, शिष्ट क्यों नहीं होगी। एक सामान्य परिवार की लड़की है, मां भी इतनी कार्यकुशल-पटु है, फिर जाति, बिरादरी भी समान है—उसे चाहे इस सबकी चिन्ता न भी हो, पर छुटका मां को शायद यह बात पसन्द आयेगी। सुकेत को अतुलित सम्पत्ति से क्या लेना-देना। जो कुछ मिल जायेगा, ठीक है, नब-दब कर रहेगी, सुकेत की चिन्ता करेगी, उसे और क्या चाहिए। अच्छी गुणी लड़की पाकर सुकेत भी खुश होगा। सुकेत की खुशी—बस वह यही चाहती है। शारदा का रूप देख कर तो वह भूल ही जायेगा···।

रात शायद बहुत जा चुकी थी। सप्तर्षियों का पलंग लुप्त हो चुका था, सिर्फ़ एक तारा टिका खड़ा था—खूब उजला-चमकीला ध्रुवतारा। इस तारे के विचलित होने का प्रश्न ही नहीं है। हवा नये ढंग से बहने लगी थी, शीतल फरंफरं और मीठी—आमों के बौर के स्पर्श की अनुभूति, कोयल

की कुहुक। फाटक पर गुलमोहर के सुराहीदार तने खड़े पेड़—कुछ साफ़ नहीं दिख रहा, अभी झुटपुटा ही है पर इतनी देर तक यों ही तकिये का ढासना लगाये बैठी विचारती रही, बड़ी-बूढ़ी जो ठहरी, ब्याह-शादी की बात का निबटारा क्या यों ही हो जाता है ! लगा, कमर में लचक आ गयी है, दर्द की एक लहर-सी उठी—वह सचमुच बड़ी हो गयी है, बहुत बड़ी। उठ कर उसने कमरे की बत्ती गुल की, खिड़की से आती हवा कुछ अधिक तेज़ हो गई थी, खिड़की के पल्ले उढ़का लेने से कुछ अच्छा लगा।

सवेरे आंख खुली तो काफ़ी दिन निकल आया था—चारों ओर उजाला, अंधेरे की हर किरण ने शायद उसके हृदय के भीतर घुस कर आश्रय ले लिया था। पलंग से उतर कर वह खिड़की के पास आकर खड़ी हो गई। मौलश्री के पेड़ पर बौर आया हुआ था। खुटबड़ैया अपनी लम्बी चोंच से दीवार पर ठोंगें मार रही थी—धीरे-धीरे, फिर ज़ोर-ज़ोर से। कितनी पागल है, बेकार जमे हुए मिट्टी-गारे को फोड़ने की कोशिश कर रही है, उड़कर मौलश्री के पेड़ की फुनगी पर क्यों नहीं बैठ जाती ? उसे लगा, ठोंगें मार-मार कर खुटबड़ैया अपनी चोंच घायल ही तो कर डालेगी।

छब्बीस

इस घर में झण्डियां लगी थीं। केले के खम्भे, नारियल, मोती की लड़ियां, गुब्बारे—अब सब उतर गये हैं। पिछले एक पखवाड़े से धूम मची थी। सुकेत ने लिखा था, वह घूमधाम नहीं चाहता, सिर्फ़ एक दिन का विवाह

होगा इससे अधिक शोरगुल कुछ नहीं। लड़की वालों को भी मानना पड़ा था, उन्हें अपनी लड़की के हाथ पीले करने थे। पर सुकेत के कह देने भर से ही क्या वैसा हो जाता ?

वर्षों बाद इस घर में यह महोत्सव होने जा रहा था, न जाने कब से कौन-कौन आस लगाये बैठा था, कैसे सम्भव था, कि घर में कुछ भी न होता। फिर मेरे लोग भी थे, जिन्होंने जी-तोड़ मेहनत की थी, शादी चाहे एक दिन की ही हो, सरंजाम तो वही जुटाने पड़ते हैं। उन्होंने खुशियां मनायी थीं, ज़ोर-ज़बरदस्ती करके खुद गीत गाये थे, वहू के लिए चीज़ों की लिस्ट बनायी थी, पसन्द करती, मोलभाव करती बाज़ारों में घूमी थीं, आखिर कुछ उनका भी तो ख्याल करना था—इन लोगों ने ही ज़बरदस्ती घर में सज्जा की थी, वन्दनवारें बांधी थीं।

'रिकार्ड क्यों नहीं बजेंगे ? ऐसे सूना कैसे अच्छा लगेगा ?' डॉ० माण्डे-कर ने मचक कर कहा था।

'रिकॉर्ड न बजायें, धुन बजायें, सिर्फ ट्यून्स, कैसा रहे ?' डॉ० भट्टा-चार्य और कुलकर्णी भी बच्चों की तरह हुलसी थीं।

'बीटग्रुप बुलवा लिया जाये, तब तो मज़ा ही आ जाये, कोई वाहि-यातपन नहीं, एकदम सोबर और एक्साइटिंग, वण्डरफुल !' डॉ० लीना कॉन्वेण्टी लड़की की तरह चुटकी बजाते हुए अपने सैण्डलों की एड़ियों पर घूम गयी थी।

'इसकी शादी में बीटग्रुप ही बुला देंगे, मज़ा रहेगा।' डॉ० भट्टाचार्य और डॉ० बोस ने मुस्कराकर कहा था। डॉ० लीना खामोश खड़ी मुस्करा रही थी, लगता था शादी-विभाग से अब उसकी उतनी लड़ाई नहीं रह गयी थी।

सबने खुद ही तय कर लिया था—तकरार की कोई बात नहीं। सबकी बात रखी जायेगी। डॉ० भट्टाचार्य और कुलकर्णी दोनों ने ही निर्णय दे दिया था :

'एक दिन सिर्फ रिकार्ड्स, दूसरे दिन सिर्फ़ ट्यून्स और तीसरे दिन बहू आने पर पार्टी के साथ-साथ बीटग्रुप-म्यूज़िक, ठीक है न ?'

डॉ० कुलकर्णी ने प्रश्न के साथ-साथ अपना निर्णय दे दिया था :

'एक दिन की जगह तीन दिन संगीत चला था—गाना-वजाना, ट्विस्ट और भारतीय नृत्य।'

पुरुष डॉक्टरों को भी आमन्त्रित किया गया था। इतने सारे अभ्यागत! आखिर कैसे कुछ न होता! छुटका मां मुंह फुला कर बैठ जाती, मुझे भी आतमीपन अच्छा लगता क्या? सुपर्णा दी स्वर्ग में बैठी ग़म मनातीं: उनके बेटे की बरात पर एकदम सूना रखा! फिर जीते-जागते लोग जो मेरे चारों ओर बिखरे हैं, न जाने क्या कुछ कहते—माशी ने सब कुछ दबा लिया, ब्याह तक पर रौनक नहीं की। और जाने दो मोहल्ले-समाज को, मेरा भी तो मन था ही, छुटका मां उन दिनों पूरे पन्द्रह दिन लगी रही थीं, गेहूं छनवाये-फटकवाये थे, दालें छँटवायी-बिनवायी थीं—ब्याह के सन्दर्भ में सैकड़ों टोटके।

नींद खुल जाती है तो फिर घंटों यही सोचते निकल जाते हैं, कि कहां किसको कितना देना-चुकाना है, पहले सोचना पड़ता था कि क्या कुछ मंगवाना-बनवाना है—पर आजकल का काम तो पहले से भी ज्यादा मुश्किल है। छुटका मां ठीक कहती है, आगे से पीछा भारी होता है कारज का!

इतनी कुछ भाग-दौड़ व्यस्तता होते हुए भी कैसा कुछ सूनापन व्याप गया है जीवन में, कुछ अच्छा नहीं लगता। घर की चीजें और भी अस्त-व्यस्त पड़ी हैं, संभवाने-उठाने को मन ही नहीं उठता। क्या मुझे बुरा लग रहा है, कि ऐसा क्यों हुआ? छिः-छिः! अब पुरानी बातों को मस्तिष्क दोहराना नहीं चाहता, फिर हुआ भी क्या है, जो कुछ होना चाहिए था वही तो हुआ है—सब खामख्याली थी, व्यर्थ की भावुकता। मोहल्ले-टोले की आयी हुई स्त्रियां कितनी तारीफ कर रही थीं।

'भई मासी हो तो ऐसी हो, इसने नाम उजागर करके दिखा दिया मासी—मां-सी! सुपर्णा दी होतीं, तो भी इतना न कर पातीं, उनमें तो दम ही नहीं था, बस बैठी-बैठी खुशी मना लेतीं, पर इतना भागना-दौड़ना, बाहर-भीतर दोनों तरफ का काम देखना, आये-गयों का आगत-स्वागत—उनके बस का कहां था जी, राम भजो! मां स्वर्ग में बैठी सैकड़ों असीसें दे रही होंगी···।' बड़ी-बूढ़ियां सिर पर हाथ फेर कर कहतीं।

सुपर्णा दी के आशीश और आने-जाने वालों की तारीफों ने ही उन दिनों मेरा सिर घुमा दिया था, अजीव मस्ती भरी रहती थी देह में, जैसे मैंने नशा कर लिया हो। अव नशा उतर गया है, टूटी-फूटी खाली-खुख्खल देह वची है। सुकेत, तुमने कभी कुछ नहीं कहा। तुम कहते भी क्या, चार-छह दिन पहले आने के लिए लिख देने पर भी तुम ऐन दिन पधारे थे, मुझे सज़ा देना चाहते थे न ! किस वात की ? कभी अपने से पूछा, मेरा दोष कितना था ? ऊंह, तुम्हें पूछने-गछने से मतलव भी क्या था, तुम भी तो आख़िर पुरुष ही हो न, और पुरुष ही क्या, यह तो मानव मात्र की कमज़ोरी है, आंखें दूसरों के छिद्र टटोलने में ही अधिक रस लेती हैं।

ऐन दिन आये और दूसरे ही दिन चले गये, तुम्हें इतनी फुरसत भी न मिली, कि तुम अपनी मनि के पास बैठ कर कम से कम यह तो पूछते, कि सारा इन्तज़ाम कैसे क्या हुआ? तुम्हें कैसा लगा ? वस, छुटका मां से मिले, उसे रुपये दिये और वस। अभी इतने अन्यमनस्क हो गये हो, तो आगे कैसे चलेगा ? चलो, उस सम्वन्ध में अब सोचने से कोई लाभ नहीं, वह एक अध्याय था, समाप्त हो गया।

मनीषी ने डायरी वन्द कर दी। पैन वन्द करके मेज़ पर रख दिया और एक वड़ी अंगड़ाई लेकर वह अपने पलंग पर लेट गयी, लगा, वहुत थक गयी है, आंखें मूंदी तो फिर कुछ रिंगने लगा—

प्लेटफार्म से लगी खड़ी गाड़ी, दौड़ते भागते ढेरों जन। खिड़की पर सोने के कंगन और हरी-लाल वारीक चूड़ियों वाली वाँह रखे शारदा के पास नीचे प्लेटफार्म पर खड़ी-खड़ी थक गयी, तो डिव्वे के सामने ही लगी वेंच पर आकर वैठ गयी थी। जूली से उसने एक गिलास पानी लाने के लिए कहा था, तो जूली पानी और पाइनएप्पल का जूस दोनों चीज़ें एक साथ ले आयी थी।

'लो पानी भी पियो और यह भी। इतने दिनों से पिस रही हो।' पास खड़ी डॉ० भट्टाचार्य ने ज़िद्द करके दोनों चीज़ें पिला दी थीं। मुंदती-

चकित आंखों में चेतना जगी थी, तभी देखा था उसने सुकेत को, दोस्तों के घेरे से छुट कर वह उसके पास आया था, कंधे पर हाथ रखा था—'अपना ध्यान रखा करो, यूं कमजोर होने से काम नहीं चलेगा।' सहानुभूति के उन दो शब्दों से मन फफक कर रोने को किया था। सुकेत कहते हुए डिब्बे में चढ़ गया था, गाड़ी तब तक हिल चुकी थी—शारदा को शायद डर लगा था, मेंहदी लगी हथेली बढ़ा कर उसने सुकेत को बांह पकड़ कर खींच लिया था, नीचे खड़े देखने वाले लोग क्या कहते होंगे, पल भर को शायद सकुचा भी गई हो। गाड़ी खिसकती ही रही थी और फिर उसने गति पकड़ ली थी, शारदा सुकेत को इसी तरह थामती रहेगी, चलो ठीक है।

प्लेटफॉर्म खाली होने लगा था, वह स्थान जहां इतनी देर से गाड़ी खड़ी थी, एक गहरे खड्ड की तरह दिख रहा था, सिर्फ़ चमकती हुई पटरियां और लकड़ी के तख्ते लगी जमीन—ये पटरियां गाड़ी को खींच कर वहीं ले जायेंगी, जहां सुकेत को अब किसी से कुछ हठपूर्वक मांगना-कहना नहीं होगा, समर्पण खुद आगे बढ़ कर गले लग जायेगा···न जाने क्या-क्या सोचती रही थी उस दिन और क्या-क्या सोच रही है आज—निरर्थक।

पास पड़ी डायरी को उसने फिर हाथों में उठा लिया, उंगलियां पन्ने फरफराने लगीं। पन्ने पलटते हुए एक पन्ना पकड़कर फिर बैठ गयी—उसरे अक्षर दृष्टिसात होते चले गये :

···सुकेत को विदा कर स्टेशन से लौटते हुए डॉ० चित्रा भट्टाचार्य मेरे साथ लगी चली आयीं, 'ऐसे कैसे छोड़ दूंगी, तुम्हारी तबीयत अच्छी नहीं है न! डॉ० कुलकर्णी और डॉ० माण्डेकर को मैंने अस्पतालमें अपना काम देखने के लिए कह दिया है, अब मुझे कोई चिन्ता नहीं है।' फिर कुछ देर ठहरकर मेरे कंधे पर हाथ रखती हुई बोली थीं :

'ठीक है, अपना सम्बन्धी और वह भी इतना क़रीब का इन्सान जाए तो बुरा लगता ही है, पर इस तरह दिल हलका करने से काम नहीं चलेगा न! खबरदार जो किसी तरह की रंजिश पैदा की, दुनिया में सब कुछ यों ही चलता है···।' और फिर जैसे रोने के लिए मैं सचमुच नेरवनराइज्ड (विमो-

हित) कर दी गयी होऊं, मैं फूट कर रो उठी, क्यों ? मैं तो रोना बिलकुल नहीं चाहती थी, किसी के सामने रोना, अपने को कमज़ोर दिखाना मैं हर-गिज़ नहीं चाहती थी, तब ? यह क्या हो गया ? कम से कम इस तरह रोने की स्थिति में तो मैं क़तई नहीं थी, तभी शायद डॉ० चित्रा भट्टाचार्य को मौक़ा मिल गया, बड़े प्यार से बिस्तर पर मुझे धीरे से लिटा दिया, बालों को सहलाते हुए कहने लगीं :

'कहती हूं इस तरह अकेले रहने से काम नहीं चलेगा। तुम उसकी याद कर रही हो, वह अपनी बीवी के साथ रँगरेलियों में फँसा होगा, तुम्हारी जगह अब वहां है ही कहां।'

क्या कह रही हैं भट्टाचार्य, क्या वे सब कुछ जानती हैं ? वह सब कुछ? मैं ऊपर से नीचे तक सिहर उठी थी, भट्टाचार्य मुस्करा रही थीं, जैसे एक जादूगर मोमिन के सिर पर लकड़ी फिरा कर उसे बेहोश कर देता है और फिर उससे उल्टे-सीधे सवाल-जवाब कर खुशी-खुशी लोगों के सामने तनकर खड़ा हो जाता है, कि देखो मैं जो चाहता था, कहलवा लिया न ! डॉक्टर भट्टाचार्य मुझसे भी खुश हैं, मैं भी उनके सामने खुली किताब हुई चली जा रही हूं और वे मेरी रग-रग में देख चुकी हैं, वह नंगापन भी। वह विवशता, ग्लानि और परिताप—सब कुछ कोई-सा फटता चला जा रहा है, पर ताज़े स्वच्छ पानी की जगह काई के बीच से उन्हें गन्दा जोहड़ निकलता दिखाई दे रहा होगा, छिः, क्या कहेंगी डॉ० भट्टाचार्य। मैंने अपना सिर तकिये में गाड़ लिया था और फिर सिसक उठी थी, मुझे अपने पर क्रोध आ रहा था, कि कहां मैं अपने को पर्दों की सात तहों के अन्दर दुबकाकर रखना चाहती थी, कहां हर पल मुझे इस तरह उघाड़ता चला जा रहा है, छुई-मुई के पत्तों की तरह मैं मुंद-सिमट क्यों नहीं पा रही ? मैं अब उठकर बैठ गयी थी और बहुत देर तक चुपचाप मूढ़ बनी बैठी रही थी, जैसे मेरा सब कुछ उद्घाटित हो चुका हो और मूंदने-छिपाने के लिए अब कोई वस्तु रह ही न गयी हो, कोई वस्तु, कोई पीड़ा, कोई रेख। डॉ० भट्टाचार्य भी मेरी ओर सुन्न-मुन्न तकती रही थीं, फिर बहुत गम्भीर शब्दों में बड़े बड़प्पन से समझाने लगी थीं :

"देखो, मैंने क्या, हम सबने तुम्हें कितनी ही बार समझाया है कि अभी

उनका होना न होना तो एक वरावर था, उन्होंने कभी किसी वात के लिए फ़ोर्स नहीं किया, सिर्फ़ चीज़ सामने भर रख दी। यह तो यही थीं, जो सवसे ज़्यादा पुरखा वनी रही थीं, आदत होती है किसी-किसी इन्सान की, या इन का स्वार्थ ही था सब कुछ—क्या स्वार्थ होगा ? यही न कि पहले इसे सुकेत से निवृत्त करूं और फिर इसे फांसूं, तो मैं फंसने वालों में से हूं ? नहीं, तुम लोगों के साथ रहते-रहते मैं भी घाघ होती चली जा रही हूं, हां···। क्या समझा है ! वांह को आंखों पर रख कर मैं सोने का नाट्य किये पड़ी रही थी।

'रानी, नींद आ रही है क्या ?' पास ही कुर्सी पर वैठी डॉ० भट्टाचार्य ने मेरे माथे पर धीरे से हाथ रखा था—कोमल, सुखद, शीतल स्पर्श। थोड़ी देर तक आंखें मूंदे उसकी अनुभूति में मग्न रहती रही, फिर आंखें खोलकर फटी-फटी सी दृष्टि से देखने लगी थी—जैसे अचानक नींद से जगा दी गयी होऊं।

'नींद आ रही है तो सो जाओ, मैं अव चलती हूं।' आज के लिए इतना जाल फैला देना ही काफ़ी है क्या ? मैंने मन ही मन बुदबुदाया था, प्रत्यक्ष में वोली थी, 'नहीं, कुछ झपकी-सी आ गयी थी।'

'मेरी वातें कुछ ज़ेहन में घुसीं ! एक दिन मैंने शायद पहले भी सोचने के लिए कहा था, आज फिर कह रही हूं। तुम समझ रही होगी, मेरा कुछ स्वार्थ है। है, ज़रूर है, पर सिर्फ़ इतना ही, कि तुम एक वेहतर ज़िन्दगी जी सको। मैं जानती हूं हम सवमें तुम सवसे ज़्यादा सीधी और नाज़ुक-दिल हो, आदमी की आंख ही तो होती है जो सब कुछ पहचान लेती है, मुझे तुम्हारे साथ हमदर्दी है, तुम इस पेशे में आयीं, अच्छा किया, हम लोगों के मुक़ावले तुमसे दुनिया का ज़्यादा उपकार होगा, पर इसका मतलब यह तो नहीं, कि तुम अपने को पीस डालो। हर इन्सान की परि-स्थितियां जुदा-जुदा होती हैं और उन्हें ही आदमी को वनाना-संवारना पड़ता है। डॉ० कश्यप का नाम मैं वार-वार तुम्हारे सामने क्यों ले रही हूं, क्योंकि मुझे उनसे भी हमदर्दी है। मैंने उनके साथ शादी नहीं की, क्योंकि मुझे शादी की ज़रूरत नहीं है, क्यों नहीं है तो वह भी सुन लो, आज अकेले में तुम्हें सब कुछ सच-सच वताऊंगी, चार जनों के सामने भले

ही मैंने कुछ भी कह दिया हो, उम्मीद है उस बारे में तुम किसी के सामने मुंह नहीं खोलोगी···

मैं भी एक दिन किसी के पीछे पागल रही थी, इतनी-इतनी, कि तुम कल्पना नहीं कर सकतीं! कितनी दूर तक उसके साथ बह गयी, यह तो तुम सोच ही नहीं सकतीं। स्त्री-पुरुष का एक रहस्य है, जिसको खोलने के बाद एक दूसरा रहस्य प्रगट होता है और फिर तीसरा, मैं तुमसे थोड़े में ही कहूंगी—मैं मां बन चुकी हूं, इसे मैं कुकर्म नहीं मानती, मरियम भी मां बनी थी, पर मेरा ईसा तो दुनिया के सामने आने से पहले ही दफ़ना दिया जा चुका। कभी याद करती हूं तो कलेजा फटने को आता है, डॉक्टर होकर भी मैं इतनी बोल्ड क्यों नहीं हो सकी। डॉ० सिन्धवानी की क़िस्मत अच्छी थी, खैर उसके बारे में तुम्हें और कुछ नहीं बताऊंगी, बताने से फ़ायदा भी कुछ नहीं। बस, अब शादी करने के लिए मन नहीं उठता, लगता है एक बार किसी को इतना दे चुकी हूं, कि अब किसी दूसरे को कुछ देने के लिए मेरे पास उस रूप में बचा ही नहीं।' कमर में खुंसे हुए रेशमी कढ़े हुए रूमाल से आँखें पोंछती हुई डॉ० चित्रा भट्टाचार्य मुझे उस समय कितनी पवित्र और मासूम दिखी थीं, मैं लिख नहीं सकती। मैंने उनका हाथ खींचकर अपने ऊपर रख लिया था और उनकी बीच की मुलायम उंगली के पोरुए को सहलाती हुई बोली थी :

'दी, दुनिया-भर को समझाती हो और अपने आप इस तरह जी छोटा कर रही हो!' मैंने उस दिन पहली बार डॉ० भट्टाचार्य के लिए एक खूबसूरत नरम सम्बोधन का प्रयोग किया था, वे सुनकर न हिली थीं न डुलीं, जैसे उस सम्बोधन के द्वारा मेरी दी हुई सौगात को बड़े मधुर और स्नेहिल ढंग से उन्होंने सहज ही स्वीकार लिया हो, जैसे बहुत दिनों बाद तपते हुए रेगिस्तान में उन्हें शीतल पेय का एक घूंट मिला हो; हम सब अपनी सामान्य जिन्दगी में कितने औपचारिक बने चलते हैं, काश, हम सब एक दूसरे को पूरी तरह दिखा पाते, कि हम सब कितने निरीह हैं और कितने प्यासे! आंखें सुखाती हुई वे बोलीं :

'उस सबने मुझे एक नई जगर-मगर ज्योति प्रदान की है, मैं इसलिए उस घटना की ऋणी हूं, मुझे अब सब प्यारे लगते हैं अपने से। जहां कहीं

दुःख-दर्द देखती हूं, अपनी सीमा में रहते हुए उसे मिटाने की कोशिश करती हूं ! मेरे बारे में लोगों ने न जाने क्या-क्या उड़ा रखा है···। अच्छा तो अव चलूं !' अधूरा कटा-सा वाक्य कह कर इस बार डॉ० भट्टाचार्य खड़ी हो गयीं।

'कुछ खा-पीकर जाइये, ऐसे नहीं जाने दूंगी, हरगिज़ नहीं।' मैं अपने पलंग से उठकर खड़ी हो गयी थी और डॉ० भट्टाचार्य को ज़बरदस्ती पलंग पर बैठा दिया था—'मैं अभी आयी।' रसोई में जाकर मैंने कुछ चीज़ें बटोरी थीं, कुछ चीज़ें फ्रिज में से निकाल लायी थी और सब कुछ उनके सामने रख कर उन्हें कौर बना-बना कर खिलाती रही थी।

उनके जाने के बाद मैं उनकी बातों के बारे में कम उनके बारे में ज़्यादा सोचती रही थी, बन्द आंखों से ही जैसे पहले दिन से लेकर आज तक मैंने उनका अणु-अणु पहचान लिया हो।

डायरी को मनीषी ने एक ओर रख दिया और उठ कर खड़ी हो गई, सामने रखी घड़ी पर निगाह डाली, अस्पताल पहुंचने में केवल एक ही घंटा तो शेष रहा था—अभी स्नान करना है, तैयार होना और फिर इतनी दूर का रास्ता, एक घंटे में पहुंचना—इम्पॉसिबल, तब ?

'तुम इतनी बड़ी डॉक्टर हो, क्या टैक्सी नहीं ले सकतीं !' सुकेत का कहा हुआ एक बहुत पुराना वाक्य। भीतर-ही-भीतर अचानक कुछ पिघलने-पिघलने को हुआ, 'अब मेरे पास किसी दूसरे को देने के लिए कुछ भी तो नहीं बचा।' अभी-अभी डायरी में पढ़ा डॉ० भटटाचार्य का वाक्य, क्यों बेकार कुछ कसकता है, कुछ मतलब-गरज भी तो नहीं अब ? 'अभी उसके खाने-खेलने के दिन हैं, वह बीवी के साथ रंगरेलियों में मस्त होगा, फिर वह अपनी घर-गिरस्ती में फंस जायेगा, तुम्हारी ओर ध्यान देने की उसे फुरसत ही कहां मिलेगी।' ऊंह, न मिले, वह कब चाहती है कुछ। उसने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया, बस।

घर से निकलते ही मनीषी को टैक्सी मिल गयी। अस्पताल पहुंच कर अपने कमरे की चिक हटाई, तो जूली की जगह वासन्ती को देख कर उसे

आश्चर्य हुआ।

'जूली कहां है, आज आयी नहीं ?'

'जी डॉक्टर, आज नहीं आयी, उसकी छोटी बच्ची बीमार है।'

'एलिस न ?'

'जी।'

'ओह, मुझे उसे देखने जाना है। उस दिन भी सोचा था, पर फिर रह गया। आज ज़रूर। हां, उसे जूली अस्पताल में लाकर दाखिल क्यों नहीं कर देती, आंखों के सामने रहेगी।'

'डॉक्टर, एलिस अस्पताल में नहीं रहना चाहती।'

'ओह, यह मुश्किल हो जाती है।' मनीषी कहीं दूर देखने लगी—एक दिन उसके सामने भी यही समस्या थी।

'डॉक्टर, आपका लेटर !'

'अरे, सुकेत का लगता है।' हाथ में लेकर उसके ओठों ने बुदबुदाया। खोलने की प्रबल इच्छा को किसी प्रकार रोक कर पत्र पर्स में डाल कर वह वार्ड के मरीज़ों को देखने के लिए बढ़ गयी।

'......'

'जी डॉक्टर, ठीक हूं, पर आपने जो इंजेक्शन बताये थे, वे अभी तक नहीं लगे।'

'क्यों, तुमने मंगवाये नहीं ?'

'जी नहीं।'

'क्यों ?'

'आपको याद नहीं डॉक्टर, मैंने बताया था मेरे बेटे के लिए तो मां कभी की मर चुकी।'

'ओह, और कोई नहीं है तुम्हारा ?'

'नहीं डॉक्टर, जो है जब वही अपना नहीं है तो जो नहीं है वह कैसे अपना बनेगा !'

'हुं !' एक बड़ी चुप्पी। फिर कुछ याद आया, पास खड़ी बासन्ती से

बोली, 'वासन्ती, इनका कार्ड बनवा देना, इन्हें खाना तो मिलता ही है, दवाएं, इन्जेक्शन और जो कुछ भी मिल सकता है, सब इन्हें यहीं से मिलेगा, नोट कर लो, हुं!'

'जी !' वासन्ती ने नोट करते हुए कहा।

नुची-खुची बुढ़िया सन्तुष्ट होकर बिस्तर पर सतर लेट गयी। मनीषी आगे बढ़कर दूसरे मरीज़ का हाल पूछने लगी थी।

घर लौटते हुए रास्ते-भर सुकेत के पत्र के बारे में ही सोचती आयी थी, पर घर आकर भी एकदम पत्र खोलने की उसने कोई आतुरता अनुभव नहीं की। क्या लिखा होगा ? अपने ठीक तरह पहुंच जाने के बारे में, शारदा के साथ सुख-सुविधा के बारे में और क्या, पढ़ लूंगी। जब अस्पताल में इतने समय धैर्य रख सकी तो घर आकर भी असंतुलित होने की क्या आवश्यकता है। काश, आरम्भ से ही वह अपने पर इतना संतुलन रख पाती! घर लौट कर नित्यप्रति के कार्यक्रमों से निवृत्त होकर वह पत्र लेकर लान में पड़ी कुर्सी पर बैठी, तो शाम झुक आयी थी। सबसे ऊंचे पेड़ की फुनगी पर बैठ कर कोई चिड़िया बड़े मीठे स्वर से किकियायी थी, सब ओर एकदम सन्नाटा, दूर-पास खड़े छोटे-बड़े पेड़ और हवा का सुगन्धित झोंका, पत्र का पहला पृष्ठ उसकी आंखों के सामने था :

'मनि,

मुझे नहीं मालूम, तुम्हें हम दोनों को भेज कर कैसा लगा होगा, कुछ-कुछ कल्पना कर पा रहा हूं। तुम उदाराशया हो, शायद वैसा कुछ न भी सोच रही हो। वहां तुमसे बोलने-बतलाने को कुछ मन नहीं हुआ, यों भी तुम बड़ी व्यस्त थीं। तुमने मुझे आठ-दस दिन पहले बुलाया था, तभी मैं समझ गया था, तुम इसी प्रकार का कुछ आडम्बर रच रही होगी, तुम्हारे लिए वह सब कुछ आवश्यक भी हो, पर मेरे लिए वह सब कोई मूल्य नहीं रखता, इसीलिए पहले नहीं आया, तुम नाराज़ तो नहीं हो ? अब जब सब भार तुम पर ही था, तो एक यह भी सही। तुम समझ रही होगी, मैं इसी प्रकार हमेशा तुम्हारे बुलाने पर दूर भागता रहूंगा, उस सम्बन्ध में सिर्फ

इतना ही कहना है कि किसी समय मेरी परीक्षा लेकर देखना, तुम्हारे प्रति सम्मान या भावनाओं में लेशमात्र भी परिवर्तन मेरी मृत्यु ही होगी। कभी भी कुछ न सोचना। तुम्हारा सम्मान मेरी प्रतिष्ठा का सर्वस्व ही है।

तुम्हारे प्रति घृणा या स्नेह की न्यूनता मेरे लिए तीव्रतम विषादों में से एक होगी, पता नहीं वह धक्का मैं कैसे सहन करूंगा, इसे सोचने को मन ही नहीं चाहता। मैं तुम्हें अब भी अपनी सब कुछ समझता हूं, हजार बार सोचा होगा। जब भी मुझसे मिलो, तो देखना मेरी आंखों में तुम्हें कुछ भी बदला हुआ नहीं मिलेगा।

तुमने मुझे बांध कर भेज तो दिया, पर हरदम हृदय में कुछ कसकता रहता है, कुछ चुभता है, कुछ याद आती है, कुछ अभाव खटकता है, और वस्तुओं के साथ शायद यह 'चुभन' ही मुझे सबसे अधिक मात्रा में मिली है। कभी मेरी भी याद आयी क्या ?

मैं तुम्हें खूब जानता हूं, पर फिर भी जब कभी कुछ पिछली एकाध बात याद आ जाती है तो कांप जाता हूं। मैं नहीं चाहता, तुम कभी कुछ भी अन्यथा या अप्रिय बातें बाह्य रूप से भी जिह्वा पर लाओ।

तुम्हारी शारदा ठीक है, बड़प्पन बहुत है। यों अभी उसे पूरी तरह पहचाना भी कहां हूं। चलो, ज़िन्दगी की हिस्ट्री के कुछ पृष्ठ बड़ी शीघ्रता से खत्म हो गये, और एक नया अध्याय आरम्भ हो गया।

अब के तुम्हें यहाँ ज़रूर आना है। कितना याद आता है वह भोला स्नेह का मूर्त्तरूप चेहरा, लिख नहीं पाऊंगा।

तुम्हारा ही
सुकेत।'

पत्र समाप्त करते-करते मनीषी हिलक कर रो उठी। कौन कहता है सुकेत मुझे भूल गया और अब भूल भी जाये तो क्या, जो मैंने सुकेत से पाया है, वह कोई सात जन्म में भी नहीं पा सकता। सचमुच शारदा के पास होने पर भी क्या सुकेत मेरे बारे में इतना सोच सकता है ? शारदा की आकृति उसकी आंखों के आगे आकर खड़ी हो गई: उस दिन घर के पिछले बरामदे में खड़ी हुई थी—सच्चे मुकेश के काम की जार्जेट की

तरबूज़ी रंग की साड़ी, पीठ पीछे साड़ी के पारदर्शी पर्दे में से झांकता हुआ कसी बांहों वाला सेफरन रंग का लोनेक ब्लाउज़, मोतियों के आभूषणों से दिपदिपाती सुन्दर-सुडौल-सलौनी दूधिया देह—कुछ भी तो कमी नहीं है शारदा में, शारदा को पाकर सुकेत प्रसन्न हुआ होगा, सौन्दर्य किसको प्रिय नहीं होता। वह भी तो प्रथम बार शारदा के रूप पर ही रीझी थी। घर के कामों में दक्षता की बात तो बाद को ही मालूम हुई थी। सुकेत को तो अब तक शारदा के कितने गुणों की जानकारी हो गई होगी। सुकेत सुखी-प्रसन्न रहे, यही तो चाहती है वह। तब ? तब ?

'कभी मेरी भी याद आयी क्या ?' सुकेत के पत्र का एक टुकड़ा स्मृति में फिर धड़कने लगा और उसके साथ ही रेलगाड़ी बना कर सरकते हुए ढेरों स्मृति-खण्ड—

ग्रीष्म की एक ठीक दुपहरी। सुकेत सो रहा है। सोते से ही अचानक आंख खुली है, लेटे-लेटे ही मनि की ओर देखता है—'थोड़ा-सा पानी पीना चाहूंगा।'

'प्यास लगी है ?'

'नहीं तो ! अरे पानी इन्सान कब पीता है, जब प्यास हो तब न !' सुकेत ने लेटे-लेटे ही स्पष्ट किया और फिर खिलखिला कर हंस पड़ा। मनि खिसिया जाती है, क्या गलती हो गई उससे ? वह फिर भी नहीं समझ पाती, दो क्षण बाद बात समझ में आयी है, तो वह भी साथ-साथ हंसने लगी है।

'मोटी अकल की ! डॉक्टरी कैसे पास कर ली है जाने !' एक छोटी-सी बच्ची की तरह झटक दिया था सुकेत ने। मनि और हंसती है, फिर एकाएक गुम हो जाती है—बचपन में पड़ोस में ही किशन रहता था, वह और उसकी सहेलियां कुछ भी गलत खेल खेलतीं, हार जातीं या गिर जातीं तो वह चिढ़ाता था—'कट्टो गिलहरी चाबे पान, उड़ गयी चिड़िया रह गये कान !' और फिर कहता था—'बुद्धू कहीं की !' लड़कियों को इस तरह खिझाने में उसे बहुत आनन्द आता था। सब लड़कियों को उसका इस तरह कहना बहुत बुरा लगता था, कौन है किशन उनका, क्या अधिकार है उसका, कि इस तरह कहे ? और जब एक दिन किशन हाईस्कूल पास

ांव से चला गया था, तो कोई भी गलती करने पर लड़कियां चौंक-
ठती थीं, उन्हें कहीं से किशन की आवाज़ सुनाई देती थी :
ट्टो गिलहरी चावे पान, उड़ गयी चिड़िया रह गये कान!' पर किशन
हीं नहीं होता था और जब किशन लौट कर घर आया था तो इतना
हब बन गया था कि लगता ही नहीं था, कि किशन को कुछ भी
। एक क्षण में ही वह इतना कुछ सोच बैठी थी। मौन से उबरी थी
छा था :
ण्डाई पिओगे !' पानी की जगह ठण्डाई पीने का प्रस्ताव उसने
देर बाद किया तो सुकेत कुछ क्षणों के लिए ध्यान-मग्न होकर

पानी के बदले अमृत मिले तो कोई बुरा सौदा तो नहीं।' और वह
ठहाका लगा कर हंस पड़ा था।
कुछ देना न लेना, बस बैठे-बैठे पूछते रहना।' अचानक मनीषा को
आया था, कि सुकेत ने पानी मांगा था और वह बिल्कुल भूल गयी
। यह कैसे हुआ, कि वह सुकेत की बात भूल ही गयी, उसे अपने पर
लाहट जगी थी। आज उस दिन के पूरे ताने-बाने को विश्लेषित कर
है, तो उसे लग रहा है, वह भूली नहीं थी, वह तो सुकेत को न जाने
कुछ देना चाहती थी, पानी जैसी चीज़ उसे बहुत मामूली लगी थी—
हरत के समय पानी का मूल्य कितना होता है—उस समय वह कहां
नती थी। और आज—आज सोचती है तो···? वह तो कुछ भी नहीं
सकी सुकेत को। उस दिन वह इसी सामने वाले बरामदे में तख्त पर
लेटा था। क्या था सुकेत भी ! एक दूसरे स्मृतिखण्ड ने उसे फिर कुरेदना
शुरू कर दिया :

'कॉलेज के साथी किसी टूर पर जा रहे हैं।'

'तो!'

'मुझे भी जाना है।'

'तो जाओ, कब तक लौटोगे ?'

'लौटने की नौबत तो तब आयेगी, जब पहले जाना
जाये।'

'क्यों, जाने में क्या कठिनाई है ?'

'वो···वो मनि, कुछ टैरीलीन की कमीजें हैं न···!'

'धुलनी हैं ?'

'हां, मैं तुमसे कहना ही भूल गया और खुद मुझे फुरसत ही नहीं मिली, इस वक्त भी मुझे कहीं जाना है।'

'ओह, तो सीधी-सीधी वात क्यों नहीं कहते, गोलमोल वात करने से तुम्हें क्या मिलेगा ?'

'वो, मुझे तुमसे डर लगता है न मनि !'

'ओफ़्फ़ो, क्या वेकार की वात करते हो ! तुम्हें डर लगता है मुझसे ? कव से ?' उसने गोद में रखी अपनी किताव वन्द करके रख दी थी।

'वो तो मैं फिर कभी वताऊंगा, इस समय तुम मेरी कमीजें धो दोगी न ! अनुनय से भरा वह स्वर. वह हड़वड़ी, वात करने का ढंग—सव कुछ आज याद आता है, तो इतने दिनों वाद भी मन में क्या कुछ कसकने लगता है, कितने ही स्वर, क्षण और भंगिमाएं, जिनकी स्मृति वस स्मृति है, न भुलाने की न संजो कर रखने की।

मनीषी ने एक लम्वी सांस ली और उठकर खड़ी हो गई—मस्तिष्क फिर घूमने सा लगा, हाथ-पैर फिर कांपने लगे, किसी प्रकार उठकर भीतर आयी, आलमारी में से गोलियां निकाल कर खाईं। और पलंग के पास पड़ी हुई ईज़ीचेयर पर बैठ गयी, कहीं फिर कुछ···। नहीं, अव कुछ नहीं सोचेगी वह। किसी का कुछ नहीं विगड़ेगा, विगड़ेगा तो सिर्फ उसका ही। ज़रा-सा सोचने से मस्तिष्क कितना दुखने लगता है, तभी न अगर सुकेत को यह सव कुछ लिखकर भेज दूं, सव कुछ जो मैं सोचती हूं, कभी सोचती थी सुकेत अपना सोचा हुआ सव कुछ लिख सकता है, तो उसे क्यों नहीं लिखना चाहिए।

आज तक नहीं लिखा, कि वह इतनी दूर है कुछ अन्यथा न सोचने लगे, और आज, आज भी वह नहीं लिखेगी, नहीं ही लिखेगी···। डायरी उठा कर वह पैन की तलाश में इधर-उधर खखोलने लगी।

सत्ताईस

क्या करे कहीं घूम-फिर ही आये तो शायद मस्तिष्क संतुलित हो। किसी के बारे में कुछ न सोचने का निश्चय कर लेने पर भी ढेरों विचार हृदय को मथे डालते हैं। सोचा था, सुकेत का विवाह हो जायेगा, एक परिच्छेद का पटाक्षेप ही हो जायेगा तो फिर मन को आन्दोलित करने के लिये कुछ बचेगा ही क्या? पर सोचा हुआ सब कुछ उलट-पलट हो जा रहा है—कुरेदन-तपन और आलोड़न और बुरी तरह डसने लगे हैं—क्यों डसने लगे हैं? कौन जाने अपनी निधि से खुद वियुक्त हो जाने पर शायद व्यथा ज़्यादा कचोटती है। क्या मिलेगा अब इस सबसे? व्यर्थ है, अब सब कुछ व्यर्थ है। सुकेत से अब उसे कोई नाता नहीं रखना, वह भी इन्सान है, उसके भी मन है, राग-द्वेष-ईर्ष्या से वह भी जलती-मरती है। सब व्यर्थ की बात थी, भावुकता से भरे वे पत्र, वह प्रस्ताव, सब झूठ था। हृदय में जलती आग को क्या यों ही जिस-तिस ईंधन से बुझा लिया जा सकता है?

केवल शब्द मुझे कब तक शान्ति पहुंचा सकते हैं? तभी न, पत्र पाती हूं, तो विह्वल हो जाती हूं, न जाने कितनी स्मृतियां जुड़-सिमट कर पास आ जाती हैं, पर उसके बाद फिर वही चेतन उत्पात—कहीं बाहर जाकर ही शायद शान्ति मिले। यह परिवेश ही शायद मुझे अधिक जला-तपा रहा है, स्मृतियों को उखाड़ फेंकने के लिये परिवर्तन शायद कुछ हल हो—पर जाऊंगी कहां? अकेली कहां जा सकती हूं? चण्डीगढ़ पहुंचूं तो? डॉ० कश्यप खुश हो जायेंगे ......। 'चण्डीगढ़ पहुंच कर यू शैल फारगेट केलकटा!' डॉ० कश्यप कह रहे थे। 'हैव यू एवर बीन टु शिमला?' डॉ० कश्यप ने पूछा था।

'मैं फिर कहती हूं डॉ० कश्यप बुरे नहीं हैं, किसी को आजमाओ, उसे आजमाने का मौका तो दो, वो इन्सान भी देख ले, तुममें किसी को थाम कर उसको आखिर तक निभाने की कितनी बड़ी सिफ़त है...।' डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने उस दिन कितना लम्बा-लम्बा समझाया था। तब? तब क्या करे, चण्डीगढ़ ही चली जाये! घूम-फिर कर आयेगी, कुछ दूसरा मन हो

जायेगा, पर अकेली-अकेली कैसे जायेगी ? ओह, डॉक्टर होकर वह इतनी दब्बू कैसे है, अनपढ़ स्त्रियों की तरह क्यों झिझक रही है ? इस झिझकने और सोचते रहने ने ही उसे तवाह किया है। पर संभलने के लिए अव भी मौके हैं। चण्डीगढ़ जाने के विचार ने मन में एक विचित्र प्रकार की सिहरन भर दी— एक तरल-सरल संवेदन। प्लेटफ़ॉर्म, पैदल रास्ते, वस या टैक्सी कुछ भी—अकेली चलती चली जाती वह। एक छोटी-सी अटैची थामे अपनी समूची आकृति को वह कल्पना में आंकने लगी, तभी डॉ० सीमा वोस ने कमरे में प्रवेश किया : 'मनीषी, इस मौसम में तुम भीतर वैठी क्या कर रही हो ? क्या तुम्हारी ड्यूटी खत्म हो गई ?'

'खत्म ही समझो, ज़रा यों ही जुगाली कर रही थी ?'

'जुगाली !'

'हां, विचारों की। तुम अच्छा मौसम कह रही हो, मुझे तो ये दिन बड़े मनहूस लग रहे हैं, न जाने क्यों ? किसी काम में मन ही नहीं लगता।'

'घर में अकेली हो गई हो, शायद इसीलिए।'

'क्या मतलव ?'

'मतलव यही कि पहले घर में सुकेत था और अव तक शादी का इतना काम-धाम फैला था, अव एकाएकी खाली होने पर···।'

'यही हो सकता है, पर अव इन छोटी-छोटी वातों से मुझे परेशान क्यों होना चाहिए ?'

'परेशान नहीं होना चाहिए, यह तो ठीक है, पर इन्सान तो इन्सान ही है, जो नहीं करना चाहिए, वह भी करता ही है और जो करना चाहिए उससे वच जाता है।'

मनीषी आंखें फाड़कर देखने लगी, डॉ० वोस ने कहीं उसके मन के परिताप को तो नहीं पढ़ लिया ? नहीं, अपने मन की वेदना को उसे किसी के सामने प्रदर्शित नहीं करना, वह किसी के भी सामने कमज़ोर क्यों वने ? नहीं चाहिए उसे किसी की सहानुभूति ! संवेदना···गर्दन को झटकते हुए वोली, 'अरे ये वेकार की वातें छोड़ो, कहीं सैर-वैर करने की वात हो तो करो। वहुत मन कर रहा है, कहीं वाहर घूमने-फिरने का।'

'तो मेरे साथ क्यों न चलो। मैं दो-एक दिन के लिए डिपार्टमेण्ट के

काम के सिलसिले में पास के गांवों में जा रही हूं। तुम मेरे साथ रहोगी तो मुझे अच्छा लगेगा।'

मनीषी ने एक क्षण सोचा, फिर बोली, 'ठीक, पर छुट्टी का क्या होगा?'

'क्यों, तुम्हारी छुट्टी ड्यू तो होगी।'

'होगी या नहीं, देखूंगी। अभी तक मैंने उस सम्बन्ध में सोचा ही नहीं था।'

'वैसे छुट्टी का इन्तज़ाम हो जायेगा। अभी हाल में रत्ना मजुमदार इन्टर्नशिप पर आयी हैं न, तुम्हारा काम दो दिन वही संभालेंगी।'

मनीषी को यह सुझाव पसन्द आया, जैसे किसी ने हाथ में खुशबूदार फूलों का गुलदस्ता पकड़ा दिया हो।

'यही सब कुछ मेडिकल सुपरिण्टेण्डेण्ट को सुझाना है, ऐसे थोड़ी कि हमने तुमने जुगत बनायी और चल दिये।'

'यह सब काम तुम्हें ही करना पड़ेगा।' मनीषी सब भार डॉ० बोस पर डाल कर चली आयी।

चण्डीगढ़ जाते-जाते वह डॉ० बोस के साथ चल दी, क्यों? घर पर आकर वह सोचने लगी, तो उसने महसूस किया, कि उसका निर्णय ठीक ही रहा। अकेले चण्डीगढ़ पहुंच जाना शायद ठीक न रहता। डॉ० कश्यप कुछ भी सोच सकते थे। अन्तर्मन में किसी ने कहा. बेकार की ख़ामख़याली, तुम चण्डीगढ़ इसलिए नहीं जा रही हो, कि डॉ० कश्यप से अकेले मिलना तुम्हारे बस की बात नहीं है। तुम चाहे कितनी ही हिम्मती बनने का दम भरो, पर तुम्हारा झेंपूपन अब भी ज्यों का त्यों बरकरार है।

अपने आप पर खीझ उठी वह, मुझे इस तरह नीचा दिखाने वाले तुम कौन, मैं जो चाहे करूंगी जो नहीं चाहूंगी नहीं करूंगी···। सब तरफ़ से अपने को समेट-बटोर कर वह गांव के सपने देखने में लीन हो गई, जहां डॉ० बोस उसे ले जायेंगी। कैसे होंगे वे गांव और कैसी होंगी वे औरतें, जिन्हें अपने चारों ओर के परिवेश के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं मालूम, फिर भी

वे जन रही हैं, जी रही हैं, मर रही हैं। बचपन में एक गांव देखा था, नाना ले गये थे। धूल-धक्कड़ से भरा एक छोटा-सा भूखण्ड कुछ गिने-चुने मिट्टी के घरौंदे और रेल बनाकर खेलते उछलकूद मचाते बच्चों की लड़ी की लड़ी—उन दिनों परिवार-नियोजन का आन्दोलन चला ही कहां था और अब चला है, तो भी गांव अभी इस आन्दोलन को कहां पचा पाये हैं ? तभी न डॉ० बोस···।

'अरे नहीं जी, तब के और आज के गांवों में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। गांव अब वे गांव नहीं रहे।' यों ही भीतर बैठे किसी ने एक झटका दिया, तो वह निरपेक्ष हो गयी, ऊंह अब तो वहीं चलकर देखा जायेगा। डॉ० बोस से भी पूरी बात कल ही होगी। जितनी देर वह इन सब बातों को सोचती रही, सुकेत के विचारों ने उसे नहीं जकड़ा। उसे अच्छा लगा। उन विचारों से बचने का यही उपाय है। खूब पच चुकी है वह—बिस्तर पर जाते हुए वह काफी शान्त थी।

अगले दिन अस्पताल जाते हुए भी वह मानसिक रूप से पूरी तरह स्वस्थ थी, पर अपने स्थान पर पहुंच कर उसे आश्चर्य हुआ, दैनिक रूटीन के साथ-साथ फुसफुसाहटें और खिलखिलाहटें अस्पताल में इधर-उधर बिखरी हुई थीं। आखिर बात क्या है ? जानने का प्रयत्न किया तो सामने से डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ही आती हुई दिख गयीं : 'चित्रा दी, आज सब बहुत खुश दिख रही हैं ? इतनी बातचीत, फुसफुसाहटें—कुछ मालूम है तुम्हें, बात क्या है ?'

'तुम्हें मालूम नहीं ? टेल मी यू डोन्ट नो एनी थिंग वाई जोव !'

'सच, मैं तो कुछ नहीं जानती। प्लीज़ मुझे बताओ न !' उनकी उंगलियां चित्रा भट्टाचार्य के हाथ में थमी उनकी छतरी की नोक से खेलने लगी थीं।

'डॉ० लीना की शादी हो रही है, इसलिए सब खुश हैं। हंस भी इसीलिए रही हैं, सोच रही होंगी, बड़ी आइडियेलिस्टिक बनती थी, लीना के व्यूज़ तो मालूम ही हैं !'

'ओह, यस, वो तो हुआ, पर शादी कब हो रही है ? कहां हो रही है ?' मनीषी ने उत्सुकता से पूछा।

'अरे यहीं और आज शाम को ही।'

'सच, और मुझे कुछ नहीं मालूम !'

'तुम्हें मालूम कैसे हो, तुम्हें अपने ख्यालों से छुट्टी मिले तब न !'

'पर हुआ ताज्जुब ही।' संकोच और विस्मय ने मनीषी के चेहरे को पूरी तरह रंग दिया। खैर मैं अभी जाती हूं, लीना को कांग्रेच्यूलेट तो कर आऊं। कहां मिलेगी वह ?' मनीषी लीना को बधाई देने के लिए आतुर हो उठी तो डॉ० चित्रा भट्टाचार्य ने पास जाती हुई सिस्टर से ही पूछा :

'डॉ० लीना कहां हैं, तुम्हें मालूम है ?'

'आज डॉ० लीना कहां डाक्टर ! वो तो डॉ० कश्यप के साथ शापिंग के लिये गयी हैं, छुट्टी पर हैं न !'

'ओह, मैं भूल गयी थी।' डा० चित्रा भट्टाचार्य की वही शान्त मुस्कराती हुई मुद्राएं।

'क्या डॉ० कश्यप आजकल यहां आये हुए हैं ?' मनीषी की उत्सुकता का अन्त नहीं था।

'आय एम सौरी मनीषी, मैं तुमसे बताना ही भूल गयी, डॉ० लीना की शादी डॉ० कश्यप से ही हो रही है। पता चला, मामला काफ़ी दिनों से चल रहा था, पका अभी हाल में ही है।'

'पर दोनों की एज ?' क्या-क्या पूछे जा रही थी वह।

'हू केयर्स दैट। सब चलता है मनीषी, वो सब चलता है। [illegible] इज ब्लाइन्ड, उस वक्त कोई कुछ नहीं देखता। एनी वे लीना ने तुम्हें [illegible] दिया।'

'ऊंह, मुझे क्यों ?' मनीषी ने मुंह चिढ़ाया। बरामदे में [illegible] खिची अपनी प्रतिकृति उसे इस समय बड़ी विचित्र लगी। डॉ० चित्रा भट्टा-चार्य कहीं और देख रही थीं, अभी-अभी जो वाक्य [illegible] अन्यमनस्कता की स्थिति में। जाते हुए फिर [illegible] किसी से कुछ लेना-देना रहता ही नहीं।'

मनीषी बोली नहीं। डॉ० चित्रा भट्टाचार्य के [illegible]

कर चले जाने पर भी वह वहीं खड़ी रही—चारों ओर सन्नाटा, धूप और दीवार पर बैठा एक जंगली कबूतर। मां कहती थीं, जंगली कबूतर का खून बहुत लाल होता है। जंगली कबूतर को वे न जाने किस रोग की दवा बताया करती थीं···।'

अब कुछ भी सोचने को नहीं रह गया था। धूप सचमुच साड़ी से लिपटे सिर को तचाने लगी थी। मनीषी डॉ० बोस के सम्बन्ध में सोचने लगी थी; डॉ० बोस इस समय कहां होंगी ? फ़ेमिली प्लानिंग डिपार्टमेण्ट में अपनी जगह पर न ! ऊंह, उनके पास जाने से लाभ ! अपने कमरे में पहुंच कर जूली को बुला कर उसने कहा, 'जूली, घर जाते हुए जरा डॉ० बोस के पास चली जाना, कहना मैं उनके साथ नहीं जा सकूंगी।'

अट्ठाईस

'प्रिय मनि,

कितनी प्रतीक्षा के बाद कल तुम्हारा पत्र मिला। परसों रात और कल पत्र पाने तक का समय सोचते ही बीता, कि कहीं मुझे भुला या छोड़ तो नहीं दिया, लेकिन शायद नहीं, पत्र पाकर फिर जीवन-सा आ गया। तुमने मेरे सम्बन्ध में इतना कुछ पूछा है, क्या सदा-सदा मेरी इतनी ही चिन्ता करती रहोगी ?

सच कह रहा हूं, मुझे किसी की इतनी याद नहीं आती, किसी की उपेक्षा का इतना क्षोभ नहीं होता, सिर्फ यही चाहता हूं, कि मुझे जो सम्पत्ति मिली हुई है—उसे कोई न छीने। पता नहीं कितना प्रसन्न और

भाग्यवान अनुभव करता हूं अपने आपको। [illegible]
से लगते हैं, विश्वास कर पाओगी क्या? मेरी बात भी समझ रही हो न।

तुम्हारा पत्र पाकर ही खिन्न नहीं हुआ, खिन्न तो काफी पहले से ही चल रहा था, शायद सारे कारण और बातें लिख भी न पाऊं। हां, पत्र ने कोई विशेष सन्तोष नहीं दिया, जैसी कि मैं हमेशा आशा किया करता हूं। तुम्हारे पत्र, भले ही वे दो-चार पंक्तियों के हों, मेरे उदास क्षणों में भी बड़ा धैर्य और सुख दिया करते हैं। मेरा हृदय जान कर तुम कैसे दुखा सकती हो, क्या कोई स्वयं को वेदना देता है। मैं नहीं समझता, कि तुम मुझे अपने से भिन्न मानती हो।

तुम्हारे पत्र की बहुत प्रतीक्षा करके ही उस दिन एक पंक्ति लिखी थी, मिली होगी। मैं क्यों दुःखी हूं, सब बताऊंगा मिलने पर, अपनी स्वयं की ही खातिर बताऊंगा, पर दुःखी ही होओगी, सच ज्यादा ज़िद्द मत करना। मैं तुम्हें भी तो व्यर्थ खिन्न नहीं करना चाहता।

अब तो यों भी तुम्हारे आने के दिन निकट ही हैं। यह सब पचड़ा तुम्हें ही संभालना होगा, यहां किसी के वश का नहीं है। और क्या लिखूं, पत्र यों भी लम्बा हो गया है, पुरानी आदत। नहीं-नहीं, मन नहीं माना है। शायद भावुकता में बह भी गया हूं।

तुम्हारा ही
सुकेत

अगर आज उसे यह पत्र न मिलता तो! वह भूल गयी [illegible]
उसके पत्रों को महत्त्व न देने का निश्चय उसने अभी [illegible]
सदा की तरह सुकेत का पत्र उसकी उंगलियों में [illegible]
कहीं दूर चली गयी :

डॉ० कश्यप को उसने अपना माना [illegible]
गयता से हट कर चलने वाले व्यक्ति में [illegible]
में न जाने क्या टूटता-सा लगता था.... [illegible]
यह पत्र पा लिया—एक झटके के [illegible]
प्रतिलोमी झटका, प्रतिक्रिया के [illegible]
के प्रकृति के इन विचित्र रहस्यों को [illegible]

आज तक कितना कुछ घटित हो चुका है, अपनी जगह से न हिलने पर भी लगता है कि वह कितने फ़र्लांग पीछे फेंक दी गयी है।

ऊंह, वह सब कुछ नहीं था—दृष्टि का एक अन्धड़ मात्र था, विधाता ने उसे एक बड़े खड्ड में गिरने से बचा लिया और क्या! सब कुछ भूलकर वह सुकेत की पंक्तियों को फिर से पढ़ने लगी। आशय समझा, तो ठगी-सी रह गयी, पहली बार तो पत्र को वह यों ही सरसरी निगाह से पढ़ गयी थी···। पर इसमें नयी बात है भी क्या ? स्त्री-पुरुष के मिलन का परिणाम आखिर क्या होता है, यही न ! अब यही बात उसके लिए नयी हो गयी, नयी नहीं, तीर-जैसी काटने वाली। आखिर क्या होता जा रहा है उसे ? सुकेत तो उसका अपना है, कब से उसके लिए वह गली-तपी है और आज जब सुकेत के दरवाज़े पर खुशी आकर खड़ी हुई है, तो वह इतनी नीच बनती चली जा रही है, इतनी छिछली और ओछी !

यों भी इस अवसर पर नहीं गयी तो लोग-बाग क्या सोचेंगे ? कुछ भी कहने लगेंगे, 'पहलौटी का बच्चा है और आप यहां जमी बैठी हैं। अपने-पराये में यही भेद तो होता है···। और भी न जाने क्या-क्या। दुनिया-समाज की चिन्ता उसे हमेशा रहती आयी है, पर अब उसे वैसा कुछ नहीं सोचना है।···

विचारों के मध्य ही मनीषी ने एकाएक छुटका मां को समाचार दिया और छुटका मां खड़ी की खड़ी रह गयी। 'बिटिया, तुम्हारे मुंह में घी-सक्कर ! हम तो पूछने ही वाली थीं, कुछ और लिखा है भइया ने ?' छुटका मां ने अपनी जगह से ही पूछा।

'हां लिखा है। तुम्हें बुलाया है।'

'हमें, हम इस लाइक कहां हैं बिटिया !'

'क्यों, क्या हुआ ?'

'हमसे इत्ता काम अब संभल सकित है, तुम्हीं सोचो ? तुम जाओगी तो भीतर-बाहर का सब काम संभाल लोगी, बेटा-बहू के पास भी रह आओगी और कुछ आराम भी मिल जायेगा।' छुटका मां खाट की दौन पर बैठ कर समझाती रही और फिर उठ कर चली गयी।

सच, अब उसे यह सब कुछ भी निबटाना पड़ेगा ? देव, तुम कहां-

कहां मेरी परीक्षा लोगे ? सुवकने को मन हुआ तो उसके भीतर ऐसे किसी ने हल्के-से थपथपाया, क्या-क्या सोच रही है बैठी, सुकेत तो तेरा ही है। तू उसके सम्बन्ध में चाहे कितना, कुछ भी सोच ले, पर सुकेत से हट-कर तू दूर नहीं जा सकती। सुकेत तुझे कितना मानता है। कितने-कितने दिनों तक उसके पत्रों का उत्तर न देकर या फिर चार जवाबी पंक्तियां लिखकर तू उसे कितना सताती रही है, सुकेत ने तुमसे कभी कुछ कहा ? शादी के बाद भी कितना ममत्वपूर्ण पत्र लिखा था उसने ? मनीषी ने थमे हुए आंसुओं को मुक्त होकर वह जाने दिया। सच ही क्या सम्बन्ध इतनी सरलता से तोड़े जा सकते हैं ?

इस समय तो उसे सुकेत के सामीप्य की और भी आवश्यकता है। कितनी टूटी और खोयी-खोयी महसूस कर रही है अपने आपको ! सुकेत ने ऐसी स्थितियों में उसे बराबर सहारा दिया है—एक वे दिन, जब वह निपट अकेली थी, अपने हर निजी सम्बन्ध से टूटी-बिखरी हुई। सुपर्णा दी के माध्यम से उस समय भी सुकेत के दायित्व ने ही उसे संभाला था और एक दिन आज, जब अप्रत्यक्ष-अज्ञात सपनों की सीढ़ी से वह नीचे गिर पड़ी है, घायल क्षत-विक्षत, तो सुकेत के पत्र को संबल न मानना कितनी कृतघ्नता होगी।

मनीषी ने अपने को साध-बांधकर बैठा लिया—फिर भी आसपास एक बड़ा भारी अन्धड चलता रहा—बड़े-बड़े ऊंचे-लम्बे-तड़ंगे सघन वृक्षों को कंपाता, पत्तियों को कुचलता-समेटता, एक तपती दुपहरी का धूल भरा सन्नाटा, एक बड़ा शून्य—दूर पर रोहियां बियाबान और···दूर-दूर उड़ते दो अकेले पक्षी।

पत्र को यों ही छोड़कर मनीषी सुकेत के कमरे में जा खड़ी हुई। बहुत दिनों से कमरा बन्द पड़ा था। इस समय खिड़कियां खोलकर इधर-उधर देखने लगी तो लगा कितनी स्मृतियां इस कमरे के साथ जुड़ी खड़ी हैं। स्विच दबा देने से कानों में पूरे जाले और इधर-उधर की अव्यवस्था उभर कर सामने आयी तो मन में आया कि सफाई कर ही डाली जाये। आलमारी का दूसरा पलड़ा खोला तो किताबें-कागज भरभराकर नीचे आ गिरे। झुककर एक-एक चीज को उठाना जरूरी हो गया। एक-एक

चीज़, एक-एक किताब, गिरी हुई चीज़ों को उठाने-संभालने लगी तो अचानक हाथ रुक गये। यह क्या ? इतनी पतली चिकनी जिल्द...

अरे डायरी है। पढ़ ले क्या ? गलत तो होगा नहीं। सुकेत का ऐसा क्या है जो मनीषी से छिपा हो।

कब पन्ने पलटे और कब उनमें लिखा अपने भीतर पहुंचाने लगी वह-मालूम ही नहीं हुआ।

● बिना तारीख का एक दिन

'मेरी मनि,

रात के साढ़े ग्यारह बजे हैं, लेकिन आंखों में दूर तक नींद का आभास भी नहीं है। क्या सोच रहा हूं, केवल तुम्हें और तुम्हारी बातों के बारे में, सच बताओ, इसका अन्त क्या होगा ? तुम चाहती क्या हो ? मैं क्या चाहता हूं ? तुम शायद कुछ भी नहीं चाहतीं। 'इच्छा' नाम की चीज़ शायद परमात्मा ने तुम्हें दी ही नहीं। मुझे तो कुछ रास्ता बताओ, एकदम एबनार्मल हो गया हूं। विश्वास न हो तो एक बार मुझे कानपुर आकर देख जाओ। कुछ भी अच्छा नहीं लगता, क्यों ? नहीं जानता। तुम्हें कभी विश्वास नहीं हुआ कि मैं भावुक हूं। सच, मुझे पागल होने से तो बचाओ। मेरा क्या होगा, मैं क्या करूंगा ?

● सात सितम्बर

आज बोटेनिकल गार्डन्स में क्या देखता रहा हूं, क्या मिला, एक क्षणिक तोष। इतनी दूर से इसलिए आया था, कि तुमसे कुछ कह सकूं, कुछ भी नहीं कह पाया, इतनी दूर आना व्यर्थ रहा। साहस ही नहीं होता। तुमने अपने चारों ओर इतना बड़ा ताना-बाना क्या बुन रखा है ? कितनी विकलता का अनुभव कर रहा हूं, तुम क्या समझोगी ! आखिर यह सब क्या है, क्यों ऐसा होता है ? क्या तुम भी कुछ ऐसा ही अनुभव करती हो ? या यह सब एकतरफ़ा है ? यदि हां, तो क्यों ? बोलो, चुप न बैठो, ज़रा मेरी ओर तो देखो, मैं क्या होता जा रहा हूं ? क्या तुम्हें मुझ पर तनिक भी तरस नहीं आता ?

● आठ सितम्बर

कितना सेक्रिफ़ाइस किया करता हूं। किस बेचैनी से अपने-आपको

मैं सोचता हूं, मनि से कह नहीं पाता। सबसे बड़ी मुश्किल तो यह है, कि मनि मुझे अब भी बच्चा ही समझती है। कभी-कभी इतना तैश आता है कि चीख कर कह दूं, मनि, मैं तुमसे भी बड़ा हूं, तुम्हारी देखभाल खूब कर सकता हूं।

मनि को मैं कैसे समझाऊं, कि मनुष्य को व्यर्थ की बातें न सोचकर जीवन को जटिल नहीं सुगम बनाने का यत्न करना चाहिए। मनि समाज और दुनिया की चिन्ता क्यों करती है? समाज तो व्यक्ति के लिए पुल नहीं प्रायः दीवारें खड़ी करता है।

● पच्चीस जनवरी

सब कुछ समाप्त हो गया। इतने दिनों से सोचते हुए बड़ी कठिनाई से एक योजना गढ़ पाया था। वह सब कुछ कहने के लिए, किसी प्रकार मनि को अपने पास बुला भी पाया, पर मनि क्षण-भर में ही सब कुछ ध्वंस कर के चली गयी। उसे आने वाले कल और बीते हुए कल की न जाने कितनी चिन्ता है। क्या पोंगापंथीपन है, कि पुरुष अपने से बड़ी उम्र की स्त्री से विवाह नहीं कर सकता! पति-पत्नी के मध्य एक खास उम्र का फ़ासला होने पर ही क्या दोनों में प्रेम सम्भव है? व्यर्थ की नातेदारी और सम्बन्धों की आड़ में क्या मन सचमुच बंध जाता है?

अपनी प्रियतमा के सान्निध्य में अपना दायित्व और कार्य नहीं निभा पाऊंगा—अगर मैं यह कहूं तो मेरी बात कौन सुनेगा? छोटी-छोटी संवेदनाएं किसी बड़े कार्य के सम्पादन में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं, इसे कौन जान सकता है?

मनि मुझे आज न जाने क्या-क्या समझा कर चली गयी है। क्या मुसीबत है कि आदमी उसी स्त्री से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता जिसे वह सबसे अधिक पसन्द करता है।...'

मनीषी ने डायरी बन्द कर दी है। इससे अधिक नहीं पढ़ पायेगी। तख्त पर बिछे धूल भरे बिस्तर पर वह चुपचाप लेट गयी। मस्तिष्क बहुत थक गया है। देह का हर कण ज़र्रा बना उड़ता हुआ।

सुकेत ने उससे उतना कुछ कभी नहीं कहा, पर उसके मन में कितना लावा दहकता रहा था— इस सबके बदले में सुकेत को उसने क्या दिया ? और स्वयं उसने क्या पाया ? उस रूप में सुकेत से जुड़ जाना ही क्या पा लेना होता ? सुकेत ने मेरे सम्बन्ध में सोचा है, मथा है, हृदय की गहराई से मुझे चाहा है, मेरे लिए इतना ही बहुत है। कुछ क्षणों के लिए वासनात्मक तन्तुओं से जुड़ने की अपेक्षा भावनात्मक सूत्र से ज़िन्दगी-भर जुड़े रहना कहीं बढ़ कर है—ताज़े नये फूलों की पंखुड़ियों के झूले में हमेशा झूलते रहना वह जानती है, सुकेत उसे कभी नहीं भूल सकता, कभी उपेक्षा नहीं कर सकता। मनीषी उठ कर बैठ गयी। उसके अपने ही विचारों ने जैसे नये सिरे से उसमें एक बड़ा सरूर, एक नयी खुमारी भर दी हो।

'बिटिया, तुम जा रही हो न ? हम तुम्हें इत्ती देर से खोज रही हैं।' छुटका मां आकर कमरे की दहलीज़ पर खड़ी पूछ रही थी।

'तुम क्या कहती हो छुटका मां, चली जाऊं न!' जैसे उसे धकियाने के लिए बस एक अन्तिम धचकोले की ही और ज़रूरत हो और बस।

'हम तो बिटिया अपनी तईं यही चाहती हैं, कि तुम चली जाओ। यही पूछने हम आयी थीं कि अगर तुम जाने का निश्चय करो तो हम भइया-दुलहिन के लिए कुछ खाने-पीने की चीज बना कर रख दें।'

'रख दो!' कुछ सोच कर मनीषी ने कहा। वह अवत स्त पर खिलौने की गुड़िया की तरह उठी बैठी थी—घुटने मोड़ कर सामने पैर फैलाये और घुटने के चारों ओर से बांहों को लपेटे।

'मैं जा ही रही हूं।' मनीषी ने निश्चयात्मक स्वर में अंगड़ाई लेते हुए फिर कहा और पीठ पर पड़े बालों का जूड़ा लपेटने लगी।

'भली बिटिया, भली, तो हम अब काम में हाथ लगाती हैं।' हृदय के उल्लास को छिपाने में अशक्त छुटका मां दहलीज़ से लौट कर जल्दी-जल्दी जाने लगी तो मनीषी ने पुकार कर कहा :

'छुटका मां, मन-दो मन न बना डालना, कुली और मेरा दोनों का ख्याल कर लेना, हुं!'

'अरे बिटिया!' छुटका मां खुनखुन हंसती सिर के पल्लू को बड़े सन्तोष से सहेजती हुई शब्दों में बिना कुछ कहे बरामदे में चलती रही।

मनीषी ने फिर पुकारा, 'छुटका मां, मैं अस्पताल जाकर अव अपनी छुट्टी ठीक कर आऊं न ! !'

उनतीस

हवा, धूल, सन्नाटा और विकट आंधी—उसके भीतर धुंधियाते कुछ पुराने अक्स रेलगाड़ी में वैठे-वैठे ही फिर उभर कर सामने आने लगे—

'मनि, देखो यह कट !' सुकेत ने शेव करते-करते अचानक कहा था तो धोवी के यहां से आये कपड़ों को व्यवस्थित करती हुई वह चौंक कर देखने लगी थी, ठोड़ी के पास से खून झिरझिरा रहा था।

'यह क्या कर डाला तुमने ?'

'मैंने क्या कर डाला ?'

'फिर ?'

'तुम्हें मालूम है, मैं कितनी होशियारी से शेव बनाता हूं···। ओफ़्फ़ो, लो पोंछो।' धोवी के यहां की अपनी फटी धोती में से एक छोटा-सा कपड़ा फाड़ कर दे दिया था उसने।

'इससे क्या होगा ?' कहता हुआ उठ कर दूर बैठी उसकी पहनी हुई धोती के पल्लू से खून पोंछ कर आया था, फाड़े गये धोती के पल्लू को उसने तहाकर शेविंग वाक्स के कोने में रख लिया था, 'फिर कभी काम आयेगा।' सामने रखे शीशे में झुक कर देखते हुए उसने पुन: ठोड़ी छीलनी आरम्भ कर दी थी।

'क्यों, वह कपड़ा क्यों रख लिया ? फिर इसी तरह काटोगे क्या ? तुम्हारी शेव करने की निपुणता रोज-रोज भोथरी होती चली जायेगी ? यों

बैठे-बैठे हमेशा अपनी डींग हांकते हो !'

सुकेत सुनता रहा था, बिना सिर उठाये, बिना कोई प्रतिक्रिया प्रदर्शित किये वह ज्यों का त्यों अपने काम में रत रहा था । उन दिनों के कितने ही स्वर, क्षण और भंगिमाएं गाड़ी के खटर-पटर करते पहियों के साथ बंधी चल रही हैं ।

सुकेत उसे आज भी कितना मानता है, वह खुद मन को उससे मुक्त नहीं कर पा रही, तभी न दौड़ी चली जा रही है । सहयात्रियों की ओर ध्यान देने की फुरसत ही नहीं । इतना कुछ सोचती खिड़की पर रखी बांह पर अपना चेहरा टिका अपनी चमकीली आंखों से कभी वह गाड़ी के सबसे अगले डिब्बे के दौड़ते पहियों को देखती, कभी इंजिन से उठते हुए धुएं के बगूलों को ।

१२१/५ स्वरूपनगर, कानपुर—इतना ही तो पता है सुकेत का और दूरी उसकी मापी हुई है—सुकेत को उसने अपने आने की सूचना इसीलिए नहीं दी, फिर भी कहीं मन की तहों में लिपटी प्लेटफार्म पर सुकेत को देखने की इच्छा प्रबल हो उठी—तब आया था, तो अब क्यों नहीं आयेगा ? सामान प्लेटफॉर्म पर रख कर उसने इधर-उधर दृष्टि दौड़ायी ।

'मेमसाब, सामान उठावें ?' कुली सामने खड़ा पूछ रहा था ।

'नहीं ।' वह एक क्षण आशा से बंधी, फिर ठिठकी, कुछ देर बाद बोली, 'उठाओ ।' मन ने समझा लिया : सुकेत को तुम्हारे आने का पता ही नहीं तो वह क्यों आयेगा, फिर गाड़ी पर देखने आयेगा, तुम्हारे आने का ज्ञान होगा भी तो उसे कैसे ? अच्छा है अचानक आश्चर्यचकित कर देने में जो आनन्द है, वह लिखत-पढ़त करके पहुंचने में कहां है ।

घर पहुंचने पर विस्मित रह जाने की बारी अब उसकी थी, दरवाजे पर मोटा ताला झूल रहा था । पड़ोसी ने बताया, 'जी, सुकेत साब और उनकी श्रीमती जी दोनों शायद घूमने गये हैं, मसूरी की तरफ गये हैं ।'

'आप कहां से आयी हैं ?' उन्होंने उत्सुकतावश पूछा ।

'जी, कलकत्ते से ।'

'सुकेत साहब की···?'

'मौसी हूं।'

'ओह, हमारे यहां बैठिये न तब तक?' बगल के कमरे वाले पड़ोसी ने आमन्त्रित किया, पर वह बरामदे में ही खड़ी रही। 'यहां से देखती रहूंगी, आप चिन्ता न करें, नहीं आयेंगे तो मैं अपनी सहेली के यहां चली जाऊंगी, यहां कानपुर में ही है वह आजकल, बल्कि इधर ही कहीं स्वरूप-नगर में।' उसने जान छुड़ाने के लिए कह दिया था। अपनी उत्सुकता और अधीरता के असफल हो जाने से क्षत-विक्षत हुआ उसका मन इस समय एकान्त चाहता था। पड़ोसी अपने घर में पुनः प्रविष्ट होकर बन्द हो गये तो वह अपने होल्डाल पर बैठी बरामदे की झिझरियों से बाहर देखती रही—निपट एकान्त और निस्तब्धता। कलाई पर बंधी घड़ी में समय देखा, रात के साढ़े नौ, सिनेमा गये होंगे तो अब आते ही होंगे, क्यों न वह कुछ देर पहले आयी, खुद के लौट जाने की भी गुंजायश रहती, अब तो वे किसी क्षण भी आ सकते हैं:

क्या ज़रूरत थी यहां उसकी? मौज कर रहे हैं और लिख कर भेज रहे हैं, कि अकेले हैं और यह और वह। किसी को बहला देने में क्या लगता है! दो व्यक्ति स्त्री-पुरुष जो एक-दूसरे से बिंध गये हैं, उनके अकेले होने का प्रश्न ही कहां उठता है! वह भी भावुकता में कहां से कहां चली आयी। डॉ० भट्टाचार्य ने उस दिन सही ही कहा था, 'सुकेत बीबी के साथ रंग-रेलियों में मस्त होगा, तुम्हारे बारे में सोचने की उसे फ़ुरसत ही कहां होगी।' वही है जो न जाने किन-किन कल्पनाओं में डूबी रहती है और पीछे-पीछे भाग रही है। सुकेत से अब उसका नाता? वह अब भी ग़ायब हो सकती है, यहां से वापिस भी लौट सकती है···। मनीषी सोचती रही।

उसने कब सूचना दी थी, कि वह आ रही है। रात-भर किसी धर्म-शाला या होटल में ठहर जायेगी और कुछ नहीं तो प्लेटफ़ॉर्म तो है ही—सुबह हो जाने पर कोई भी गाड़ी पकड़ लेगी। स्टेशन पर वापिस जाकर इस समय जाने वाली किसी गाड़ी का भी तो पता किया जा सकता है। पर सुबह उठ कर पड़ोसी सुकेत से कह देंगे तब? नाहक अपना सही सम्बन्ध बताया और नहीं बताती भी तो क्या करती, कभी फिर इधर आना होता।

धन्यवाद। पत्नी नहीं है तो अकेले घर में जाना क्या अच्छा रहेगा—यही सोच कर मनीषी ने इस प्रकार पड़ोसी महाशय को सन्तुष्ट कर दिया। पड़ोसी ने चुपचाप दरवाज़ा फेर लिया, जैसे अपनी चुप्पी से ही कह गये हों, कि चलिये आपको टांगें तोड़ने में ही आनन्द आ रहा है, तो फिर यही सही!

खड़े-खड़े हृदय में फिर कुछ खदबदाने लगा: भले घर की लड़कियों के यही काम होते होंगे न, आधी रात होने को आयी और ऐसे दिनों में अब तक बाहर घूम रही हैं। घर में कोई छीने लेता था भरतार को? कैसी भाषा में सोचने लगी है वह, अपनी मां-चाची की भाषा में, उनके बोल-बनत में। घंटे ने कहीं एक का घण्टा ठनठनाया—क्याऽऽ साढ़े दस!! कलाई घड़ी को पड़ोसी के रोशनदान में से आती रोशनी में पढ़ा; हां साढ़े दस ही हैं। एक घण्टा खड़े-खड़े हो गया।

सड़क पर कुत्ते ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लगे थे। हवा की सरसराहट ज़्यादा बढ़ गयी थी। सड़क पर आवा-जाई बस शायद दो-चार आदमियों की ही रह गयी थी, सन्नाटा और सड़क पर लुपलुप जलते-बुझते लैम्प-पोस्ट। एक दिन पहले भी वह यहां आ चुकी है, आज के और उस दिन के आने में कितना अन्तर है—आंखों में कुछ किरकिराया, आंसू ढुलने को हुए। ज़ीने में अचानक टॉर्च जली तो उसने जल्दी से आंखें पोंछ लीं, खटर-खटर सीढ़ियां चढ़ने का स्वर एक आगे एक पीछे और फिर दोनों साथ-साथ-टॉर्च की रोशनी ठीक उसके मुंह पर, 'कौन!!'

'—।' कुछ कहने को अचानक कुछ नहीं सूझा, उत्सुकता और पहल करने की इच्छा विषाद में बदल गयी। रोशनी चेहरे पर पड़ते ही आंखें चौंधिया गयी थीं—चेहरे पर झुंझलाहटयुक्त सिकुड़नें।

'अरे मनि तुम!! कब से आयी खड़ी हो?' और सुकेत ने आह्लाद और आश्चर्यवश जैसे उसे दबोच ही लिया हो।

क्या हो गया है उसे, वह चुप क्यों है? इतनी दूर आकर भी क्या इस तरह मुंह बनाकर खड़े रहते हैं कहीं? मान करने का अधिकार अब उसका रह ही कहां गया है! तभी लगा सामने खड़ी शारदा भी उसके पैरों में झुक गयी है। अंधेरे में अपने को संयत-संतुलित करने का उसे मौका मिल

गया।

'अभी तो आयी हूं, ऐसी कोई खास देर भी कहां हुई है।' प्रयत्न-पूर्वक स्वर को व्यंग्य बनने से रोककर उसने कहा।

'क्या कहती हो, अभी आयी हो; डेढ़ घंटे से ऊपर इन्तजार करना पड़ा होगा तुम्हें, कम नहीं।' सुकेत ने घड़ी देखते हुए कहा। शारदा ने दरवाज़ा खोलकर टोकरी भीतर रख ली, सुकेत ने होल्डॉल भीतर रखा और फिर अटैची।

'उफ़, सचमुच बुरा हुआ! मैं आज इसे मना भी कर रहा था—न जाने क्यों, मन कर रहा था, कि आज हम लोगों को नहीं ही जाना चाहिए, पर होता वही है जो होना होता है।' सुकेत किसी गहरे सोच में डूब गया था।

'अरे बेकार की बात को तूल देने बैठे हो, कह रही हूं, कुछ नहीं हो गया, तुम लोगों को देखकर मुझे इतनी खुशी हो रही है।'

'ऊंह!' सुकेत फिर भी चुप रहा।

'सुकेत!' मनीषी ने सुकेत को इस समय बुत बनने से रोका।

'खैर, तुमने पहले लिख क्यों नहीं दिया?' सुकेत ने शारदा को चाय बना कर लाने के लिए कहते हुए पूछा!

'नहीं लिखा, यों ही!' मनीषी को इस क्षण, एकाएकी पहुंच कर आह्लादित और चकित कर देने वाली अपनी योजना के सम्बन्ध में बताना अच्छा नहीं लगा। शारदा को सम्बोधित करती हुई बोली, 'टोकरी में से सामान निकाल लेना, छुटका मां ने तुम्हारे लिए न जाने क्या-क्या रखा है!' फिर कमरे के चारों ओर दृष्टि डालते हुए कहा, 'क्यों शारदा, अच्छा लग रहा है न यहां तुम्हें?' चाय तैयार करके शारदा ने सामने लगा दी थी, अपने प्रश्न के उत्तर में मनीषी शारदा की प्रतिक्रिया जानने के लिए उत्सुक थी।

शारदा ने प्याला हाथ में थमाते हुए कहा, 'ठीक ही है।'

शारदा के स्वर की शुष्कता की ओर ध्यान न देते हुए मनीषी ने फिर कहा, 'तुमने तो मकान को खूब व्यवस्थित कर लिया है, इस कमरे की सज्जा कितनी अच्छी है!'

'हां, जब आयी थी तो आप देखतीं, इस कमरे की क्या गत थी, ये तो कहते थे, ऐसा ही रहने दो···।' शारदा चहकने लगी थी।

'और क्या बेकार की उथल-पुथल, मैंने यही कहा था कि आराम से रहो और रहने दो।' सुकेत ने बताया, फिर जोड़ा, 'देखो आज मनि को कितनी तकलीफ़ हुई, अगर हम आज न ही जाते तो क्या बिगड़ जाता, मैं कह रहा था···।'

'क्या हो रहा है आपको, जब से कहे चले जा रहे हैं, मैं मानती हूं तकलीफ़ हुई, पर इसके लिए मुझे ही ज़िम्मेदार ठहराना···!' स्वर में झुंझलाहट, रुक्षता—शारदा चाय सिप करते-करते रुक गयी थी।

'ओफ़्फ़ो, तुम दोनों ने क्या लगा रखा है यह, मुझे तो कोई तकलीफ़ नहीं हुई! आराम से यहां आकर बैठ गयी, घर तो था ही, और जब बिना सूचना दिये आयी थी तो···।'

'तो तुम्हें दण्ड भुगतना ही चाहिए था, यही कहना चाहती हो न! मनि, तुम हमेशा ऐसी ही रहोगी।'

'तो उस बेचारी से क्यों कह रहे हो बार-बार, कोई बात भी हो, मुझे तुम्हारी यह आदत बिल्कुल पसन्द नहीं है। यह तो नहीं, कि बताते कहां गये थे, क्या-क्या देखा-भाला, उल्टे बच्चों की तरह झगड़ रहे हैं! मैं यह सब नहीं सुनूंगी। शारदा, तुम चाय पियो!' मनीषी ने सुकेत को डपट कर शारदा को संतुलित करना चाहा, शारदा प्याला सामने रखे अब भी सुबक रही थी।

'शारदा, ऐसा तो कुछ हुआ भी नहीं रानी, लाओ, मैं चाय पिलाऊं!' और सामने पलंग पर बैठी शारदा के पास जाकर वह स्नेह से उसकी पीठ सहलाने लगी। खुद मान करने चली थी, ऊंह! मनीषी मन-ही-मन खुन-खुन हंसी।

शारदा मुंह बिदोर कर कह रही थी, 'छोड़ो मासी, ये तो हमेशा हर बात को ऐसे ही तूल देते रहते हैं।'

'सुकेत!' सुकेत को उसने फिर डपटा, मन में लगा बेकार मान-मनौवल में लगी है, खुद एक-दूसरे को मनाते रहेंगे। हो सकता है, बात कुछ भी न हो, वह खुद ही इधर-उधर पुचकार-दुलार कर बात को लम्बा

खिलखिलाते, कुछ अन्यथा घटित हो जाने पर भी शान्त-संयत रहने वाले सुकेत को यह क्या हुआ ? तभी उसे ध्यान आया, उसकी अटैची दूसरे कमरे में ही रह गयी है और कपड़े बदलने के लिए उसके पास कुछ भी नहीं है—पर अब उधर जाना या किसी को बुलाना-पुकारना व्यर्थ है। अपनी इधर की बत्ती बुझा देने से ही शायद उधर स्थिति में कुछ परिवर्तन हो, उसने सोचा, क्योंकि उधर एकदम सन्नाटा था, कमरे में जलती ट्यूब-लाइट का प्रकाश आंगन में अब भी फैल रहा था और कहीं कोई हलचल नहीं थी— मनीषी ने अपनी बत्ती बुझा दी, और यों ही बिना कपड़े बदले चुपचाप चारपाई पर लेट गयी—कुछ देर बाद तक भी उधर कोई शब्द न सुन पड़ा तो मन फिर अशान्त होने लगा—

कल से लगभग उसने कुछ भी नहीं खाया है, यह न खाने का ही परिणाम है, कि सिर में चक्कर आ रहे हैं, पर यह सब इस समय कहा भी तो नहीं जा सकता। अब तो सवेरे ही देखा जायेगा, उफ़ क्या ऐसा ही होता है ? उसने गृहस्थी नहीं की, ज़्यादा देखा-सुना भी नहीं, पर पति-पत्नी के बीच खुल्लमखुल्ला इस प्रकार की कहन-सुनन···बड़े काण्ड शायद इसी प्रकार की छोटी-छोटी बातों से ही बुने जाते होंगे। बेचारा सुकेत ! धीरे-धीरे ही न बनेगा इन सब चीज़ों का अभ्यस्त ! मस्तिष्क मथ रहा था, तभी दरवाज़ा एक हल्की चरमराहट के साथ खुल गया।

'मनि, तुम सो गयीं क्या ?' मनीषी की आंखें अंधेरे में खुली थीं, पर सुकेत का स्वर सुना तो उसने आंखें मूंद लीं। सुकेत के हाथ के, सुकेत की उंगलियों के पोरुओं के एक नन्हे से स्पर्श की प्यास—मीलों दूर से भूखी-प्यासी चली आती हुई थकी-जगी मनीषी के लिए यह चाह क्या अनुचित थी ?

'बिस्तर वगैरा सब ठीक है न !' सुकेत ने यों ही बुदबुदाते हुए बत्ती जला कर देखा और फिर बत्ती बुझा कर धीरे से बाहर निकल गया—मनीषी इतनी देर से परेशान थी—अत्यन्त थकी होने पर भी प्रयत्न करने पर भी आंखें मुंद नहीं पा रही थीं, अब आंखें मूंदीं, तो उसे मालूम ही नहीं हुआ, गहरी नींद में वह किस क्षण खो गई; सुकेत की भावनाएं अब उसके पास आकर सो गई थीं।

तीस

सवेरे आंख खुली तो वह सहसा उठकर नहीं बैठी, बिस्तर पर लेटे-लेटे ही आंगन में गट्टपट्ट एक दूसरी के ऊपर गिरती-चिचियाती नन्ही चिड़ियों के स्वर को सुनती रही। आंगन में एक स्वर और उठ रहा था, पैरों में चप्पल पहने कोई कमरे से निकल कर बार-बार दूसरी ओर सामने रसोई में आ-जा रहा था। इस घर के भूगोल से वह परिचित थी—सड़क की ओर वाले बरामदे की ओर दो कमरे हैं—एक वह, जिसमें वह शारदा और सुकेत के साथ आकर बैठी थी और दूसरा वह, जिसमें वह इस समय लेटी है. इन दोनों कमरों के सामने एक खुली सीमेण्ट की पट्टी है, जिसे बरामदे का नाम दिया जा सकता है, इसी बरामदे में दाईं ओर एक छोटी सी कोठरी है, जिसे शायद अब स्टोर के रूप में प्रयोग किया जाता होगा। वैसे उन दिनों जब वह यहां आयी थी, वह सुकेत का स्टडीरूम था। बरामदे के सामने एक छोटा-सा आंगन है और आंगन में ही एक ओर एक नीची सी जगह, जिसमें दो-चार गमले और और मिट्टी डाल कर पुदीना, टिमाटर, धनिया जैसी कुछ हरी-भरी चीजें लगायी गयी थीं— शायद यह सब कुछ सुकेत के इस घर में आने से पहले भी रहा होगा ! आंगन को पार कर रसोई, गुसलखाना और फ्लश का संडास।

शारदा इसी आंगन को पार कर रही होगी, क्यों कर रही होगी ? मनीषी अनुमान लगाने लगी : सुकेत के ऑफिस जाने का समय होगा, तब शायद शारदा उसके खाने-पीने का इन्तजाम कर रही होगी। कलाई-घड़ी पर दृष्टि डाली—पूरे आठ बजे थे। यह सुकेत के आफिस जाने का समय नहीं हो सकता, हां उसके अस्पताल में जाने का समय जरूर है। मन में एक कसक हुई, वह यहां पड़ी है, कलकत्ते हुई होती तो दिमागी जिल्लत झेलने का मौका तो न आता, आराम से अपनी जगह होती, अपने कामों में रत। पर वह आज इस समय यहां पड़ी है, सम्बन्ध के एक चिथड़े से बंधी हुई।

मनीषी उठ कर बाहर आ गयी। क्या शारदा इस समय मानसिक रूप से स्वस्थ हो गई होगी ? मन को शारदा को समझाना कितना कठिन

हो रहा था···। सामने से शारदा रसोई में से आती दिखी तो एकाएक उसका सामना करने में संकोच हुआ, उसी के कारण न वह छोटा सा तूफ़ान उठ खड़ा हुआ था।

'अरे माशी, आप उठ गयीं, आइये नाश्ता लीजिये।' शारदा सहज थी।

'अभी नाश्ता!' शारदा का इस समय का स्वर उसे अच्छा लगा, चलो यह बात तो शारदा में अच्छी है, कि बात को ज़्यादा देर तक दिल से नहीं लगाती—वह सोचने लगी, फिर स्वर में स्नेह घोलती हुई बोली, 'तुम लोग नाश्ता करो, मैं अभी आयी।'

'हम दोनों नाश्ता कर चुके हैं, आपको नहीं जगाया, सोचा रात भर की जगी हैं। ये तो अपने ऑफिस भी चले गये।' शारदा ने बड़े स्वाभाविक ढंग से बताया।

'आफ़िस अभी!!' उसे आश्चर्य हुआ, पर फिर बात को अधिक तूल न देने की दृष्टि से उल्लास और सन्तोष सा व्यक्त करते स्वर में बोली, 'चलो ठीक है, तब मैं तो आराम से तैयार होकर नाश्ता करूंगी।' मन में कहीं धक्का-सा लगा था: रात उसके आते ही उस प्रकार की बात हो जाने पर भी सुकेत उससे बिना कुछ कहे-मिले चला गया। एक दिन सुबह के नाश्ते के लिए वह उसे सिन्धवानी के घर से इतनी दूर जाकर बुला लाया था। सुकेत को जाना ही था तो कम-से-कम शारदा तो उसका इन्तज़ार कर ही सकती थी, पति के साथ खा लेना क्या इतना ज़रूरी था? उसे जगाया भी तो जा सकता था, पर जब सुकेत ने ही···। मन में एक खरोंच-सी लगी। कम-से-कम मेहमान के साथ की शिष्टता···। पर वह मेहमान है ही कहां, वह तो इस घर की ही है, घर के सदस्यों में से एक। मुंह-हाथ धोने लगी तो फिर एक कांटा-सा चुभा, ऊंह! उस सबको भूलना होगा। कितनी मामूली-सी बात है वह!

'यहीं आ जाइये माशी, इसी कमरे में।' अपने वाले यानी रात वाले कमरे में ही शारदा ने नाश्ते के लिए मनीषी को आमन्त्रित किया, तो उसे लगा

रातवाली बात जैसे कभी घटी ही न हो। मनीषी को कुछ संकोच हुआ, फिर उसने कमरे में प्रवेश किया, शारदा ने सब चीज़ों को मेज़ पर बड़े करीने से लगा दिया था। पहले पड़े प्याले-प्लेटों को उठा कर, वह बाहर रख आयी थी और कमरे की चीज़ों को व्यवस्थित करने में फिर व्यस्त हो गई थी। मनीषी थोड़ी देर यों ही बैठी रही, शायद शारदा के आने की प्रतीक्षा में; फिर उसे लगा, जब सारी चीज़ें सामने रखी ही हैं, तो उसे मेहमान बन कर क्यों बैठना चाहिए, एक प्याला अपनी ओर सरकाते हुए उसमें चाय तैयार करती हुई बोली, 'शारदा, आओ एक कप चाय और पी लो!'

'न-न, चाय तो यों भी मुझे नुकसान करती है, मैं तो थोड़ा दूध लेती हूं, वही लिया था। आप पीजिये!' निरपेक्ष भाव से शारदा चीज़ों को संगवाती रही। मनीषी धीरे-धीरे चाय सिप करने लगी, कहने-सुनने की अब कोई गुंजाइश नहीं थी।

'तुम्हारा क्या कार्यक्रम रहता है शारदा?' मनीषी ने यों ही फिर आरम्भ किया। इस प्रकार बैठकर अकेले चाय पीते हुए उसे अच्छा नहीं लग रहा था।

'अब आप देख लेना, दिन-भर लगी ही रहती हूं।' कुछ मुस्कराते हुए शारदा एक गृहस्थिन के स्वर में बोली। पंलग पर रखे तकिये के गिलाफ को बदलती हुई कहती रही, 'जब शुरू-शुरू में यहां आयी, तो घर क्या था, एक अजायबघर था। एक कपड़ा इधर ठुंसा हुआ है, तो एक कपड़ा उधर पड़ा है। यहां तक कि पैन, रूमाल, जूते, मौजे—इन चीज़ों को रखने की कोई ठिकाने की जगह ही नहीं थी, जो चीज़ जहां मन में आयी फेंक दी, उधर रसोई में तो और भी बुरी हालत थी—खाने-पीने की चीज़ों का कोई ढब-डौल नहीं। पहले तो मैंने उस ऊटपटांग नौकर को मार अलग किया, अब एक मेहरी रखी है। और दूसरे, मैंने इनसे हाथ जोड़कर प्रार्थना की, कि तुम अपने ढंग संभालो, मेरे बस का इतना कुछ नहीं है। जिम्मेदारी तो अब मेरी दिन पर दिन बढ़ेगी ही, कुछ रुककर तकिये को गोद में रखकर उस पर ज़ोर डालती हुई बोली, 'मेरे दादाजी भी इनकी जैसी आदतों के थे, बड़ी मुश्किल से मेरी दादी जी ने संभाला।' सुनकर मनीषी को लगा, अप्रत्यक्ष रूप में यह उसी का अप-

राध है। हैडमास्टर जब क्लास में आकर लड़के को डपट देता है, या उसे कमज़ोर घोषित कर देता है, तो उसकी जिल्लत क्लास मास्टर को ही उठानी पड़ती है। सुकेत के दोष को मन-ही-मन उसने अपने ऊपर ओढ़ लिया। चाय का अगला घूंट भरने को मन नहीं हुआ, उसने तो सुकेत की इस कमी को कभी विशेष महत्त्व नहीं दिया था—दफ़्तर से या स्कूल-कॉलेज से घर लौट कर कपड़ों को इधर-उधर अव्यवस्थित ढंग से पटक देना वह तो लड़कों का पुरुष-सुलभ अभ्यास ही मानती आयी थी, उसके लिए शारदा की ओर से इतनी बड़ी हिदायत-चेतावनी—सुकेत के प्रति उसे बड़ा अत्याचार लगा, मन में पीड़ा जगी, पर कहने की इच्छा होते हुए भी वह टाल गयी।

शारदा कमरे की व्यवस्था का काम समाप्त कर चुकी थी, उस प्रकार बैठकर कुछ आराम भी ले ही चुकी थी, अब वह उठकर शायद रसोई में फिर चली गयी थी। मनीषी अब अकेली बैठी कमरे की दीवारों को घूरने लगी, उसे ध्यान आया, रेडियो पर सुकेत की और शारदा की तस्वीरें अभी सवेरे ही रखी गयी हैं, रात को एक तस्वीर सिर्फ़ दीवार पर ही थी। कुछ देर बिना किसी विचार के वह तस्वीर देखती रही, फिर उठकर खुद भी रसोई में चली आयी, शारदा प्लेटों को सिंक में डाल विम से धोने में व्यस्त थी, दूसरी ओर गैस पर भगोने में कोई चीज़ बुरी तरह खदबदा रही थी। मनीषी ने देखा, बोली :

'शारदा, तुम सब्ज़ी देख लो, मैं प्याले धोती हूं।

'सब्ज़ी नहीं दाल है, सब्ज़ी तो अब मैं छौंकूंगी। ये बरतन तो बस एक मिनट में धुले जाते हैं। आप इस स्टूल पर बैठें न!' शारदा ने रसोई में ही कोने में रखे स्टूल की ओर इंगित किया।

'मैं कोई आराम करने थोड़ी आयी हूं शारदा, मुझे तुम कोई काम बताओ न! ऐसे तो मन भी नहीं लगेगा।'

'अरे काम क्या है माशी, ये बरतन तो मैं यों ही धोने लगी थी। हमारी मेहरी बड़ी होशियार है, नाम है चंदनिया, शकल देखो तो काली कीट, पर चलो हमें शकल से क्या लेना-देना! काम इतनी चटापटी से करती है, कि आप देखती रह जाओगी।'

'अच्छा !''—'अच्छा' मनीषी ने यों ही कहा, फिर बोली, 'लाओ मैं सब्ज़ी काट दूं।'

'सब्ज़ी कटी रखी है।' शारदा ने प्लेट में कटी रखी सब्ज़ी (भिण्डियों) को दिखाया।

'तो लाओ, मैं छौंक देती हूं। आटा हो गया ?

'आटा तो मैं गूंध लूंगी, एक मिनट में सब कुछ होता है। आप देखती तो रहें और भिण्डी की सब्ज़ी तो माशी, मैं ही छौंकूंगी, इनमें ज़रा भी लेस रह जाये तो इन्हें सब्ज़ी अच्छी नहीं लगती।' शारदा ने प्लेट-प्याले धोकर सजा दिये थे, मनीषी इस बीच उठकर भिण्डियों तक पहुंच चुकी थी, शारदा की बात सुनी, तो उंगलियां प्लेट से अलग हो गईं—सुकेत की पसन्द शारदा को ज़्यादा मालूम है ? शारदा उससे इसलिए सब्ज़ी नहीं बनवाना चाहती, कि हो सकता है, वह सुकेत की रुचि की चीज़ न बना सके ! मनीषी का मन किया वह वापिस अपने कमरे में लौट जाये पर उस स्थिति में तुरन्त यों ही लौट जाना कुछ उचित प्रतीत नहीं हुआ, वह बैठी रही। शारदा कहती रही।

'हमारी सबसे बड़ी बहन हैं न मालती, आपको तो मालूम ही होगा, वे तो इतनी होशियार हैं, कि कुछ पूछो मत। घर का काम भी करती हैं और ऑफ़िस भी जाती हैं। तीन बच्चों का काम उन्हें अलग संभालना पड़ता है, मुझे तो वे फिसड्डी कहती हैं, पता नहीं कहां की फुर्ती है उनमें। और उनकी देवरानी, इतनी खूबसूरत हैं माशी, कि आपको क्या बताऊं ! दो बच्चों की मां हैं और लगती एकदम लड़की जैसी हैं। उधर कलकत्ते में रहती हैं, बाल देखें आप, तो हैरान रह जायें, आपके बाल तो उनके सामने बस यों ही हैं।' मनीषी को लगा, इतनी ही देर में शारदा ने उसका अच्छी प्रकार निरीक्षण कर लिया है। शारदा की दृष्टि के पैनेपन पर उसे आश्चर्य हुआ। शारदा बताती चल रही थी :

'माशी, हमारी दूर के रिश्ते की एक मामी हैं, इतनी होशियार हैं कि मैं आपको क्या बताऊं ! उनके रहते किसी को रेल का टिकट खरीदने की कोई ज़रूरत ही नहीं है। आपको डब्ल्यू० टी० सफ़र आराम से करवा देंगी, हमें तो उनकी बुद्धि पर हैरत होती है।'

'ओह !' मनीषी कुछ कहने को हुई, फिर चुप रह गयी, बोली, 'शारदा, मेरे सिर में तो अचानक दर्द होने लगा, ज़रा चलकर कमरे में आराम करूं, यों भी तुम मुझसे कोई काम नहीं करवा रही हो !'

'अरे, सिर में दर्द आपने कैसे कर लिया ? और आपका कुसूर भी क्या है, बड़ी उमर में आकर कुछ न कुछ जंजाल सिर लग ही जाता है। सिरदर्द की गोली ले लें और थोड़ी देर आराम कर लें।'

'ऐसा ही करूंगी !' कह कर मनीषी अपने कमरे में आकर लेट गयी।

वह चुपचाप लेटी थी, पर उसका सिर बुरी तरह घूम रहा था, जैसे वह किसी बड़े हिंडोले पर बैठ कर ऊपर-नीचे बड़े-बड़े धचकोले खाकर आयी हो। उसने कसकर आंखें मूंद लीं, जैसे मस्तिष्क के सारे कल-पुर्ज़ों को बन्द कर देने के लिए कन्ट्रोलर ने आखिरी स्विच दबा दिया हो। पर्दे फिर भी फड़फड़ाते रहे थे। एक-एक वाक्य, एक-एक दृश्य, मस्तिष्क की शिराओं को रौंदता चला जा रहा था जैसे वह इस सब को किसी अमूर्त चुटकी से दबाने के प्रयत्न में पूरी तरह टूट चुकी हो।

शारदा ने आकर जगाया तो वह हड़बड़ा कर उठ बैठी, जैसे इतनी देर सोकर उसने कोई महा अपराध कर डाला हो।

'चलो माशी, खाना खा लो, उनके लिए तो चपरासी खाना ले गया।'

'तुम खा लेतीं, मेरे लिए इतनी देर रुकी रहीं।'

'घर में आये मेहमान का तो ख्याल करना ही पड़ता है माशी, इसमें कुछ नहीं।' शारदा ने बड़े सहज स्वर से कहा।

मनीषी शारदा के साथ चल कर रसोई में आकर खड़ी हो गई, 'कुछ ले चलूं, कहां खाना है खाना ?'

'कुछ नहीं, आप कमरे में चल कर बैठिये। खाना मैं वहीं लाती हूं।' मनीषी जैसे अभी अचेतनावस्था में ही हो, शारदा ने कहा तो हट कर वह कमरे में आ गयी, थालियां शारदा ही उठा कर लायी, मनीषी ने देखा तो उसे आश्चर्य हुआ, 'शारदा, तुमने इतनी चीज़ें कहां से बना डालीं ?'

'चटनी ही तो और बनायी है, बाक़ी चीज़ें तो मैंने आपके सामने ही

कभी-कभी तो मुझे इनसे भी···।' और शारदा बड़े फूहड़ ढंग से हंसने लगी। मनीषी को लगा, उस दिन कलकत्ता में पहले दिन की देखी हुई शारदा से यह शारदा एकदम भिन्न है। शारदा की बात सुन कर वह मुस्करा नहीं सकी, गम्भीर स्वर में बोली, 'यह चीज़ तो अच्छी नहीं है।'

'ये कहते हैं, यह भी एक बीमारी है। मनि माशी आयें तो अपना इलाज करवाना।' मैंने कहा, दिद्दा की डॉक्टरनियों के बारे में बात सुन कर ही तो मुझे यह बीमारी लगी है और अब डाक्टरनी से ही मैं इलाज करवाने लगूं!'

क्या हो गया है इस स्त्री को, किसके सामने किसकी बात किस ढंग से कह रही है, इसे ज़रा होश नहीं है। मन में एक किचकिची-सी उठी, फिर भी वह चुप रही। खाना समाप्त करके दोनों ने थालियां खिसका दी थीं, मनीषी सामने दीवार पर लगी समुद्र की तस्वीर को देखने लगी थी।

'देख चन्दनिया, हमारी माशी!' शारदा ने अचानक सामने आती हुई स्त्री को सम्बोधित किया, तो मनीषी ने सिर घुमाया।

'तुम्हारी मौसी?' आगन्तुक महिला 'पैरलागन' कहकर बरामदे में ही फसक्का मारकर बैठ गयी।

'हां-हां, साब की माशी हैं, कुछ दिनों के लिए आयी हैं। जब से आयी हैं, तब से काम करने की जिद्द करती रहती हैं, मैं कहती हूं आप तो कल को चली जायेंगी और हमारी आदतें खराब कर जायेंगी, ठीक कहती हूं न मैं चन्दनिया?'

'ठीक है, पर क्या इत्ती जल्दी चली जायेंगी, कुछ दिन ठहरेंगी नहीं?'

'हां ठहरेंगी, पर कलकत्ते में आप बड़ी डाक्टरनी हैं, वहाँ बहुत काम संभालना होता है, आखिर कित्ते दिन रह सकती हैं।' शारदा ने इस बार मेहरी की तरफ़ बर्तन सरकाते हुए कहा।

'हां, तब तो मुश्किल ही है।' मनीषी को लगा, ये औरतें उसके काम के बारे में कितना कुछ जानती हैं। कभी छुट्टी अथवा आने-जाने के बारे में न पूछकर उल्टे इस तरह की टिप्पणी देने लगना उसे अखरा। मुस्कराने या प्रत्युत्तर में कुछ कहने का प्रश्न ही नहीं था। चन्दनिया बर्तन उठाकर चली गयी तो शारदा बोली:

'माशी, ये आपको मनि-मनि कहते रहते हैं, आपके सामने भी और आपके पीछे भी, मुझे तो बड़ी शरम आती है, यह तुम्हारा नाम है, या क्या है ? चन्दनिया सुनकर क्या कहेगी ?' मैं तो इन्हें आज ही टोकूंगी।'

मनीषी उठकर हाथ धोने जा रही थी, शारदा की बात सुनी तो कुर्सी पर चिपकी बैठी रह गयी, चेहरे पर जैसे कालिख पुत गयी हो, कुछ कहना ज़रूरी था, बोली, 'पूछ लेना, मैंने तो इस पर कभी ध्यान ही नहीं दिया। सुपर्णा दी के सामने से ही कहते आ रहे हैं।'

'अजी यह भी कोई बात है, अपने बड़ों को बच्चे की तरह पुकार रहे हैं, मुझे तो कल रात भी इसलिए बुरा लगा था।' शारदा कहती चली जा रही थी, मनीषी समझ नहीं पा रही थी, क्या कहे। मुंह दर मुंह बैठकर इस सबको कैसे सहन करे ? वह कहां जानती थी, कि उस छोटी-सी बात की तह में कोई कंकड़ कितनी गहराई से घुसा बैठा है। एक नन्हा-सा सम्बोधन जो अब उसकी ज़िन्दगी का एक अंग बन गया है, वह किसी के लिए कितना ज़हरीला हो सकता है, इसका आभास उसे आज हुआ। पर प्रत्युत्तर में वह क्या कहे ? सब कुछ छिन जाने पर भी कल्पना के जिस झीने आवरण को वह अब तक ओढ़े बैठी थी, उसको भी जब तार-तार करके नोचकर फेंक दिया जाये तो व्यक्ति अपनी नग्नता कैसे छिपाये। शारदा कितनी दबंग मुंहफट्ट है, किसी प्रकार का संकोच-शालीनता कुछ नहीं, शायद उसके पास कुछ भी गोपनीय नहीं है। पर उसके अपने पास भी अब आच्छाद्य क्या रहा है ? सुकेत पर उसे झुंझलाहट आयी, ज़्यादा बनते हैं सगे, कुछ भी समझ नहीं है। जो चाहे कहकर पुकार रहे हैं, सब तुम्हारी तरह तो नहीं सोच सकते।

मनीषी कुर्सी पर अब भी जड़ बनी बैठी थी। शारदा रसोई में जाकर चीज़ें मंगवाकर फिर कमरे में ही लौट आयी, मनीषी को ज्यों का त्यों बैठा देखकर उसे आश्चर्य नहीं हुआ। वह जिस स्थल पर चोट करना चाहती थी, उस स्थल पर चोट की जा चुकी थी, और अब वह बड़े ठसके से अपने पलंग पर तकिये पर रखी हुई कोहनी पर सिर टिकाकर लेटी हुई चोट की प्रतिक्रिया देखने के लिए उत्सुक थी। मनीषी उसके सामने और नग्न नहीं

होना चाहती थी चोट खाकर अपने प्रतिद्वन्द्वी के सामने सीधे तनकर बैठने का साहस भी उसमें अब नहीं था; वह उठकर अपने कमरे में चली आयी, उठते हुए बड़े संयत स्वर में बोली :

'तुम आराम करो शारदा, मैं भी थोड़ा लेटती हूं।'

'हां, हां,' शारदा ने थोड़ा उठंगा-सा होते हुए कहा और फिर सीधी लेट गयी।

मनीषी के कमरे से निकल जाने पर शारदा एक दफे खी-खी कर हंसी, जैसे क्लास में किसी लड़की के नीचे से कुर्सी खिसका लेने के कारण उसके गिर जाने पर दूसरी लड़कियां हंसती हैं, ठीक उसी तरह। फिर उसे लगा, उसे इस तरह का व्यवहार नहीं करना चाहिए था। शायद वे ठीक ही कह रही हों कि बचपन से ही वे उन्हें ऐसे ही पुकारते आये हों। पर आखिर क्यों? यह भी कोई पुकारने का ढंग है। वो तो अच्छा है, मैंने कल रात ही दो-चार बातें सुना दीं, अब बेशक सुबह उठकर ही ऑफ़िस चले जायें या रात को भी न आयें, मेरी बला से! पर रात को आयेंगे क्यों नहीं? ज़रूर आयेंगे, उनकी मनि जो घर में हैं।

रात को कैसे देखने गये थे, 'बिस्तर ठीक है?' क्या ज़रूरत थी ये पूछने जाने की? औरतों के स्वागत का काम औरतों का होता है या आदमियों का? और फिर वे तो घर की ही कही जाती हैं, उनसे इतना पूछने-गछने की बात ही क्या थी। खुद दौड़ कर गये…। मेरे लिए मनि ये करती थीं, वह करती थीं, मेरे बिना खाना नहीं खाती थीं, मेरा इतना ध्यान रखती थीं—बेकार के बखान, बहुत देखी हैं ऐसी स्त्रियां, न कोई रिश्ता न सम्बन्ध, बस मनि हैं और माशी हैं। ऐसी फालतू औरतें बहुत होती हैं, जो इसी तरह बड़े-बड़े घरों में घुस जाती हैं और घर के लड़कों को फांसकर उनकी ज़मीन-जायदाद पर कब्ज़ा कर लेती हैं। मेरे रहते ये तमाशे-षड्यन्त्र नहीं चलेंगे। शारदा चुपचाप बैठी गुनगुनाती रही और फिर सो गयी।

इकतीस

मनीषी कमरे में आयी तो मस्तिष्क चकरघिन्नी-सा घूमने लगा। ज़रूर शारदा ने यह सब कुछ सुकेत से भी कहा होगा। यह सिर्फ़ बहलाने की बात थी, कि अब कहेगी-पूछेगी। रात क्या कम बड़ी थी। और फिर पलंग भी तो एक ही है—इतने पास होकर कही गयी बात भला उस तक कैसे आ सकती थी। मन में एक किचकिची-सी जगी, हृदय में कुछ मसला-सा, जैसे किसी दुखती रग पर कोई झपाटे से ठोकर मारता हुआ निकल जाये।

लगा, वह उठे, शारदा के सामने जाकर खुले दिल से सब कुछ स्वीकार ले—तुम जो कुछ सोचती हो, वह सच ही है। सुकेत के बिना वह नहीं रह सकती, उसी के ख़ातिर वह यहां इतनी दूर चल कर आयी है। पर नहीं, शारदा से उसे उस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना। एक नारी से उसके पति के साथ अपने लगाव की बात कहना—क्या शारदा बर्दाश्त कर पायेगी उस सबको? बेचारी शारदा कहां जानती है, कि इस प्रकार से हक जमाने से कुछ नहीं मिला करता, किसी का बच्चा पेट में रख लेने से ही वह व्यक्ति तुम्हारा नहीं हो जाता। मैं चाहूं तो सुकेत को अब भी अपना बना सकती हूं और बनाने का सवाल ही क्या है, सुकेत तो मेरा ही है—मनीषी की नसें अकड़ने लगीं, मुट्ठियां बंध गयीं, उंगलियां जैसे शारदा की गर्दन के मांस में धंसती चली जा रही हों— थोड़ा-सा दबाव और चाहिए और बस।

'क्या कर रही है तू!' एकाएकी किसी ने उसे धक्का मार कर हटा दिया। अकड़न समाप्त हो गया और वह फूट कर रो उठी। जैसे अभी-अभी किसी बड़े दौरे से उबरी हो। वह इतनी नीच कैसे बनी चली जा रही है? हर मामूली असहाय प्राणी अपने शत्रु की अपने विचारों में [illegible] इसी प्रकार हत्या कर डालता है सही, पर वह मामूली [illegible]— उसने तो बिना किसी सम्बन्ध-स्वार्थ के एक [illegible] अपनी लम्बी जिन्दगी घला दी है। और [illegible] व्यक्ति का अंश भी पल रहा है। पर [illegible]

मनीषी पर जैसे एक बार फिर दौरा पड़ा हो। वह तो एक मामूली इन्सान है, एक मामूली असहाय नारी—कहीं एक कहानी पढ़ी थी, कि एक यहूदी नारी अपने प्रेमी को उसकी दूसरी प्रेमिका से मिलवा कर खुद बीच से निकल गयी। 'लव इन रिनार्उन्सिग' ही उसका लक्ष्य था—कहानी ने तब उसे बहुत प्रभावित किया था। तब इस प्रकार की वेदना खुद झेलने की नौबत ही कहां आयी थी, सिद्धान्त और व्यवहार में संतुलन बैठाना उसके वश का नहीं है—नहीं चढ़ना उसे उतनी ऊंची-ऊंची सीढ़ियां और वह फिर बिसूर उठी। पैरों की उंगलियां चटख-सी गयीं, रीढ़ की हड्डी के जैसे दो टुकड़े हुए पड़े हों। आंखों से एक दूसरा बड़ा रेला फूट निकला, जैसे पानी की एक विशाल चादर उसके ऊपर से उतर चुकी हो और वह एक गीले भुरभुरे ढेले की तरह लुढ़की पड़ी हो, किसी भी क्षण फूट जाने के लिए।

शाम ढल चुकी थी। रसोई में से खटर-पटर की आवाज़ें फिर आने लगी थीं। अपनी जगह से उसका हिलने को भी मन नहीं था, फिर भी वह उठी। शारदा क्या सोचेगी कि मदद करने आयी हैं और हमेशा कमरे में ही धंसी रहती हैं! बाहर आयी तो शारदा देखते ही फिर चहकी :

'आइये माशी, मैंने तो आपको जानबूझ कर नहीं जगाया था, आपका सिरदर्द कैसा है अब ?'

मनीषी कहना चाहती थी, अब और बढ़ गया है फिर ज़ब्त कर गयी बोली, 'ठीक है, अब बिल्कुल ठीक है। सुकेत ऑफ़िस से लौट कर आये ?' कुछ पूछने की गरज़ से ही उसने पूछा। यह चेत उसे बाद में आया, कि वह सुकेत के सम्बन्ध में कुछ पूछने से स्वयं बचना चाहती थी। शारदा प्रत्युत्तर में कह रही थी :

'आये थे, पर अब फिर चले गये हैं। आपको जगा कर बाहर घुमाने ले जाना चाहते थे, मैंने ही मना कर दिया, सोचा सिर का दर्द और बढ़ जायेगा।'

उत्तर की चुभन को भुला कर मनीषी एक प्रश्न फिर कर बैठी, 'सुकेत कुछ खा कर गये हैं ?' पुरानी आदत।

देखो तो काम इतनी सफ़ाई से करती है, कि क्या हम-तुम करेंगे। मैंने यही सोचा, इतना काम करती है तो इसके पैसे तो वढ़ा ही देने चाहिए।'

'हां, नौकर-चाकरों को इसी तरह खुश रखा जाता है।' मनीषी ने समर्थन किया।

'यह सिफ़त भी हमें मां ने ही सिखायी है, नहीं तो हम भला क्या जानते थे। उन्हें नौकर-चाकरों को रखना खूब आता है, उनके यहां नौकर वरसों टिके रहते हैं···।'

'और रिश्तेदार, आये-गये एक दिन भी नहीं!' मनीषी का स्वर फिर वहकने को हुआ, पर उसने फिर कावू कर लिया, शारदा कहती रही, 'यह चन्दनिया भी जव से आयी है···।'

'शारदा, मेरे सिर में दर्द फिर हो गया है।' मनीषी इस वार खुद को इस रूप में ही प्रस्तुत कर सकी।

'आपको अपने सिरदर्द का इलाज ज़रूर करवाना चाहिए माशी! अवके यहां से जाओ तो किसी अच्छे डाक्टर से लग कर इलाज करवाना!'

'मैं तो खुद डॉक्टर हूं शारदा।' मनीषी ने मुस्करा कर कहा, जैसे वह शारदा को कोई भूली वात याद दिला रही हो, शारदा ने बिना हतप्रभ हुए वड़ी प्रौढ़ता से उत्तर दिया:

'पर कभी-कभी डॉक्टरों की वुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है खास कर अपने या अपनों के लिए, मैं तो घर के डॉक्टरों से सचमुच वहुत डरती हूं।'

'ओह!' मनीषी सहम गयी। अव कुछ भी सुनने के लिए नहीं रह गया था। उठ कर लौटने को हुई तो शारदा ने फिर टोका:

'वहुत दिनों से एक वात पूछना चाह रही थी माशी, अब आप आ गयी हैं, तो पूछ ही डालूं। इनसे पूछती हूं तो ये टालमटोल करते हैं, शायद इन्हें मालूम भी न हो···।'

'हुं, पूछो न!' मनीषी इस वार शारदा के बिना कहे ही एक मुजरिम की तरह स्टूल पर आकर वैठ गयी, उसका हृदय वहुत गहरे तक कांप उठा था।

शारदा सामने खड़ी-खड़ी ही कहती रही, 'पापा जी जो मकान बनवा गये हैं, वह तो इनके नाम होगा ही पर क्या कुछ कैश भी छोड़ गये हैं?

'शारदा···!!' मनीषी का सिर फटा जा रहा था। जी किया शारदा की ज़ुबान पकड़ कर खींच ले, पर अपना वाक्य पूरा किये बिना ही वह उठ कर अपने कमरे में आ गयी और सिर बांध कर लेट गयी।

आज शाम को मनीषी ने सुकेत से बाहर चलने के लिए खुद प्रस्तावित किया :

'सुकेत, आज कहीं बाहर चलें, दो-तीन दिन से घर में ही हूं।'

सुन कर सुकेत आह्लादित हुआ, कुछ आश्चर्यान्वित भी, बोला, 'मैं तं कल भी तुम्हें शहर का कुछ दिखाने के लिए ले जाना चाहता था, पत चला, तुम्हारें सिर में दर्द था; खैर, चलो, आज सही। अब तो तुम्हा सिर का दर्द ठीक है न!' यों ही उड़ते-उड़ते सुकेत ने पूछा और तैया होने लगा।

मनीषी प्रत्युत्तर में कुछ न कह कर स्वयं तैयार होने चली गयी। रास्ते में भी दोनों लगभग चुप ही रहे, कुछ भीड़-भाड़ थी, कुछ मन में उभरता गुबार—मनीषी ने नहीं पूछा, कि चलते समय सुकेत ने शारदा से साथ चलने के लिए कहा था या नहीं।

बत्तीस

पार्क में पहुंच कर मनीषी को लगा, वह अब ठिकाने पर आयी है। उसका सुकेत उसके पास है और अब वह अपने सन्ताप को खुल कर उसके सामने व्यक्त कर सकती है। एक दिन कलकत्ता में सुकेत उसे बोटेनिकल गार्डन ले गया था···।

सन्ध्या का धूमिल एकान्त और पार्क के इस कोने तक पहुंचती सामने से आ रही बारात के गैस के हण्डों का प्रकाश और तड़ातड़ बजते बैण्ड-बाजों का स्वर। सुकेत यों ही हल्के से उससे टिक कर बैठ गया तो मनीषी की उंगलियां सुकेत के बालों में रिंगने लगीं। फूलों की क्यारियों से सुगन्ध के झोंके उड़-उड़कर आ रहे थे।

शारदा ने सुकेत को उसके साथ आने की अनुमति कैसे दे दी? धन-सम्पत्ति पाने के आश्वासन के बाद शायद उसके लिए यह बहुत छोटी बात रह गयी हो या उसने सोचा होगा, एक दिन के लिए मुक्ति दे देने में हर्ज ही क्या है; शारदा दूरदर्शिनी है—मनीषी सोचने लगी। सुकेत की देह का सामीप्य उसे किसी दूसरे लोक में लिये जा रहा था। सूखी नदी, झाड़-झंखाड़ वाले किनारे, चिलचिलाती धूप—कैसे सहन कर पा रहा है सुकेत इस प्रकार की ज़िन्दगी—मन में कहीं एक कांटा-सा गड़ा।

'सुकेत, शारदा तुम्हें पसन्द तो है?' मन की आशंका शब्दों में उभर कर आ गयी तो उसे संकोच हुआ, वह यह क्या पूछ बैठी, क्यों पूछ बैठी!

सुकेत का उत्तर बहुत छोटा-सा था, 'तुम्हारी पसन्द को मैं गलत कैसे कह सकता हूं मनि!' यह उत्तर था या प्रश्न? मनीषी विचारने लगी। सुकेत मनीषी से थोड़ा हट कर सामने बैठ गया था, पैण्ट के पायंचों को सुधारता हुआ फिर बोला:

'मनि, तुम्हारी सन्तुष्टि मेरे लिए बड़ी चीज़ है।' फिर वही लिपटे से कुछ नपे-तुले शब्द। मनीषी के लिए फिर सब कुछ अस्पष्ट था। क्या यह उसी पर आक्षेप है या उसके सीधे प्रश्न से बच कर निकल जाने का एक प्रयत्न—वह समझ नहीं सकी। उस सम्बन्ध में सुकेत से कुछ और सुनने के लिए प्रतीक्षातुर वह चुपचाप बैठी रही।

'सन्तुष्टि सम्पर्क पर नहीं भावनाओं पर निर्भर करती है मनि!' सुकेत का पहेलीयुक्त एक दूसरा वाक्य। जो कुछ वह कहना-पूछना चाहती है, वह सीधे क्यों नहीं पूछती? व्यर्थ की कुरेदा-कुरेदी में क्यों लगी है—सुकेत का गठबन्धन खुद उसने किया है, उस सम्बन्ध में अब पूछने से लाभ! क्या अब वह अन्यथा घटने की बात भी सोच सकती है, कुछ दूसरी तरह? छिः! वह इतने नीचे क्यों गिरती चली जा रही है? डगर-मगर करती

मस्तिष्क की सुई को मनीषी ने चुटकी से थाम कर केन्द्र में कर लिया, फिर बोली, 'तुमने कभी शारदा से कहा, तुम मुझे कितना मानते रहे हो, मानते हो ?'

'यह भी कोई कहने-सुनने की बात है ! शारदा क्या वह सब कुछ नहीं जानती ?'

'जानती होगी पर···।' सब कुछ खुलासा कहने का अपना साहस उसे डोलता-सा लगा, वाक्य को पूरा वह नहीं ही कर सकी, सुकेत ने ही पूछा, 'क्यों पूछ रही हो तुम यह सब कुछ ?'

'यों ही पूछ रही थी। मेरे आने वाले दिन शारदा से कुछ मेरे सम्बन्ध में बात हुई थी?' पहली बात को टालने के लिए उसने प्रकारान्तर से दूसरा प्रश्न किया।

'हुई होगी।' सुकेत अंधेरे में कहीं दूर देख रहा था।

'क्यों, तुमने नहीं सुनी ?'

'मैं कुछ सुनने की जरूरत नहीं समझता। जो सुनता हूं वह भी ठीक से याद नहीं रहता।'

'ऐसा !' मनीषी ने फिर पूछा, 'शारदा मुझसे नाराज है क्या ?'

'क्यों, कैसी-कैसी बातें कर रही हो तुम, तुमसे उसने कुछ कहा ?'

'कहा, बहुत कुछ कहा।' इस बार मनीषी के मुंह से शब्द बलात् फिसल गये।

'क्या कहा ?'

मनीषी गम्भीर हो उठी, 'जानने के लिए तुम उत्सुक हो तो एक बात बताती हूं।' मनीषी ने बड़े साहस से शुरू किया, शारदा घर का अब तक के जमा-खर्च का सब हिसाब-किताब पूछ रही थी···।' कहने के बाद ही उसे लगा, उसने सचमुच साहस किया है, शारदा के सन्दर्भ में कितनी बड़ी बात कह दी है। भीतर-ही-भीतर वह कुछ सिहरी, पर सुकेत सामान्य था, सहज स्वर में ही पूछा :

'और क्या कहा ?' मनीषी मन ही मन संकुचित थी, कुछ डर भी रही थी, कि सुनते ही सुकेत बवल उठेगा, कहेगा—शारदा की इतनी हिम्मत ! या दुःखी होगा, सुबक कर कहेगा—मनि, देख रही हो, तुमने मेरी ज़िन्दगी

दूसरे के बीच आ-आकर कटते रहे।

'तुम नाराज़ हो मनि !' सुकेत ने ही फिर शुरू किया।

'नहीं, मैं नाराज़ नहीं हूं। नाराज़ क्यों होने लगी, सब ठीक ही है।'

'हां, व्यर्थ की उत्तेजना और भावुकता में बहने से कोई फ़ायदा नहीं। मैं तुम्हें चाहता हूं, शारदा को भी प्यार करता हूं, किसी को भी नाराज़ करने से मुझे क्या मिलेगा !'

'मैं तुमसे शारदा को नाराज़ करने की बात कह रही हूं ?' मनीषी में से एक लौ फिर भभकी।

'तुम मुझसे कुछ नहीं कह रही हो मुसीबत यही है, जो कह रही हो या कहना चाहती हो, वह मेरी समझ से बाहर है। बाइ द वे हम लोग कितनी देर यहां और बैठेंगे, आख़िर हम लोग कुछ घूमने देखने निकले थे···?' अपनत्व के साथ-साथ सुकेत के स्वर में एक कटाव भी था, व्यावहारिक-व्यावसायिक ध्वनि प्रस्तुत करते हुए, शब्दों के कुछ टुकड़े।

मनीषी का मन किया कहे, सुकेत तुम क्या सब कुछ भूल गये हो, बीता हुआ कल-परसों सब कुछ···? पर उसे लगा, सुकेत क्या सोचेगा और फिर वह सुकेत तो वहां है ही नहीं, जिससे उसे सब कुछ कहना था। वह उठ कर खड़ी हो गई, बोली :

'मुझे कुछ देखना-भालना नहीं, चलो घर चलते हैं।' सुकेत भी उठा, मनीषी के उत्तर की ओर उसने जैसे ध्यान ही न दिया हो, वह कहता रहा :

'मैं तुमसे फिर कहता हूं मनि, डोन्ट बी सेन्टिमेन्टल। मैं भी तुम्हारी तरह पहले बहुत सेन्टिमेन्टल था, यू नो इट, व्यर्थ की भावुकता से दबा हुआ।' सुकेत ने मनीषी के कन्धे को थपथपाया, तो सुकेत को सब कुछ याद है ? नॉर्मल आदमी मैं अब बना हूं, अपनी 'एज' का आदमी। सुकेत समझा रहा था। मनीषी साड़ी की पटलियों को हल्के से थामे हुए, पार्क में खिची नियोन रॉड के प्रकाश में सुकेत के पीछे-पीछे फूलों की क्यारियों को बचा-बचा कर चल रही थी।

'तुम भी व्यर्थ ही तपती-तचती रहती हो !' सुकेत ने फिर आरम्भ किया, 'मेरा यही कहना है, अपने को संभालो, इस रुलने-झुलसने, भावुकता के बहाव में बहते रहने में कुछ नहीं रखा है। सबको समझना, सबसे प्यार

करना सीखो। तुम्हें मैं पूरी तरह जानता हूं, इसीलिए यह सब कह रहा हूं। तुम बुरा तो नहीं मान रहीं ?' शब्दों के बीच अटकते हुए सुकेत ने पूछा। मनीषी को सहसा ही डायरी याद हो आयी, डायरी की पंक्तियां। पंक्तियों का सुकेत। सुकेत ? शायद वह उस समय भी इसी तरह सोचता था —

मनीषी और मनीषी को लेकर लिखी गयी वे पंक्तियां···?

'···कैसे समझाया जाये, कि आज की हर बात और हर चीज़ को एक 'व्यतीत' बन कर रह जाना है 'व्यतीत' जिसके सम्बन्ध में हम सिर्फ़ याद कर सकें।'

पर आज क्यों सोच रही है वह उतना कुछ। आंखें नम हो उठी थीं, मन किया, सुकेत के कन्धे पर सिर रख कर रो उठे, कहे, सुकेत, यह सब बहुत देर से समझी हूं मैं, पर सुकेत आगे बढ़ गया था।